लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[चतुर्थ भाग]

(समास-प्रकरण)

भीमसेन शास्त्री

भैमी प्रकाशन

लघुसिद्धान्तकौमुदी

भैमीव्याख्या

[चतुर्थ भाग]

(समास-प्रकरण)
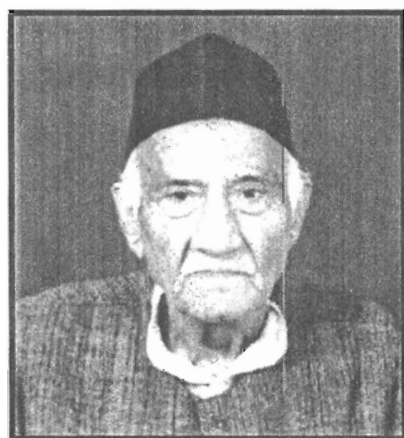
भीमसेन शास्त्री
एम०ए०, पी-एच०डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन
537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-110006

व्याकरण-प्रशस्तिः

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥१॥

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानाम् अधिविद्यं प्रकाशते ॥२॥

इदमाद्यम्पदस्थानं सिद्धि-सोपान-पर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानाम् अजिह्मा राजपद्धतिः ॥३॥

यदेकं प्रक्रियाभेदै- र्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परम्ब्रह्माधिगम्यते ॥४॥

(वाक्यपदीयतः)

भैमीव्याख्योपेताया

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

समासप्रकरणस्य विषय-सूची

व्याकरण-प्रशस्तिः ... ... [३]

प्राक्कथन ... ... [५]—[७]

आत्मनिवेदनम् ... ... [८]—[१२]

समासप्रकरणम्

(१) केवलसमासप्रकरणम् ... ... (१—१७)

(२) अव्ययीभावसमासप्रकरणम् ... ... (१७—५९)

(३) तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ... ... (५९—१८३)

(४) बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ... ... (१८३—२२९)

(५) द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ... ... (२३०—२४५)

(६) समासान्तप्रकरणम् ... ... (२४५—२५६)

परिशिष्टेषु

(१) विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला ... ... (२५७—२५८)

(२) समासप्रकरणान्तर्गताष्टाध्यायीसूत्रतालिका ... (२५९—२६१)

(३) समासप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका ... (२६१—२६३)

(४) समासोदाहरणतालिका ... ... (२६३—२८०)

(५) विशेषद्रष्टव्यस्थलतालिका ... ... (२८०—२८२)

(६) अष्टाध्यायीसूत्रपाठे समासप्रकरणम् ... (२८२—२८३)

(७) समासप्रकरणगतसमासान्ततालिका (२८४)

——:०:——

प्राक्कथन

आज के संस्कृतव्याकरण के विद्वानों में वैद्य भीमसेन शास्त्री जी का मूर्धन्य स्थान है। पाणिनीयव्याकरण वाङ्मय को इन्होंने अपनी अनेक श्रेष्ठ कृतियों से समृद्ध किया है। इन कृतियों के माध्यम से इन का पाणिनीय व्याकरण का तलस्पर्शी ज्ञान मुखरित हो उठा है। इन कृतियों में विशेष उल्लेखनीय है लघुसिद्धान्तकौमुदी पर इन की अत्यन्त विस्तृत तथा विशद भैमी नाम की व्याख्या, जिस के तीन खण्ड अब तक प्रकाशित हो चुके हैं तथा चौथा प्रकाशित होने जा रहा है। इस चौथे खण्ड में लघु-सिद्धान्तकौमुदीस्थ समासप्रकरण की व्याख्या की गई है।

समास का लक्षण संस्कृतवैयाकरणों ने सामान्यतः इस प्रकार किया है—

विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते ।
पदानां चैकपद्यं च समासः सोऽभिधीयते ॥

जहां विभक्ति का लोप हो जाता है पर उस का अर्थ प्रतीत होता रहता है, और जहां अनेक पद मिल कर एक पद के रूप में परिणत हो जाते हैं उसे समास कहा जाता है। समास शब्द का अक्षरार्थ है समसनम्—एक साथ या पास पास रखना। मुख्य तत्त्व समास में यही होता है। इस के आगे जो होता है वह इसी से ही प्रभावित एवं प्रेरित होता है। इस तत्त्व का महत्त्व न केवल संस्कृत में ही, अङ्ग्रेज़ी में भी दिया गया है। अङ्ग्रेज़ी के कम्पाउण्ड (Compound) शब्द का भी यही अर्थ है। यह शब्द लातिन-भाषा के कॉम् पोनेरे शब्द से बना है। कॉम् शब्द संस्कृत के सम् शब्द का समानान्तर शब्द है। तालव्यीकरण सिद्धान्त के अनुसार जहां पाश्चात्यभाषाओं में कण्ठ्य ध्वनि होती है वहां भारतीय भाषाओं में तालव्य ध्वनि का प्रयोग होता है। कॉम् का अर्थ वही है जो सम् का अर्थात् एक साथ, पास पास। पोनेरे का अर्थ होता है असनम्, रखना। दोनों ही शब्द, समास तथा कम्पाउण्ड, एक ही प्रकार के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जब दो या दो से अधिक शब्द पास पास रख दिये जाते हैं तो संस्कृत-भाषा के सन्दर्भ में पहला परिवर्त्तन उस में यह आता है कि वे अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठते हैं। जिस विभक्ति के कारण वे पद बने थे उसी का लोप हो जाता है। भिन्न भिन्न पदों के एक साथ मिल जाने पर उन के अपने अपने पदत्व के स्थान पर उन सभी का एक अलग ही पद के रूप में उदय होता है। समस्यमान पदों की अपनी अपनी विभक्तियों, जिन्हें अन्तर्वर्तिनी विभक्तियां कहा जाता है क्योंकि वे समस्त पद के बीच बीच में पड़ती हैं, के लोप हो जाने से समास में कुछ संक्षिप्तता भी आ जाती है। समास शब्द का एक अर्थ संक्षेप भी है। 'शिवः केशवः' इस के स्थान पर जब 'शिवकेशवौ' कहा जाता है तो इतना तो स्पष्ट ही है कि यहां दो विभक्तियों का

प्रयोग न हो कर एक विभक्ति का प्रयोग हुआ है । कदाचित् यह संक्षेप की भावना ही समस्त पदों के प्रयोग में प्रयोजिका है । लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है—**संक्षेपरुचिर्हि लोकः ।** बहुव्रीहि आदि किन्हीं समासों में अन्य पद, समस्यमान पदों से अतिरिक्त पद, का अर्थ भी समाया रहता है । संक्षेप को देखा जाये तो इस से बढ़ कर संक्षेप और क्या हो सकता है ? समास में जहां 'पीताम्बरः' एक से काम चल जाता है वहां समास न रहने पर 'पीतानि अम्बराणि यस्य' इतना कहने की आवश्यकता पड़ती है । इस तरह कह सकते हुए भी कौन भला इतने अधिक शब्दों का प्रयोग करना चाहेगा ? इसी-प्रकार 'घनश्यामः' के स्थान पर कौन 'घन इव श्यामः' कहना चाहेगा या 'यथाशक्ति' के स्थान पर 'शक्तिमनतिक्रम्य' कहना चाहेगा ?

द्वन्द्वादि समासों में कतिपय वैयाकरणों का कथन है कि समस्यमान पदों में जहां मूल में एकवचन था, यथा 'शिवः (च) केशवः (च)', 'रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्च'—वहां द्विवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग होता है—शिवकेशवौ, राम-लक्ष्मणभरत-शत्रुघ्नाः । तो संक्षेप किस तरह हुआ ? उन के समक्ष निवेदन है कि वे विभक्ति और वचन में अन्तर कर के देखें । विभक्तिप्रत्यय तो वहां एक ही रहता है—औ अथवा जस् । बार बार औ का या बार बार जस् का प्रयोग तो नहीं होता । प्रत्यय 'सु' है अथवा 'औ', इस से केवल संख्या का ही अन्तर होगा । प्रत्ययत्व की दृष्टि से तो अनेकत्व और एकत्व में अन्तर रहेगा । 'शिवः केशवः' में दो विभक्ति प्रत्यय हैं, 'शिवकेशवौ' में एक है । यही संक्षेप है ।[1]

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि अलुक् समास में जहां अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् (लोप) होता ही नहीं वहां कैसा संक्षेप और फिर वहां समासत्व का प्रयोजन ही क्या ? समास होने पर 'वागर्थाविव' एक पद होगा, समास न होने पर वागर्थौ और इव ये दो पद होंगे । इसीप्रकार समास होने पर 'युधिष्ठिरः' एक पद होगा, समास न होने पर 'युधि स्थिरः' दो पद होंगे । किञ्च समास होने पर, इस का विशेष उपयोग वैदिक भाषा में ही है, पूरे समास में एक स्वर होगा अर्थात् पूरे समस्त पद का केवल एक ही अच् उदात्त, शेष भाग उस का सामान्यतया सब का सब **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) इस नियम के अनुसार निघात (अनुदात्त) होगा । समास न होने पर प्रत्येक पद पर अपना-अपना अलग अलग स्वर (उदात्त) होगा । इसी कारण समास के प्रयोजनों में कहा गया है—**ऐकपद्यमैकस्वर्यञ्च ।**[2]

---

१. द्वन्द्वावस्था में 'च' का प्रयोग करना नहीं पड़ता, यह भी एक तरह का संक्षेप ही है । यथा—'शिवश्च केशवश्च' का द्वन्द्व करने पर 'शिवकेशवौ' बनता है, 'च' का प्रयोग नहीं करना पड़ता । (सम्पादक)

२. अलुक् को भी समास मानने से उस के एकपदत्व के कारण तद्धितोत्पत्ति में आदि अच् को वृद्धि सुलभ हो जाती है । यथा—स्तोकान्मुक्तस्यापत्यं स्तौकान्मुक्तिः, युधिष्ठिरस्येदं यौधिष्ठिरं राज्यम्—इत्यादियों में आदिवृद्धि एकपदत्व के कारण होती है । विशेष जिज्ञासु इस ग्रन्थ के पृष्ठ (८०) का अवलोकन करें । (सम्पादक)

यद्यपि किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त समास करने या न करने का विकल्प है, **विभाषा** (२.१.११) के द्वारा विकल्प का अधिकार प्रायः समस्त समास-प्रकरण पर है, तो भी, जैसाकि पहले कहा गया है, लोक में संक्षेपहेतु समास की ओर प्रवृत्ति सहज होने से भाषा में समास का प्रचुर प्रयोग मिलता है। एक युग तो ऐसा आया था जिस में समासबहुल रचना पाण्डित्य का निकष मानी जाने लगी थी। अनेक पङ्क्तियों तक के सुदीर्घ समासों से विभूषित रचनायें विद्वत्समाज के मनोविनोद का साधन बन गईं थीं। संस्कृतवाङ्मय समस्त पदों से भरा होने के कारण यह आवश्यक नहीं था कि पाणिनीयव्याकरण के समासों के नियमों के उदाहरण प्राचीन टीकाग्रन्थों तक ही सीमित रखे जायें। अन्यान्य ग्रन्थों, जिन का पठन-पाठन विशेषरूप से प्रचलित है, से भी उन्हें दिया जा सकता है ताकि वे वे नियम अधिक सुचारुरूप से सुग्राह्य हो सकें। यही वैद्य भीमसेन शास्त्री जी ने अपनी व्याख्या में किया है। सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण की ओर भी उन का यही प्रयास रहा है। एतदर्थ महाभाष्य, काशिका, शेखर आदियों से उन्होंने यथास्थान पर्याप्त सहायता ली है। सूत्रार्थ को सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में दिखाने का उन का प्रयत्न रहा है। जिस में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। उन की भैमीव्याख्या लघुसिद्धान्तकौमुदी पर अद्यावधि उपलब्ध सभी व्याख्याओं से अधिक विस्तृत, स्पष्ट एवं परिपूर्ण है जिस के लिये वे अनेकानेक साधुवादों के पात्र हैं। सारा जीवन इन्होंने संस्कृतव्याकरण के अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसन्धान में बिताया है। संस्कृतविद्या को कभी भी इन्होंने जीविका के रूप में नहीं अपनाया। उस की अथक सेवा अवश्य की है एक कर्मयोगी की तरह। फलतः संस्कृतवाक् ने अपना समस्त स्वरूप उन के आगे प्रकट कर दिया है—**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे**। स्वयं उस स्वरूप को साक्षात् कर वे अन्य लोगों को भी उसे साक्षात् कराने में तत्पर हैं। यही तत्परता उन्हें भैमीव्याख्यासदृश आदर्शव्याख्या एवं **न्यासपर्यालोचन** सदृश मार्मिक समीक्षाग्रन्थों के प्रणयन में प्रवृत्त करती रही है। इसी तत्परता से ही संस्कृतजगत् को आशा है कि अनेक एतादृश ग्रन्थरत्न उसे उपलब्ध होंगे जो उस के ज्ञानवर्धन में सहायक होंगे और वाग्देवता के सूक्ष्म स्वरूप के आकलन में भी।

दिल्ली
१६.६.१९८८

(डा०) सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य, संस्कृतविभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
[भूतपूर्व कुलपति श्रीजगन्नाथ-
संस्कृतविश्वविद्यालय, पुरी (उड़ीसा)]

आत्मनिवेदनम्

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की भैमीव्याख्या का चिरप्रतीक्षित यह चतुर्थभाग (समास-प्रकरण) इस समय प्रकाशित हो रहा है। इसे तैयार करने में पर्याप्त काल लगा तथा सतत स्वाध्याय करना पड़ा। व्याकरण के दर्जनों ग्रन्थों का मन्थन कर यह निचोड़ जनता के हाथों में समर्पित करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इस भाग में भी भैमीव्याख्या के पूर्व भागों की तरह व्याख्याशैली अपनाई गई है। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, पदों का विभक्तिवचन, अनुवृत्ति-निर्देश, परिभाषादिजन्यवैशिष्ट्य तथा पदों से अर्थनिष्पत्ति करने के पश्चात् सूत्रगत प्रत्येक उदाहरण की ससूत्र विशद सिद्धि दर्शाई गई है। मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य नये उदाहरण भी विशालसंस्कृत-साहित्य से चुन चुन कर इस में गुम्फित किये गये हैं, जिस से सूत्रार्थ का विषय छात्रों के हृदयपटल पर सुचारुरूप से अङ्कित हो जाये। इन उदाहरणों के प्रयोगस्थल तथा उद्-धरणों के पते-ठिकाने देने का भी यथासम्भव प्रयास किया गया है। इस तरह कुल उदाहरणों की संख्या १२०० से भी अधिक तथा उद्धृतवचनों की संख्या दो-अढ़ाई सौ तक पहुँच गई है। भैमीव्याख्या के पूर्वमुद्रित तीन भागों के बाद यह विचार किया गया था कि समास, तद्धित और स्त्रीप्रत्यय इन तीन अवशिष्ट प्रकरणों की व्याख्या एक साथ प्रस्तुत कर इस चतुर्थ भाग में ही लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या समाप्त कर दी जाये। परन्तु इन तीनों की व्याख्या को एकत्र रखने में ग्रन्थ का कलेवर अत्यधिक बढ़ जाने के भय से यह विचार छोड़ कर इन का पृथक् पृथक् भागों में विभक्त करने का ही निर्णय लेना पड़ा। क्योंकि इस तरह परीक्षार्थी छात्रों को महती सुविधा रहेगी, जिस के पाठ्यक्रम में जो प्रकरण होगा वह उसे लेकर अध्ययन कर सकेगा उस पर अन्य भागों के खरीदने का अनावश्यक बोझ नही पड़ेगा। हां ! लघु-सिद्धान्त-कौमुदी का पूर्ण अध्ययन करने वालों को तो सब भाग लेने ही होंगे, उन को कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

समासप्रकरण सर्वाधिक अनेक परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में नियत है अतः इस की मांग बहुत अधिक होने से सर्वप्रथम इस की व्याख्या प्रकाशित की गई है। इस के बाद स्त्रीप्रत्ययप्रकरण (जो प्रायः मुद्रित हो चुका है) तथा तदनन्तर तद्धितप्रकरण निक-लेगा। बहुत चिर से भारत के कोने कोने से छात्रों के शतशः पत्र आ रहे थे कि समास-प्रकरण की आप इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करें जिस में सारा विषय खूब खोल कर बारीकी से समझाया गया हो, किसी बात को छोड़ा न गया हो। इस मांग के कारण पहले से विस्तृत लिखे गये भी समासप्रकरण को और अधिक विस्तार से सम-झाने का प्रयास किया है। जगह-जगह विद्यार्थियों के मन में उठने वाली शङ्काओं का समाधान प्रस्तुत किया है। जहां-जहां सूत्रों के उदाहरण सूत्रकार ने नहीं दिये व्याख्या में वे सब देकर सूत्रों द्वारा उन की सिद्धि भी दर्शाई गई है। इस व्याख्या की व्यापकता

का अनुमान इसी से ही लगाया जा सकता है कि अकेले अव्ययं विभक्ति-समीप० (६०८) सूत्र की व्याख्या २४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। कुगतिप्रादयः (६४६) सूत्र का विवरण लगभग बारह पृष्ठों में दिया गया है। इस व्याख्या में प्रत्येक उदाहरण के लौकिक एवम् अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह दर्शाते हुए हिन्दी में अर्थ देने का भी पूरा पूरा प्रयत्न किया गया है। कई जगह अर्थ की पुष्टि में अनेक टिप्पण भी दिये गये हैं। यथा—राजदन्तः, निस्त्रिंशः, कच्छपी आदि शब्दों पर टिप्पणियां देखी जा सकती हैं।

समासप्रकरण में अनेक स्थल विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। विद्यार्थी इन स्थलों का रहस्य समझने को उत्सुक रहते हैं। परन्तु प्रायः व्याख्याकार (और अनेक अध्यापकगण भी) इन स्थलों को छूते तक नहीं, अथवा छूते भी हैं तो केवल अक्षरार्थमात्र कर के आगे चल देते हैं। विद्यार्थी बेचारे देखते ही रह जाते हैं, उन के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। निदर्शनार्थ इन स्थलों को देखिये—

(१) समर्थः पदविधिः (६०४) का आशय और प्रयोजन।
(२) परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः (पृष्ठ ६)।
(३) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च (वा० ५३)।
(४) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः (पृष्ठ-१५०)।
(५) अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् (पृष्ठ १४६)।
(६) स्तोकान्तिकदूरार्थ० (६२६) सूत्र की उपयोगिता।
(७) द्विगुप्राप्ताऽऽपन्नाऽलंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः (वा० ६३)।
(८) प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया (६६३) में अत्व अन्तादेश।
(९) सामान्ये नपुंसकम् (वा० ६४)।
(१०) अत एव ज्ञापकात् समासः (पृष्ठ १७४)।
(११) अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् (पृष्ठ १५६)।
(१२) परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः (पृष्ठ २६०)।
(१३) स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्० (६६६)।
(१४) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् (वा० ५६)।

आप इन स्थलों की व्याख्या इस ग्रन्थ में देख कर पूर्णतया सन्तुष्ट एवं संशयरहित हो जायेंगे। आप का ऐसा सन्तोष लघुकौमुदी की किसी दूसरी व्याख्या में नहीं मिलेगा। कई स्थानों पर तो आप को बालमनोरमा आदि संस्कृतटीकाओं से भी अधिक सामग्री और सन्तोष इस में प्राप्त होगा। इस व्याख्या में व्याख्येयस्थलों के विवरण में कहीं पर भी संकोच वा संक्षेप से काम नहीं लिया गया, सब जगह खूब खोल कर अनेक उदाहरणों को दर्शाते हुए व्याख्या लिखी गई है ताकि विद्यार्थियों को

प्रतिपाद्य विषय हृदयङ्गम हो जाये। निदर्शनार्थ अकेले केवलसमास (मूलग्रन्थ में एक पृष्ठ) की व्याख्या ही १६ पृष्ठों में समाप्त की गई है। **कुगतिप्रादयः** (९४९) सूत्र को अच्छी तरह समझाने के लिये १६ पृष्ठों का उपयोग किया गया है। **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) की व्याख्या दो पृष्ठों में विविध उदाहरण दे कर प्रस्तुत की गई है। यही अवस्था **स्त्रियाः पुंवद्०** (९६९) आदि अन्य स्थलों की है। अन्य व्याख्याओ में जहां आप को एक-आध उदाहरण मिलेगा, वहां इस व्याख्या में उदाहरणों की झड़ी मिलेगी। शाकपार्थिवादि के १६ उदाहरण, कुगतिप्रादिसमास के ९० उदाहरण, पञ्चमीतत्पुरुष के १२ उदाहरण, षष्ठीतत्पुरुष के २५ उदाहरण, नञ्तत्पुरुष के २५ उदाहरण, उपपदसमास के १५ उदाहरण, सुँप्सुँपासमास के २० उदाहरण, योग-विभागजसमासों के २६ उदाहरण, उरःप्रभृत्यन्त बहुव्रीहि के १० उदाहरण, शरत्प्र-भृत्यन्त अव्ययीभाव के १० उदाहरण इत्यादिप्रकारेण उदाहरणों को देखकर आप को आश्चर्य होगा। उदाहरणबहुलता के साथ साथ कई साहित्यिक प्रयोगस्थलों का भी निर्देश कर व्याकरण के माध्यम से काव्यरसास्वादन की भी अनुभूति कराई गई है।

व्याकरण पढ़ कर भी विद्यार्थी प्रायः अशुद्धियों को पकड़ नहीं पाते। इस ओर इस व्याख्या में शुरू से ही ध्यान दिया गया है। स्थान स्थान पर अभ्यासों में शुद्धाशुद्ध प्रयोग दिये गये हैं। इस तरह विद्यार्थियों की सूक्ष्मेक्षिका को जागृत करने का प्रयास किया गया है। अन्तिम अभ्यास में स्वनिर्मित पद्यों में समासान्त-प्रकरण की ३० अशुद्धियों की ओर छात्रों को विशेष आकृष्ट किया गया है। संक्षेप में—कोई-सा प्रकरण, सूत्र अथवा उदाहरण ले कर इस व्याख्या का अवलोकन करें, आप को अतीव आत्मसन्तोष प्राप्त होगा और आप स्वयम् अनुभव करेंगे कि इस व्याख्या ने पाठकों के ज्ञान में कई प्रकार से वृद्धि की है। मेरे विचार में समासप्रकरण पर ऐसा यत्न पहली बार ही प्रकाशित हो रहा है।

इस भाग में भी पूर्वभागों की तरह बीच बीच में बड़े यत्न से अभ्यास संकलित किये गये हैं। इन में लगभग एक सौ प्रश्न पूछे गये हैं। यदि विद्यार्थी इन प्रश्नों को ठीक ढंग से हल कर लें तो उन के मार्ग में कोई भी बाधा नहीं आ सकती, सारा विषय हस्तामलकवत् सुगृहीत रहेगा। कई आलोचकों का तो यहां तक कहना है कि इन अभ्यासों को हल करने के बाद **सिद्धान्तकौमुदी या काशिका** का समासप्रकरण भी विद्यार्थियों को अनायास हस्तगत हो सकेगा। अतः व्याख्या केवल लघुकौमुदी के पाठकों के लिये ही नहीं अपितु **सिद्धान्तकौमुदी** आदि में समासप्रकरण का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिये भी एक समान उपयोगी है।

संक्षेपरुचि लघुकौमुदीकार ने उपयोगी भी कई सूत्र और वार्त्तिक छोड़ दिये हैं। समग्र लघुकौमुदी पढ़ लेने पर भी विद्यार्थियों को 'सभार्यः, सपुत्रः, उष्ट्रमुखः, आजन्म, द्वित्राः, दक्षिणपूर्वा, आतपशुष्कः, महात्मा, पारेगङ्गम्' आदि में समासविधायक सूत्र का पता नहीं चलता। इन सब के लिये मैंने अत्युपयोगी ऐसे पचास-साठ सूत्र

और वार्त्तिक छांट कर उन की भी सोदाहरण व्याख्या यहां उपस्थित कर दी है। परन्तु इस में इतना ध्यान ज़रूर रखा है कि विद्यार्थियों की बुद्धि पर अनावश्यक बोझ न पड़े, वे सहजभाव में ही सब कुछ ग्रहण कर लें। कई जगह मूलोक्त सूत्रों में अपनी ओर से अनेक उदाहरण-प्रत्युदाहरण तथा अन्यान्य उपयोगी सूचनाएं दे कर भी विषय को स्पष्ट से स्पष्टतर बनाने का पूरा प्रयास किया गया है। यथा—लघुकौमुदी के अध्येता को **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र का तो ज्ञान रहता है, वह ज्ञान के इस आधार पर द्वादश, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्, द्वाषष्टिः आदि को तो शुद्ध मानता है पर 'द्विचत्वारिंशत्, द्विपञ्चाशत्, द्विषष्टिः' आदि को अशुद्ध। इस कमी को दूर करने के लिये इस व्याख्या में **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) इस सूत्र और **प्राक्शतादिति वक्तव्यम्** (वा०) इस वार्त्तिक का भी यथा-स्थान उल्लेख कर दिया है जिस से उन का ज्ञान अधूरा न रहे। इसी प्रकार **त्रेस्त्रयः** (९६१) आदि में भी किया गया है।

लघुसिद्धान्तकौमुदी के वर्षों से चले आ रहे अशुद्ध पाठों की ओर भी इस व्याख्या में सतत जागरूकता बरती गई है। निदर्शनार्थ आप मुद्रित लघुसिद्धान्तकौमुदी के इस पाठ को देख सकते हैं—**'द्वितीया' 'तृतीया' इत्यादियोगविभागाद् अन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोजनवशात् समासो ज्ञेयः।** यहां एक तरफ तो 'द्वितीया' 'तृतीया' आदि योगविभागों का वर्णन है पर दूसरी तरफ द्वितीयादिसमासों की जगह तृतीयादिसमासों का निर्देश किया जा रहा है। भला 'द्वितीया' इस योगविभाग से तृतीयादि विभक्तियों का समास कैसे सम्भव हो सकेगा। अतः यहां **द्वितीयादि-विभक्तीनाम्** यह पाठ उचित है। इसी तरह अन्य भी अनेक भ्रष्ट पाठ हैं जिन की ओर इस व्याख्या में पूरा पूरा ध्यान दिया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में अनेक उपयोगी परिशिष्ट जोड़े गये हैं। इन में चतुर्थ परि-शिष्ट ग्रन्थगत सम्पूर्ण समास-उदाहरणों की वर्णानुक्रमणी का है। इस में बारह सौ से भी अधिक उदाहरणों की सूची दी गई है। प्रत्येक उदाहरण के साथ समास का नाम तथा उस की पृष्ठसंख्या भी दी गई है। व्युत्पन्न विद्यार्थी यदि इन समासों के विग्रह आदि का इस सूची के द्वारा अभ्यास करें तो समासप्रकरण में निश्चय ही निष्णात हो जायेंगे। अकारादिक्रम से सकलग्रन्थगत उदाहरणों की सूची यहां प्रथम बार ही मुद्रित हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में सब से अधिक योगदान तो मेरे विशाल निजी पुस्तका-लय का है, जिस में व्याकरण के शतशः दुर्लभ और सुलभ ग्रन्थ संगृहीत हैं। सच तो यह है कि यदि यह पुस्तकालय मेरे पास न होता तो निश्चय ही इस ग्रन्थ का प्रणयन न हो सका होता।

इस के बाद सब से अधिक सहायता मुझे गुरुजनों में विद्यावयोवृद्ध, ऋषिकल्प एवं पितृकल्प **श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री पाणिनीय** महोदयों से प्राप्त हुई है। पूज्य

शास्त्रीजी पाणिनीयव्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम चोटी के विद्वानों में एक थे। परन्तु मेरे दुर्भाग्य से उन का देहावसान (९.४.१९८७) इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व ही हो गया, वे इस का प्रकाशन न देख सके। काश ! यदि वे जीवित होते तो निश्चय ही उन का हर्ष सीमातीत होता।

श्रीमान् डा० सत्यव्रत जी शास्त्री प्रोफेसर दिल्ली विश्वविद्यालय (जो पूज्य चारुदेवजी शास्त्री के योग्य सुपुत्र हैं)—इन का भी मैं बहुत कृतज्ञ हूं। इन्होंने पुस्तक का आद्योपान्त समीक्षण कर अपने सुझावों तथा सम्मति से मेरे उत्साह को सदा संवर्धित किया है।

इस ग्रन्थ के प्रूफ़संशोधन में मैंने अथाह परिश्रम किया है। मेरे सुपुत्र अश्विनी शास्त्री का भी इस में पर्याप्त योगदान रहा है। परन्तु फिर भी मेरे वार्धक्यजनित दृष्टिदोष के कारण कहीं कहीं अशुद्धियां रह ही गई हैं (यथा—पृष्ठ १७४ पर 'अलम् + कुमारी ङे' के स्थान पर 'अलम् + कुमारि ङे' छप गया है)। आशा है पाठक अपने उदारभाव से इन्हें क्षमा करने की कृपा करेंगे। इन के संशोधन करने का पूरा पूरा प्रयास इसी संस्करण में ही कर रहे हैं।

अब जो कुछ बन सका है—पाठकों के सामने है। पाठक ही मेरे ग्रन्थों की सदा कसौटी रहे हैं और रहेंगे भी। इतना कह कर मैं विरत होता हूं—

सुरभारती का तुच्छ समुपासक
भीमसेन शास्त्री

शास्त्रि-सदनम्,
९/६४४२, मुकर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१
ज्येष्ठ (द्वितीय) कृष्ण अमावस्या, (सं० २०४५ वि०)
१४.६.१९८८ (ई०)

द्वितीय संस्करण के विषय में

कुछ वक्तव्य

इस संस्करण में पूर्वत: ज्ञात तथा विद्वान् पाठकों द्वारा सुझाई समस्त अशुद्धियों को पूर्णत: शुद्ध कर दिया गया है। मैने स्वयं भी इस ग्रन्थ का आदि से अन्त तक सूक्ष्म अवलोकन कर अनेक उपयोगी संशोधन प्रस्तुत किये हैं। इस संस्करण के कागज़,मुद्रण तथा जिल्द की साज-सज्जा में भी पर्याप्त सुधार किया गया है। इससे यह ग्रन्थ पूर्वापेक्षया बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक बन पड़ा है।

विनीत
भीमसेन शास्त्री

1,नवम्बर 1996

ॐ

श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[चतुर्थो भागः]

——:o:— —

हृदि सञ्चिन्त्य विश्वेशं प्रेरकं शुभकर्मणाम् ।
भैमीव्याख्याचतुर्थोऽशः साम्प्रतं तन्यते मया ॥१॥
आदावत्र समासानां तद्धितानां ततः परम् ।
अन्ते स्त्रीप्रत्ययानां च व्याख्या सम्यक् प्रकाश्यते ॥२॥
मामकीनं श्रमं नूनं वेत्स्यन्ति सुधियोऽमलाः ।
सर्वे मुदमवाप्स्यन्ति लेशलेशं न संशयः ॥३॥
पठने पाठने सक्ता अनुसन्धित्सवोऽपि च ।
व्याख्यामेतां समासाद्य प्राप्स्यन्त्यान्तरिकं सुखम् ॥४॥

——:o:——

अथ समास-प्रकरणम्

सन्धि और समास ये दो संस्कृतभाषारूपी दुर्ग की बाह्य परिखाएं हैं। विना इन को लाङ्घे किसी को भी संस्कृतभाषा की गरिमा ठीक तरह से विदित नहीं हो सकती। संस्कृतभाषा में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जो सन्धि और समास से रहित हो। सन्धि और समास भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में गिने जाते हैं। सन्धि का विस्तृत विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभाग के आरम्भ में किया जा चुका है। समासों के ज्ञान के लिये

पदों और उन की तत्तद्विभक्तियों का ज्ञान आवश्यक होता है अतः सुँबन्त-तिङन्तात्मक पदप्रकरण और विभक्त्यर्थप्रकरण के अनन्तर अब समासप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

[लघु०] समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसञ्ज्ञा-विनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभय-पदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः॥

अर्थः—संक्षेप या संक्षिप्तीकरण को समास कहते हैं। समास पाञ्च प्रकार का होता है। प्रथम—जिस समास की कोई विशेषसंज्ञा नहीं की जाती वह केवलसमास होता है। द्वितीय—जिस समास में पूर्वपद का अर्थ प्रायः प्रधान होता है उसे अव्ययी-भावसमास कहते हैं। तृतीय—जिस समास में उत्तरपद का अर्थ प्रायः प्रधान होता है उसे तत्पुरुषसमास कहते हैं। तत्पुरुषसमास का ही एक भेद कर्मधारयसमास और उस कर्मधारय का भी एक भेद द्विगुसमास होता है। चतुर्थ—जिस समास में समस्यमान पदों के अतिरिक्त किसी अन्यपद का अर्थ प्रायः प्रधान रहता है उसे बहुव्रीहिसमास कहते हैं। पञ्चम—जिस समास में दोनों पदों का अर्थ प्रायः प्रधान होता है उसे द्वन्द्व-समास कहते हैं।

व्याख्या—समसनं समासः। सम्पूर्वक **असुँ क्षेपणे** (दिवा० परस्मै०) धातु से भाव में घञ् (अ) प्रत्यय कर घञ् के ञित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधा-वृद्धि करने पर 'समास' शब्द निष्पन्न होता है। संक्षेप, संक्षिप्तीकरण या मिलाने को समास कहते हैं। यह शब्द व्याकरण में योगरूढ या पारिभाषिक माना गया है। अतः प्रत्येक संक्षेप को समास नहीं कहते, अपितु जब दो या दो से अधिक पद मिल कर एक पद हो जाते हैं तो उसे समास कहते हैं। समास हो जाने पर उन समस्यमान पदों की प्रायः अपनी-अपनी विभक्तियां लुप्त हो जाती हैं (परन्तु उन का अर्थ तो रहता ही है)। पुनः नये सिरे से समास को एक शब्द या प्रातिपदिक मान कर नई विभक्ति आती है। तब वह समूचा नया पद बन जाता है[1]। स्वरप्रक्रिया में तब उसे एकपद समझ कर ही स्वर लगाया जाता है[2]। समास का उदाहरण यथा—गङ्गायाः जलम्—गङ्गाजलम्। यहां 'गङ्गायाः' तथा 'जलम्' ये दो पद मिल कर 'गङ्गाजलम्' यह एकपद बन गया है। इसी प्रकार—कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः, हरिणा त्रातः—हरित्रातः, चोराद् भयम्—चोरभयम् इत्यादियों में समास जानना चाहिये।[3]

---

१. **पदानां लुप्यते यत्र प्रायः स्वाः स्वाः विभक्तयः।**
पुनरेकपदीभावः समास उच्यते तदा॥

२. **समासस्य प्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यञ्च** (काशिका)।

३. इन समासों का प्रयोग अङ्ग्रेज़ीभाषा में भी बहुधा देखा जाता है। यथा—inside,

यह समास पाञ्च प्रकार का होता है—

(१) केवलसमास

जब समास तो किया जाता है परन्तु उस की शास्त्र में कोई विशेष संज्ञा नहीं की गई होती तो उसे केवलसमास ही कहा जाता है। यह समास **सह सुँपा** (९०६) या इसके योगविभाग द्वारा ही सम्पन्न होता है। यथा—पूर्वं भूतो भूतपूर्वः। यहां **सह सुँपा** (९०६) से समास तो हुआ है परन्तु उस का कोई विशेष नाम नहीं रखा गया अतः यह केवलसमास ही कहा जायेगा। इसी समास का प्राचीन नाम सुँप्सुँपासमास है। यह नाम इस लिये रखा गया है कि इस में एक सुँबन्त दूसरे सुँबन्त के साथ विशेषनाम के बिना समास को प्राप्त होता है। इस समास के अन्य उदाहरण 'वागर्थाविव, नैकः' आदि आगे स्पष्ट किये जायेंगे।

(२) अव्ययीभावसमास

अव्ययीभाव एक अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसारी संज्ञा है। इस समास में प्रायः पूर्वपद अव्यय होता है और उत्तरपद अनव्यय, परन्तु समास होने पर समस्त पद अव्यय बन जाता है। अनव्ययम् अव्ययं भवति—अव्ययीभावः। अव्ययीभावसमास में प्रायः पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता होती है[1]। यथा—हरौ इति अधिहरि (हरि में)। यहां 'अधि' यह पूर्वपद है जो अधिकरण का द्योतक है, अतः 'अधिहरि' इस समस्त में भी अधिकरण की प्रधानता है। इसीप्रकार कृष्णस्य समीपम्—उपकृष्णम्, शक्तिमनतिक्रम्य—यथाशक्ति इत्यादियों में समझना चाहिये। यह समास **अव्ययीभावः** (९०७) सूत्र के अधिकार में विधान किया जाता है अतः इस का नाम अव्ययीभाव होता है।

(३) तत्पुरुषसमास

तत्पुरुषः (९२२) सूत्र के अधिकार में विहित समास 'तत्पुरुष' कहाता है। द्वितीयान्त से ले कर सप्तम्यन्त तक जिस जिस विभक्त्यन्त का उत्तरपद के साथ समास का विधान किया जाता है वह तत्पुरुषसमास उसी विभक्ति के नाम से व्यवहृत होता

---

underwood, lifelong, world-wide, after-life, rail-way, ear-ring, cooking-stove, looking-glass, bed-ridden, heart-rending, wood-cutter, man-eater, shoe-maker, grand-father, black-board, snow-white, mid-night, non-vegetarian, well-known, one-eyed, noble-minded, father-in-law, touch-me-not, narrow-minded, good-natured इत्यादि समासों के उदाहरण हैं।

१. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि कहीं कहीं इस से विपरीत भी पाया जाता है। यथा—उन्मत्तगङ्गम्, लोहितगङ्गम् इत्यादि अव्ययीभावसमासों में अन्यपदार्थ का प्राधान्य, एवम् 'शाकप्रति' (शाक का लेश) आदि में उत्तरपद का प्राधान्य देखा जाता है। इन सब का विवेचन काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

है[1]। यथा—'कष्टं श्रितः कष्टश्रितः' यहां द्वितीयातत्पुरुषसमास, 'हरिणा त्रातो हरित्रातः' यहां तृतीयातत्पुरुषसमास, 'भूताय बलिः भूतबलिः' यहां चतुर्थीतत्पुरुषसमास, 'चोराद् भयम् चोरभयम्' यहां पञ्चमीतत्पुरुषसमास, 'राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः' यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास तथा 'अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः' यहां सप्तमीतत्पुरुषसमास है।

इस समास में उत्तरपद के अर्थ की प्रायः प्रधानता होती है[2]। यथा—'राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः', यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में उत्तरपद 'पुरुषः' के अर्थ की ही प्रधानता है। यदि कहें कि 'राजपुरुषमानय' (राजपुरुष को लाओ) तो राजसम्बन्धी पुरुष का ही आनयनक्रिया में अन्वय होगा राजा का नहीं, वह तो पुरुष को ही केवल विशिष्ट करेगा। इसीप्रकार कष्टश्रितः, हरित्रातः, भूतबलिः आदियों में समझना चाहिये।

तत्पुरुषसमास का ही एक भेद होता है—कर्मधारयसमास। **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (९४०)। जब तत्पुरुषसमास में दोनों पद एक ही अधिकरण (वाच्य) को कहते हैं तो वहां कर्मधारयसमास होता है। यथा—नीलमुत्पलम्—नीलोत्पलम् (नीला कमल), शूरः पुरुषः—शूरपुरुषः (शूर पुरुष)।

इस कर्मधारयसमास में जब पूर्वपद संख्यावाचक होता है तो उसे द्विगुसमास कहते हैं—**संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१)। तत्पुरुष तथा कर्मधारय संज्ञाएं भी अक्षुण्ण रहती हैं। यथा—पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम्। इस के अन्य उदाहरण हैं—त्रिफला, त्रिलोकी आदि।

(४) बहुव्रीहि-समास

शेषो बहुव्रीहिः (९६५) के अधिकार में जिस समास का विधान किया जाता है उसे बहुव्रीहिसमास कहते हैं। इस समास में समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रायः प्रधानता होती है[3]। यथा—पीतानि अम्बराणि

---

१. **विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु।**
समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च॥
(कातन्त्र २९६)

२. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि कहीं कहीं इस से विपरीत भी पाया जाता है। यथा—मालामतिक्रान्तः—अतिमालः, यहां 'माला' यद्यपि उत्तरपद है तथापि इस के अर्थ का प्राधान्य नहीं है, पूर्वपद के अर्थ की ही प्रधानता है। इसीप्रकार 'अर्धपिप्पली, पूर्वकायः, निष्कौशाम्बिः' आदियों में समझना चाहिये।

३. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि कहीं कहीं इस का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (दो या तीन)। यहां पर दोनों पदों की प्रधानता देखी जाती है। इस प्रकार के बहुव्रीहिसमास के अन्य उदाहरण काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में देखने चाहियें।

(वस्त्राणि) यस्य स पीताम्बरः (पीले कपड़े हैं जिस के वह, अर्थात् श्रीकृष्ण आदि)। यहां 'पीत' और 'अम्बर' पदों से भिन्न अन्य पद के अर्थ की प्रधानता है। समस्यमान पद उस अन्य पद के केवल विशेषण बन कर रह गये हैं। अत एव कहा भी गया है—**सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः** (बहुव्रीहिसमास में सब पद उपसर्जन अर्थात् गौण होते हैं)।

(५) द्वन्द्व-समास

'च' के अर्थ में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) द्वारा द्वन्द्वसमास का विधान किया जाता है। द्वन्द्वसमास में दोनों (या दो से अधिक सब) पदों के अर्थों की प्रायः प्रधानता होती है[1]। यथा—हरिश्च हरश्च—हरिहरौ। यहां दोनों पदों के अर्थों का प्राधान्य होने से क्रिया में दोनों का ही अन्वय होता है। जैसे—**वन्दे हरिहरौ नित्यं भवपाशनिवृत्तये**—यहां 'वन्दे' क्रिया में हरि और हर दोनों पदों के अर्थों का कर्मत्वेन अन्वय होता है।

समासों के इन नामों पर एक रोचक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरपि च, गृहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्म धारय, येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

कोई निर्धन ब्राह्मण, राजा के दरबार में जा कर अपनी करुण गाथा का इस प्रकार वर्णन करता है—

हे राजन्! मैं द्वन्द्व हूँ—मैं अकेला नहीं बल्कि भार्या का भी मुझे भरण-पोषण करना पड़ता है। मैं द्विगु भी हूं—मेरे घर पर दो बैल भी हैं जिन को प्रतिदिन खिलाना पड़ता है। परन्तु मेरी दशा यह है कि मेरे पास निरन्तर अव्ययीभाव अर्थात् खर्च करने को फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसलिये हे पुरुष-श्रेष्ठ! तत् कर्म धारय—ऐसा काम करो जिस से मैं बहुव्रीहि- बहुत धनवाला हो जाऊँ ताकि मेरे पास खाने-पीने की कमी न रहे। इस श्लोक की यह विशेषता है कि इस में छहों समासों का नाम आ जाता है। यह श्लोक पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होता है। राजशेखर (दसवीं शती) की काव्यमीमांसा में भी इसे उद्धृत किया गया है।

अब सर्वप्रथम केवलसमास का निरूपण करने के लिये समास आदि पदसम्बन्धी कार्यों में उपयोगी समर्थपरिभाषा का अवतरण करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्— (९०४) **समर्थः पद-विधिः** ।२।१।१॥

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः॥

अर्थः—पदविधि अर्थात् पदों से सम्बन्ध रखने वाला कार्य समर्थ पदों के आश्रित जानना चाहिये।

---

१. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि समाहारद्वन्द्व में समाहार की ही प्रधानता होती है, दोनों पद गौण रहते हैं। यथा—दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम् (दान्तों और होठों का समाहार)। **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** इति वार्त्तिकेन वा पररूपत्वमत्र बोध्यम्।

व्याख्या—समर्थः ।१।१। पदविधिः ।१।१। विधीयत इति **विधिः** (कार्यम्)। विपूर्वक **डुधाञ् धारण-पोषणयोः** (जुहो० उभय०) धातु से कर्म में **उपसर्गे घोः किः** (८६२) सूत्रद्वारा 'कि' (इ) प्रत्यय कर आकार का लोप (४८९) करने से 'विधि' शब्द निष्पन्न होता है। विधान किये गये कार्य को विधि कहते हैं। पदानां विधिः—पदविधिः, सम्बन्धषष्ठीतत्पुरुषसमासः। 'समर्थः' पद यहां 'समर्थाश्रितः' के अर्थ में लाक्षणिक है। अर्थः—(पदविधिः) पदों से संबन्ध रखने वाला कार्य (समर्थः) समर्थ पदों के आश्रित होता है। यह परिभाषासूत्र है। जैसे कमरे में एक स्थान पर रखा हुआ दीपक सारे कमरे को प्रकाशित करता है वैसे परिभाषाओं की स्थिति हुआ करती है[1]। इस प्रस्तुत परिभाषा के कारण सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में जहां-कहीं पदसम्बन्धी कार्य कहा जायेगा वह कार्य समर्थ पदों के आश्रय पर ही होगा असमर्थ पदों के नहीं। आकाङ्क्षा आदि के वश परस्पर सम्बद्धार्थ होना ही पदों का सामर्थ्य है[2]। समास पदसम्बन्धी विधि (कार्य) है क्योंकि इस में एक सुँबन्त दूसरे सुँबन्त के साथ जुड़ता है अतः प्रकृत परिभाषाद्वारा यह समास समर्थ पदों के आश्रित होगा। यथा—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः (राजा का सेवक)। यहां दोनों पद समर्थ हैं, स्वस्वामिभावसम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हैं अतः यहां समास हो कर 'राजपुरुषः' ऐसा समस्त रूप बन जाता है। परन्तु 'भार्या **राज्ञः पुरुषो** देवदत्तस्य' (स्त्री राजा की है, पुरुष देवदत्त का है) यहां 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का समास नहीं होता, कारण कि ये दोनों पद परस्पर निरपेक्ष होने से असमर्थ

---

१. **परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्। तद्यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति**— (महाभाष्ये २.१.१)।

२. जब तक आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति न हो पदों का परस्पर सम्बन्ध नहीं बनता और न ही वे समर्थ कहला सकते हैं। यथा—'राज्ञः पुरुषः' ये पद परस्पर आकाङ्क्षा रखते हैं। केवल 'राज्ञः' कहने से आकाङ्क्षा रहती है कि राजा का क्या ? जब 'पुरुषः' कह देते हैं तो वह आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है। इसी तरह केवल 'पुरुषः' कहने पर भी आकाङ्क्षा बनी रहती है कि किस का पुरुष ? जब 'राज्ञः' कह दिया जाता है तो वह आकाङ्क्षा मिट जाती है। एवं 'राज्ञः' को 'पुरुषः' की और 'पुरुषः' को 'राज्ञः' की आकाङ्क्षा रहने से इन पदों में सामर्थ्य रहता है अतः इन का समास हो जाता है। जब तक पदों में परस्पर मिलने की योग्यता न हो वे असमर्थ रहते हैं। यथा—अग्निना सिञ्चति। ये असम्बद्ध पद हैं क्योंकि अग्नि में सिञ्चन की योग्यता नहीं पाई जाती। इसी प्रकार उचित आसत्ति (निकटता) न होने पर भी पदों में सामर्थ्य नहीं होता। यदि 'राज्ञः' पद अब कह दिया जाये और 'पुरुषः' पद तुरन्त बाद न कह कर अनुचित व्यवधान के बाद कहा जाये तो आसत्ति न रहने से इन में सामर्थ्य न रहेगा। इन का विस्तृत विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

है। 'राज्ञः' का सम्बन्ध 'भार्या' के साथ है न कि 'पुरुषः' के साथ, एवं 'पुरुषः' का सम्बन्ध 'देवदत्तस्य' के साथ है न कि 'राज्ञः' के साथ। इसी प्रकार—'पश्यति **कृष्णं श्रितो** देवदत्तो गुरुकुलम्' यहां पर 'कृष्णं श्रितः' में समास नहीं होता। 'वस्त्रमु**पगोर् अपत्यं** देवदत्तस्य' यहां 'उपगोरपत्यम्' में **तस्याऽपत्यम्** (१००४) द्वारा तद्धित अण् प्रत्यय न होने से 'औपगवः' नहीं बनता। ध्यान रहे कि तद्धितों की उत्पत्ति भी प्रायः सुँबन्तों से ही होती है अतः वे भी पदविधि होते हैं।

सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—व्यपेक्षाभावसामर्थ्य और एकार्थीभावसामर्थ्य। वाक्य में व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य होता है क्योंकि इस में पद परस्पर अपेक्षा रखा करते हैं। परन्तु समास में एकार्थीभाव (मिल कर एक अर्थ को कहना) रूप सामर्थ्य हुआ करता है। सम्बद्धार्थकों का जब एकार्थीभाव हो जाता है तो पुनः उस एकार्थीभूत अर्थ में पृथक्-पृथक् विशेषणों का योग नहीं हो पाता। यही कारण है कि एकार्थीभूत हुए 'राजपुरुषः' के 'राज्ञः' अंश के साथ 'ऋद्धस्य' आदि विशेषणों का योग हो कर 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' इत्यादि प्रयोग नहीं होते। कहा भी गया है—**सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न** (महाभाष्य २.१.१)।[1]

ध्यान रहे कि यह समर्थपरिभाषा केवल पदविधि के लिये ही है वर्णविधि आदि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—तिष्ठतु दध्यशान त्वं तक्रम् (दही को रहने दो, तुम छाछ का भक्षण करो) यहां 'दधि + अशान' इन परस्पर निरपेक्ष पदों में **इको यणचि** (१५) द्वारा यण्सन्धि निर्बाध हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा समाससंज्ञा का अधिकार प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(९०५) **प्राक्कडारात् समासः** ।२।१।३।।

कडाराः कर्मधारये (२.२.३८) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।।

अर्थः—कडाराः कर्मधारये (२.२.३८) सूत्र से पहले पहले समास का अधिकार किया जाता है।

---

१. परन्तु नित्यसापेक्ष (हमेशा दूसरे सम्बन्धी की अपेक्षा करने वाले) शब्दों में ऐसे प्रयोग देखे भी जाते हैं। यथा—गुरोः कुलम्—गुरुकुलम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। देवदत्तस्य गुरुकुलम्—यहां 'देवदत्तस्य' पद समास के एकांश 'गुरोः' के साथ सम्बद्ध होता है। इसीप्रकार—देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्या, यज्ञदत्तस्य पितृकुलम्—इत्यादियों में समझना चाहिये। इस विषय में भर्तृहरि की वाक्यपदीय का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।
वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ।।
(वृत्तिसमुद्देश—४७)

वृत्तौ=समासे न हीयते—न नश्यति। इस विषय पर विस्तार के लिये व्याकरण के उच्च दार्शनिक ग्रन्थों का अवलोकन करें।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । कडारात् ।५।१। समासः ।१।१। यह अधिकारसूत्र है । इस का अधिकार **कडाराः कर्मधारये** (२.२.३८) सूत्र से पूर्व तक जाता है । 'कडार' शब्द से उस सूत्र के आद्य अंश का अनुकरण किया गया है जैसे **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) सूत्र में किया गया था । अर्थः—(कडारात्) **कडाराः कर्मधारये** सूत्र से (प्राक्) पूर्व पूर्व (समासः) समास अधिकृत किया जा रहा है । तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में इस प्रस्तुत सूत्र से ले कर **कडाराः कर्मधारये** (२.२.३८) सूत्र के पूर्व तक समास का विधान किया जायेगा ।

ध्यान रहे कि समास का यह अधिकार **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) अर्थात् एकसंज्ञाधिकार के अन्तर्गत आता है अतः इस अधिकार में एक की एक ही संज्ञा की जा सकती है । परन्तु यहां हमें इस समाससंज्ञा के साथ-साथ **अव्ययीभावः** (९०७), **तत्पुरुषः** (९२२), **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) आदि सूत्रों के द्वारा उस समास की अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व आदि अन्य संज्ञाएं भी यथास्थान करनी अभीष्ट हैं, तो यह संज्ञा-द्वय-समावेश कैसे हो सकेगा ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का समाधान प्रकृतसूत्र में दो बार 'प्राक्' शब्द का ग्रहण कर के किया जाता है । तथाहि—एक 'प्राक्' शब्द तो सूत्र में पठित है ही, दूसरा 'प्राक्' शब्द 'कडारात्' में दिग्योगपञ्चमी के कारण अध्याहृत कर लिया जाता है । इन दो 'प्राक्' शब्दों में से एक 'प्राक्' तो अवधि का द्योतक है अर्थात् इस सूत्र का अधिकार **कडाराः कर्मधारये** (२.२.३८) से पूर्व तक जाता है—यह द्योतित करता है । दूसरा 'प्राक्' शब्द यह कहता है कि इस अवधि तक जो कोई अन्य संज्ञा विधान करें पहले उस की समाससंज्ञा हो । इस से समाससंज्ञा हो कर ही यथास्थान अन्य अव्ययीभाव आदि संज्ञाएं होंगी । इस तरह सञ्ज्ञाद्वय का समावेश सिद्ध हो जायेगा ।

प्रकृत 'समास' संज्ञा अन्वर्थ है । समस्यते=एकीक्रियते प्रयोक्तृभिरिति समासः, **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) सूत्रद्वारा कर्म में घञ् प्रत्यय किया गया है । अतः आगे ग्रन्थकार स्थान-स्थान पर 'समस्यते' शब्द का प्रयोग करेंगे[1] । यहां पूर्वोक्त 'समसनं समासः' वाला भावप्रत्ययान्त विग्रह अभीष्ट नहीं है ।

अब सकलसमासप्रकरण में अधिकृत तथा अनिर्दिष्ट-समासस्थलों पर समास के विधायक सुप्रसिद्ध सुंप्सुंपा सूत्र का निर्देश करते हैं—

---

१. कुछ लोग 'समास' शब्द में बहुल के कारण कर्त्तरि घञ् प्रत्यय स्वीकार कर—एक सुँबन्त (कर्तृ) दूसरे सुँबन्त के साथ समस्यते=एकत्रीभवति=एकपदीभवति=एकपद हो जाता है, ऐसा आगे के सूत्रों में व्याख्यान करते हैं । उन के मतानुसार वृत्ति में 'समस्यते' में कर्त्तरि लँट् होकर **उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्** (वा०) से आत्मनेपद हो गया है ।

[लघु०] अधिकारसूत्रं विधि-सूत्रं च—(९०६) **सह सुँपा** ।२।१।४।।

सुँप् सुँपा सह वा समस्यते। समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुँपो लुक्। परार्थाऽभिधानं वृत्तिः। कृत्-तद्धित-समासैकशेष-सनाद्यन्त-धातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा। तत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकः। 'पूर्व अम्+भूत सुँ' इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। भूतपूर्वे चरड् (५.३.५३) इति निर्देशात् (भूतशब्दस्य) पूर्वनिपातः।।

अर्थः—एक सुँबन्त दूसरे सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है। समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाने के कारण समास के अवयव सुँपों का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है।

पर=अन्य अर्थात् एकार्थीभावरूप विशिष्ट अर्थ का जिस के द्वारा कथन किया जाता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं—(१) कृदन्तवृत्ति; (२) तद्धितघटितवृत्ति;[1] (३) समासवृत्ति; (४) एकशेषवृत्ति; (५) सनाद्यन्तधातुवृत्ति। वृत्ति के अर्थ का बोध कराने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उसे विग्रह कहते हैं। वह विग्रह लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। 'भूतपूर्वः' इस समास का 'पूर्वं भूतः' यह लौकिक विग्रह है। 'पूर्व अम्+भूत सुँ' यह अलौकिक-विग्रह है। इस समास में **भूतपूर्वे चरट्** (५.३.५३) इस पाणिनीयसूत्र के निर्देशानुसार 'भूत' शब्द का पूर्वनिपात अर्थात् पूर्वप्रयोग होता है।

व्याख्या—सह इत्यव्ययपदम् । सुँपा ।३।१। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से)। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा के अनुसार सुँप् और सुँपा दोनों से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(सुँप् =**सुँबन्तम्**) एक सुँबन्त (सुँपा=सुँबन्तेन) दूसरे सुँबन्त के (सह) साथ (समासः) समस्त होता है। यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे जो समास विधान किया जायेगा वहां यह सूत्र उपस्थित होकर कहेगा कि सुँबन्त सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है तिङन्त के साथ नहीं। यथा—**द्वितीया श्रिताऽतीत-पतित-गताऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः** (९२४) इस सूत्र में इस अधिकार के आ जाने से सूत्र का अर्थ होगा—द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त श्रितादि-प्रकृतिक सुँबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है। कष्टं श्रितः—कष्टश्रितः इत्यादि। **पञ्चमी भयेन** (९२८) सूत्र का अर्थ होगा—पञ्चम्यन्त सुँबन्त भयप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। चोराद् भयम्—चोरभयम् इत्यादि।

इस सूत्र को अधिकारसूत्र के साथ साथ विधिसूत्र भी माना जाता है। जब समास लोक में प्रचलित होता है—शिष्ट-सम्मत होता है पर उसका विधायक कोई सूत्र

---

१. यहां 'कृदन्तवृत्ति' की तरह 'तद्धितान्तवृत्ति' नहीं कहा। कारण कि सब तद्धित प्रत्यय अन्त में नहीं होते। बहुच्प्रत्यय (५.३.६८) प्रकृति के आदि में तथा अकच्प्रत्यय (५.३.७१) प्रकृति की टि से पूर्व जुड़ता है। अतः 'तद्धित' से यहां तद्धितघटितवृत्ति समझनी चाहिये (नागेशभट्ट)।

नहीं होता तो वहां इस सूत्र से समास कर लिया जाता है। इस समास का कोई विशेष नाम नहीं होता अतः इसे केवलसमास या सुप्सुपासमास कह दिया जाता है। यह समास महाभाष्य, प्रदीप तथा काशिका आदियों में वैकल्पिक माना गया है।[1] श्रीवरदराज ने इस सूत्र को लघुसिद्धान्तकौमुदी में विधिसूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है और इस समास को वैकल्पिक माना है। इस सूत्र का उदाहरण 'भूतपूर्वः' है। परन्तु इसे प्रदर्शित करने से पूर्व ग्रन्थकार समासोपयोगी वृत्ति, विग्रह आदि कुछ पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करते हैं।

परार्थाभिधानं वृत्तिः। अभिधीयतेऽनेन इत्यभिधानम्, करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। परश्चासौ अर्थः—परार्थः, परार्थस्य अभिधानम्—परार्थाभिधानम्। विग्रहवाक्यावयवपदार्थेभ्यः परः=अन्यो योऽयं विशिष्टैकार्थरूपः, तत्प्रतिपादिका वृत्तिरिति भावः[2]। समास आदि में जब पद (या शब्द) अपने अपने स्वार्थ को पूर्णतः या अंशतः छोड़ कर एक विशिष्ट अर्थ को कहने लग जाते हैं तो उसे पूर्वाचार्य 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्ति में शब्दों का अर्थ मिश्रित हो कर एकाकार अर्थ का रूप धारण कर लेता है। यथा 'राजपुरुषः' इस समासवृत्ति के अर्थ में न तो राजा रहा और न पुरुष, बल्कि 'राजसम्बन्धी पुरुष' यह एकाकार एकार्थीभावरूप अर्थ हो गया है। यही कारण है कि तब राजा के साथ 'ऋद्धस्य' आदि विशेषणों का योग नहीं होता। ऋद्धस्य राजपुरुषः—नहीं कह सकते। इसी का नाम परार्थाभिधान है। यह वृत्ति पाञ्च प्रकार की मानी जाती है—

(१) **कृदन्तवृत्ति**। इस वृत्ति के अन्त में कृत्प्रत्यय होने के कारण इसे कृदन्तवृत्ति कहते हैं। यथा—कारकः, हारकः, कुम्भकारः, कुरुचरः आदि। यहां प्रकृति + प्रत्यय अथवा उपपद + प्रकृति + प्रत्यय मिल कर परस्परसम्बद्ध एकार्थीभावरूप विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं।

---

१. इस का विस्तृत विवेचन **विभाषा (२.१.११)** सूत्रस्थ प्रौढमनोरमा में देखा जा सकता है।

२. वचनमिदं नागेशभट्टेनेत्थं व्याख्यातम्—
परार्थाऽभिधानमिति करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। परशब्दस्तदर्थपरः तेन युक्तोऽर्थः परार्थः। एवञ्च परस्यार्थेन सम्बद्धो यः स्वार्थस्तस्याभिधाभिर्योपस्थितिस्तत्करणमित्यर्थः। इतरार्थाऽन्वितस्वार्थस्योपस्थितिर्येनेति फलितम्। सा चाऽवयवशक्तिसहकृतसमुदायशक्तिसाध्या। परार्थाभिधानमेव **चैकार्थीभावः**। एतदुक्तं भवति—न केवलया क्लृप्तावयवशक्त्या सर्वत्र निर्वाहः, किन्तु विशिष्टार्थविषयं शक्त्यन्तरं स्वीकर्त्तव्यम्। अत एव वृत्तौ विशेषणस्य पदार्थैकदेशत्वान्न विशेषणसम्बन्धः। द्वन्द्वे चशब्दस्याऽप्रयोगः। बहुव्रीहौ यच्छब्दादेरिति। वृत्तिरिति समुदायस्य वृत्त्याश्रयत्वेन औपचारिकोऽयं प्राचां व्यवहारो निरूढः पञ्चसु इति बोध्यम्।
(**सर्वसमासशेषप्रकरणे शेखरद्वये**)

(२) **तद्धितघटितवृत्ति** । इस वृत्ति में पीछे, आगे या बीच में कहीं तद्धित प्रत्यय हुआ करता है । यथा—औपगवः, दाशरथिः, बहुपटुः, सर्वकः आदि । इस में प्रकृति + तद्धितप्रत्यय मिल कर एकार्थीभावरूप एक विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं ।

(३) **समासवृत्ति** । यथा—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः । इस में दो या दो से अधिक पद मिल कर परस्परसम्बद्ध एकार्थीभावरूप विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं ।

(४) **एकशेषवृत्ति** । जब दो या दो से अधिक पदों (या शब्दों) में एक शेष रह जाता है तो वह अवशिष्ट सब का बोधक होता है । यथा—माता च पिता च पितरौ । यहां **पिता मात्रा** (९९०) सूत्रद्वारा पितृशब्द ही अवशिष्ट रहता है, इस प्रकार यह 'मातृ + पितृ' दोनों का एकार्थीभाव से बोधक होता है । कुछ वैयाकरण इस एक-**शेष** को वृत्ति स्वीकार नहीं करते ।

(५) **सनाद्यन्तधातुवृत्ति** । पीछे (४६८) सूत्र पर सन्, क्यच्, काम्यच् आदि बारह सनादि प्रत्यय गिनाये गये हैं । ये प्रत्यय जिस के अन्त में आते हैं, उस समुदाय की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा हो जाती है । इस प्रकार की धातुओं में भी प्रत्यय जुड़ने के कारण अनेक अर्थों का मिलकर एकार्थीभाव हुआ करता है अतः इन को भी वृत्ति कहते हैं । यथा—'पिपठिषति' यहां 'पिपठिष' इस सन्नन्त धातु में पठन तथा इच्छा आदि अनेक अर्थों का एक विशिष्ट एकार्थीभावरूप अर्थ प्रकट होता है । इसी प्रकार—पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति आदियों में भी समझना चाहिये ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि तिङन्त को वृत्ति नहीं माना गया । अत एव 'मृदु पचति' यहां पच्धातु के फलांश (न कि व्यापारांश) में 'मृदु' का अन्वय हो जाता है । अन्यथा तिङन्त को वृत्ति मान लेने पर फल और व्यापार दोनों धात्वर्थों के एकार्थी-भाव के अन्तर्गत हो जाने से पृथक्-पृथक् विशेषण का योग न हो सकता ।

इन वृत्तियों के अर्थ का बोध कराने के लिये जो वाक्य या पदावली प्रयुक्त की जाती है उसे 'विग्रह' कहते हैं । यह विग्रह दो प्रकार का होता है । एक लौकिक और दूसरा अलौकिक । लोक (लौकिक संस्कृतभाषा) में जो प्रयोगार्ह होता है उसे लौकिक विग्रह कहते हैं । यथा—'राजपुरुषः' इस समासवृत्ति का 'राज्ञः पुरुषः' यह लौकिक विग्रह है । अलौकिक विग्रह प्रयोग में नहीं आता, वह व्याकरण की प्रक्रिया दर्शाने के लिये ही होता है । यथा—'राजपुरुषः' का अलौकिक विग्रह है—राजन् ङस् + पुरुष सुँ । इस की कल्पना व्याकरणप्रक्रिया की सुविधा के लिये की जाती है । यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि अलौकिकविग्रह तो प्रत्येक समास का हुआ करता है परन्तु लौकिक-विग्रह तभी होता है जब समास वैकल्पिक हो । यदि समास नित्य है तो लौकिकविग्रह या तो किया ही नहीं जाता अथवा अस्वपदविग्रह किया जाता है । अस्वपदविग्रह में या तो समस्यमान पदों से भिन्न पदों के द्वारा विग्रह दर्शाया जाता है अथवा एक समस्यमान पद के साथ दूसरे किसी असमस्यमान पद को जोड़ कर वह प्रदर्शित किया जाता है । यथा—'उपकृष्णम्' और 'यथाशक्ति' इन में नित्य अव्ययीभावसमास हुआ

है। इन के 'कृष्णस्य समीपम्' और 'शक्तिमनतिक्रम्य' ये क्रमशः अस्वपद-लौकिकविग्रह हैं।

अब **सह सुँपा** (९०६) समास का उदाहरण दर्शाते हैं—

पूर्वं भूतः—भूतपूर्वः (पहले हो चुका हुआ)। यह लौकिक विग्रह है। इस में 'पूर्वम्' यह क्रियाविशेषण होने से नपुंसक में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्व अम्+भूत सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **सह सुँपा** (९०६) इस प्रकृतसूत्र से समूचा समुदाय समाससंज्ञक हो जाता है। पुनः **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव अम् और सुँ सुँप्प्रत्ययों का लुक् हो जाता है--पूर्व भूत। अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि दो पदों के इस समास में कौन सा पद पूर्व में तथा कौन सा पद उत्तर में प्रयुक्त करना चाहिये? **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) इस वक्ष्यमाण सूत्र के अनुसार समासविधायकसूत्र में जो पद प्रथमाविभक्ति से निर्दिष्ट होता है उस की उपसर्जनसंज्ञा कर उसे पूर्व में प्रयुक्त करते हैं। सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट सुँप् है। परन्तु अलौकिकविग्रह में दोनों पद सुँप् (सुँबन्त) हैं, किस का पूर्वनिपात किया जाये? नियम न होने से इन का पर्याय (बारी-बारी) से पूर्वनिपात प्राप्त होता है। अथवा—'उपसर्जन' इस महासंज्ञा करने के कारण इसे अन्वर्थ मान कर उपसर्जन अर्थात् गौणपद 'पूर्व' का ही पूर्वनिपात प्राप्त होता है। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि **भूतपूर्वे चरट्** (५.३.५३) इस पाणिनीयसूत्र में इन दोनों के समास में भूतशब्द का आचार्य ने पूर्वनिपात किया है, अतः सूत्रकार के इस निर्देश के अनुसार यहां भी समास में भूतशब्द का पूर्वनिपात करने पर 'भूतपूर्व' हुआ। अब **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस परिभाषा के अनुसार 'भूतपूर्व' की प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण रहने से नये सिरे से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। जो जो विभक्त्यर्थ विवक्षित होगा उस उस के अनुसार विभक्ति लाई जायेगी। उदाहरणार्थ प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर उसके उकार का लोप, **ससजुषो रुँः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश, उसके उकार का भी लोप तथा अवसान में **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) द्वारा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'भूतपूर्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] जहां समास न होगा वहां 'पूर्वं भूतः' यह वाक्य रहेगा। भूतपूर्वः, भूतपूर्वौ, भूतपूर्वाः[2] इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् रूपमाला चलेगी।[3]

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि समास से परे नये सिरे से लाये गये इस सुँ=सुँप् का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् नहीं होता। कारण कि यह सुँप् प्रातिपदिक का अवयव नहीं बल्कि उस से परे लाया गया सुँप् है।

२. अत्रेदं विशेषतोऽवधेयं यत् **संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः** इत्याश्रित्य भूतपूर्वशब्दस्य सर्वनामत्वाभावाज्जसादौ सर्वनामकार्याणि न भवन्तीति।

३. आकरग्रन्थों में **सह सुँपा** (९०६) सूत्र का योगविभाग कर व्याख्या उपलब्ध होती है। इस का कारण यह बताया जाता है कि जब 'सह' शब्द के बिना भी 'सह' के

सुँप्सुँपासमास के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

पूर्वम् अदृष्टः—अदृष्टपूर्वः । **अदृष्टपूर्वा वनितामपश्यत्** (रघु० १६.४) । पूर्वम् अभूतः—अभूतपूर्वः ।

न एकः— नैकः (जो एक नहीं अर्थात् अनेक) । **सा ददर्श नगान् नैकान् नैकाश्च सरितस्तथा** (नैषध० १२.८१) । यहाँ नञ् का प्रयोग नहीं अपितु नञर्थक 'न' अव्यय का प्रयोग हुआ है । अत एव **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा समास न होने से **न लोपो नञः** (९४७) द्वारा नकार का लोप नहीं होता । इसी प्रकार **नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः** (किरात० १.१९) तथा 'नैकधा' आदियों में समझना चाहिये ।

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्० (रघु० १.५) यहां 'आजन्मशुद्धानाम्' में सुँप्सुँपासमास है । पहले अभिविधि अर्थ में 'आङ्+जन्मन् ङसिँ' में **आङ्मर्यादाऽभिविध्योः** (२.१.१२) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास होकर 'आजन्म' बन जाता है । तब 'आजन्म' का 'शुद्धानाम्' के साथ सुँप्सुँपा-समास होता है । इसी प्रकार—**आसमुद्र-क्षितीशानाम्** (रघु० १.५) आदियों में समझना चाहिये ।

उत्तम ऋणे—उत्तमर्णः (ऋण देने वाला) ।

अधम ऋणे—अधमर्णः (ऋण लेने वाला) ।

निसर्गेण निपुणः—निसर्गनिपुणः (स्वभाव से चतुर) ।

अर्थ की प्रतीति हो सकती है तो पुनः सूत्र में उस का ग्रहण क्यों किया जाये ? अतः इस 'सह' ग्रहण के सामर्थ्य से आचार्यद्वारा इस के योगविभाग की स्वीकृति प्रतीत होती है । इस तरह इस सूत्र का विभाग कर 'सह' और 'सुँपा' दो सूत्र बना लिये जाते हैं । दोनों सूत्रों में पीछे से 'सुँप्' का अनुवर्त्तन होता है । प्रथम 'सह' सूत्र का अर्थ होता है—सुँबन्तं समर्थेन सह समस्यते, अर्थात् सुँबन्त किसी भी समर्थ के साथ समास को प्राप्त होता है । **योगविभागदिष्टसिद्धिः**—इस परिभाषा के अनुसार मनमानी नहीं हो सकती, बल्कि कुछ वैदिक-प्रयोगों में जहां सुँबन्तों का तिङन्तों के साथ समास प्राप्त होता है उन की सिद्धि इस सूत्र से की जाती है । यथा—अनुव्यचलत् । यहां 'वि' इस सुँबन्त का 'अचलत्' इस तिङन्त के साथ समास होकर 'व्यचलत्' बन जाता है । पुनः 'अनु' का 'व्यचलत्' के साथ समास हो कर 'अनुव्यचलत्' यह समस्त पद बन जाता है । समास हो जाने से इसे एक पद मानकर अन्तोदात्तस्वर सिद्ध हो जाता है । योगविभाग का दूसरा खण्ड 'सुँपा' सूत्र अधिकार और विधि दोनों का काम करता है । इस का अर्थ होता है —सुँबन्तं समर्थेन सुँबन्तेन समस्यते । अर्थात् सुँबन्त अन्य समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है । इस अधिकार के कारण सुँबन्त का लोक में तिङन्त के साथ समास नहीं होता । यथा—'न करोति' में नञ्समास नहीं होता । इस के विधिपक्ष में 'भूतपूर्वः' आदि कतिपय ऐसे शिष्टप्रयोगों में समास हो जाता है जिन में समास का विधायक कोई सूत्र नहीं होता ।

प्रकृत्या वक्रः—प्रकृतिवक्रः (स्वभाव से टेढ़ा)।
विस्पष्टं कटुकम्—विस्पष्टकटुकम् (स्पष्ट रूप से कटु)।
अवश्यं स्तुत्यः—अवश्यस्तुत्यः।[1]

सुँप्सुँपासमास में यदि पूर्वनिपात का कोई नियामक नहीं होता तो लोक प्रसिद्ध्यनुसार ही पूर्वनिपात किया जाता है, क्योंकि योगविभाग से इष्ट रूपों की ही सिद्धि हुआ करती है अनिष्ट रूप नहीं बना करते। कुछ लोगों का कहना है कि 'उपसर्जन' इस महासंज्ञाकरण के कारण इसे अन्वर्थ मानने से शास्त्र में जहां पूर्वनिपात का कोई नियामक नहीं होता वहां उपसर्जन अर्थात् गौणपद का ही पूर्वनिपात हुआ करता है।

अब एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०— (५३) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च ॥

वागर्थौ इव—वागर्थाविव ॥

अर्थः—सुँबन्त शब्द का 'इव' शब्द के साथ समास होता है परन्तु समासावयव-विभक्ति का लोप नहीं होता।

व्याख्या—इवेन ।३।१। समासः ।१।१। विभक्त्यलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। यह वार्त्तिक महाभाष्य में **सह सुँपा** (९०६) सूत्र पर पढ़ा गया है। न लोपः—अलोपः, नञ्तत्पुरुषः। विभक्तेरलोपः—विभक्त्यलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(सुँप् = सुँबन्तम्) सुँबन्त शब्द (इवेन) 'इव' शब्द के साथ (समासः = समस्यते) समास को प्राप्त होता है (च) तथा इस समास की अवयव (विभक्त्यलोपः) विभक्ति का लोप भी नहीं होता। इस समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर का भी विधान किया गया है जो यहां लघुसिद्धान्तकौमुदी में स्वरप्रकरण के न होने के कारण छोड़ दिया गया है।[2] अत एव ग्रन्थकार ने वैदिक उदाहरण न देकर रघुवंश का लौकिक उदाहरण ही दिया है। तथाहि—

लौकिकविग्रह—वागर्थौ इव—वागर्थाविव[3] (वाणी और अर्थ के समान)। वाक् च अर्थश्च वागर्थौ। यहां प्रथम 'वाच् सुँ + अर्थ सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से द्वन्द्वसमास हो सुँब्लुक् कर **चोः कुः** (३०६) द्वारा चकार को ककार पुनः जश्त्वेन ककार को गकार कर विभक्ति लाने से 'वागर्थौ' बन जाता है।

---

१. **लुम्पेदवश्यमः कृत्ये** (कृत्यप्रत्ययान्त के परे रहते 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है) इस प्राचीनकारिका के वचन से यहां समास में 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है।

२. पूरे वार्त्तिक का पाठ इस प्रकार है—
इवेन समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च।

३. **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघु० १.१)

अब इस का 'इव' के साथ समास करते हैं। 'वागर्थ औ+इव' इस अलौकिकविग्रह में **इवेन समासो०** इस प्रकृत वार्त्तिक से समास हो **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँप्=औ प्रत्यय का लुक् प्राप्त होता है परन्तु प्रकृतवार्त्तिक में 'विभक्त्यलोपः' कथन के कारण उस का निषेध हो जाता है[1]। अब **नादिचि** (१२७) से पूर्वसवर्णदीर्घ (१२६) का निषेध होकर **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्रद्वारा वृद्धि एकादेश तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से औकार को आव् आदेश करने पर 'वागर्थाविव' बना। पुनः **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन में सुँप्रत्यय ला कर 'वागर्थाविव' इस समुदाय को भी तदन्तविधि से अव्यय मान कर[2] इस से परे सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो 'वागर्थाविव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

यह समास अनित्य तथा क्वाचित्क है अतः व्यस्तप्रयोग भी पाये जाते हैं। यथा—**उद्बाहुरिव वामनः** (रघु० १.३)। यदि यहां समास होता तो 'वामन इव' प्रयोग होता। इसीप्रकार—**सुप्तमीन इव ह्रदः** (रघु० १.७३), **प्रणवश्छन्दसामिव** (रघु० १.११) इत्यादियों में व्यस्तप्रयोग समास की अनित्यता के द्योतक हैं। अत एव ग्रन्थकार ने 'वागर्थौ इव' ऐसा लौकिकविग्रह दर्शाया है।

समासप्रकरण में ध्यातव्य कुछ बातें—

(१) समर्थ अर्थात् परस्परसंश्लिष्टार्थ पदों में ही समास हुआ करता है असम्बद्धार्थों में नहीं।

(२) सब से प्रथम समासविधायकसूत्र की प्रवृत्ति होती है।

---

१. पूर्वपद से आगे आने वाली विभक्ति का जब **सुँपो धातु०** (७२१) से लुक् प्राप्त होता है तभी 'विभक्त्यलोपः' इस अंश की प्रवृत्ति हो कर उसे रोक दिया जाता है। उत्तरपद तो 'इव' है जो स्पष्टतः अव्यय है, उस से आगे आने वाली विभक्ति के लोप का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अव्यय होने से **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा उस का लोप तो पहले से ही हुआ होता है। किञ्च यहां यह भी ध्यातव्य है कि 'इवेन' तृतीयान्त है, प्रथमान्त 'सुँप्' है जो पीछे से अनुवृत्तिद्वारा लब्ध है। अतः **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) सूत्र से सुँबन्त की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उसी का पूर्वनिपात होता है।

२. अनुपसर्जने तदन्तस्याप्यव्ययत्वमभ्यनुज्ञातम्। दृश्यताम् **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) इति सूत्रस्था सिद्धान्तकौमुदी।

३. वस्तुतः इस समास का लोक में कुछ उपयोग नहीं, क्योंकि लोक से आजकल स्वर नितान्त लुप्त हो चुके हैं। हां वेद में 'जीमूतस्येव' आदि इस के उदाहरण बहुत हैं वहां स्वर लगता है।

(३) समाससंज्ञा हो जाने पर समूचे समुदाय की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा कर समुदाय के अन्तर्गत तदवयव सुँपों का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है ।

(४) अब समास में पूर्वनिपात का निर्णय किया जाता है ।

(५) अन्त में समास के प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होने के कारण नये सिरे से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है । यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि यह सुँब्विभक्ति समास से परे की जाती है समास का अवयव नहीं होती अतः **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (**७२१**) से इस का लुक् नहीं होता ।

अभ्यास [१]

(१) समास किसे कहते हैं ? उस के कितने और कौन-कौन से भेद होते हैं ? प्रत्येक का सोदाहरण संक्षिप्त वैशिष्ट्य समझाइये ।

(२) निम्नलिखित विषयों पर सारगर्भित टिप्पणी करें—

[क] केवल या सुँप्सुँपा समास ।

[ख] वृत्ति और उस के भेद ।

[ग] विग्रह और उस के भेद ।

[घ] एकार्थीभावसामर्थ्य ।

[ङ] सविशेषणस्य वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न ।

[च] सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।

[छ] 'सह सुँपा' का योगविभाग ।

(३) दोनों में अन्तर समझाइये—

[क] समास और सन्धि ।

[ख] एकार्थीभाव और व्यपेक्षा ।

[ग] लौकिक और अलौकिक विग्रह ।

[घ] नित्य और अनित्य समास ।

(४) निम्नलिखित प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] **इवेन समासो**० द्वारा विहितसमास नित्य है या अनित्य ? इस समास के विधान का प्रयोजन क्या है ?

[ख] समाससंज्ञा का अव्ययीभावादिसंज्ञाओं से बाध क्यों नहीं होता ?

[ग] समास से विहित विभक्ति का **सुँपो धातु**० से लुक् क्यों न हो ?

[घ] 'भार्या **राज्ञः पुरुषो** देवदत्तस्य' यहां समास क्यों नहीं होता ?

[ङ] सुँप्सुँपासमास में किस का पूर्वनिपात होता है ?

(५) अधोलिखित सूत्र-वार्त्तिकों की व्याख्या करें—
समर्थः पदविधिः, सह सुँपा, प्राक्कडारात् समासः, इवेन समासो० ।
(६) भूतपूर्वः, वागर्थाविव, अवश्यस्तुत्यः, नैकः, उत्तमर्णः—इन समासों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।

[लघु०] **इति केवलसमासः**

यहां पर केवलसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:o:——

अथाऽव्ययीभावसमासः

अब अव्ययीभावसमास का प्रकरण प्रारम्भ होता है ।

[लघु०] अधिकारसूत्रम्— **(६०७) अव्ययीभावः ।२।१।५।।**

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।।

अर्थः—यहां से ले कर **तत्पुरुषः** (६२२) सूत्र से पूर्व पूर्व जो समास विधान किया जायेगा उस की अव्ययीभावसंज्ञा होगी ।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। यह अधिकारसूत्र है । इस का अधिकार अष्टाध्यायी में **तत्पुरुषः** (२.१.२१) सूत्र तक जाता है । अर्थः—यहां से ले कर **तत्पुरुषः** (२.१.२१) सूत्र से पूर्व तक जो समास विधान किया जायेगा वह (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसंज्ञक होगा । समास सामान्य-सञ्ज्ञा होगी और अव्ययीभाव उस की विशेष-संज्ञा । एकसञ्ज्ञाधिकारप्रकरण में इन दो सञ्ज्ञाओं का किस तरह समावेश होगा—इस पर इस व्याख्या में **प्राक्कडारात्समासः** (६०५) सूत्र पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है ।

इस अव्ययीभावसमास में प्रायः पूर्वपद अव्यय तथा उत्तरपद अनव्यय होता है । परन्तु समस्त हो कर सम्पूर्ण पद अव्यय (३७१) बन जाता है, अतः इस समास को अव्ययीभावसमास कहते हैं । अनव्ययम् अव्ययं भवतीति अव्ययीभावः[1] । इस समास में प्रायः पूर्वपद की प्रधानता रहती है—यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इस समास का विधान करते हैं—

---

१. **विभाषा ग्रहः** (३.१.१४३) इतिसूत्रस्थेन **भवतेश्चेति वक्तव्यम्** इति वार्त्तिकेन कर्त्तरि णः । तथा चोक्तं नारायणभट्टेन—
अव्ययीभाव इत्यत्र भवतेः कर्त्तरीह णः । (प्रक्रियासर्वस्व, तद्धित० पृष्ठ ६०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९०८) **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्याऽन्तवचनेषु** ।२।१।६।।

विभक्त्यर्थादिषु वर्त्तमानमव्ययं सुँबन्तेन सह नित्यं समस्यते। प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणाऽस्वपदविग्रहो वा । विभक्तौ—'हरि ङि+अधि' इति स्थिते—

अर्थः—१. विभक्ति, २. समीप, ३. समृद्धि (ऋद्धि का आधिक्य), ४. व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), ५. अर्थाभाव (वस्तु का अभाव), ६. अत्यय (नष्ट होना, अतीत होना, गुजर जाना), ७. असम्प्रति (अब युक्त न होना), ८. शब्दप्रादुर्भाव (शब्द की प्रकाशता वा प्रसिद्धि), ९. पश्चात् (पीछे), १०. यथा (योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति और सादृश्य), ११. आनुपूर्व्य (क्रमानुसार, क्रमशः), १२. यौगपद्य (एक साथ होना), १३. सादृश्य (सदृश), १४. सम्पत्ति (अनुरूप आत्मभाव), १५. साकल्य (सम्पूर्णता), और १६. अन्त (समाप्ति)— इन सोलह अर्थों में से किसी भी अर्थ में वर्त्तमान जो अव्यय सुँबन्त, वह समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होता है और वह समास अव्ययीभावसञ्ज्ञक होता है। नित्य-समास का या तो लौकिकविग्रह होता नहीं अथवा अस्वपद-विग्रह हुआ करता है। विभक्त्यर्थ में—'हरि ङि+अधि' इस अलौकिकविग्रह में (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है)—

व्याख्या—अव्ययम् ।१।१। विभक्ति—वचनेषु ।७।३। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। समर्थेन ।३।१। (**समर्थः पदविधिः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। सुँपा ।३।१। सह इत्यव्ययपदम् (**सह सुँपा** से)। समासः, अव्ययीभावः—ये दोनों अधिकृत हैं। उच्यन्त इति **वचनाः**, वाच्या इत्यर्थः । कर्मणि ल्युट्। विभक्तिश्च समीपञ्च समृद्धिश्च व्यृद्धिश्च अर्थाभावश्च अत्ययश्च असम्प्रति च शब्दप्रादुर्भावश्च पश्चाच्च यथा च आनुपूर्व्यञ्च यौगपद्यं च सादृश्यञ्च सम्पत्तिश्च साकल्यञ्च अन्तश्च—विभक्ति—साकल्यान्ताः, ते च ते वचनाः, तेषु तथोक्तेषु। द्वन्द्वगर्भकर्मधारयसमासः। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** इस न्याय से 'वचन' शब्द का विभक्ति आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। **अर्थः**—(विभक्ति—वचनेषु) विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि, अर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य और अन्त—इन सोलह अर्थों में वर्त्तमान (अव्ययं सुँबन्तम्) अव्यय सुँबन्त (समर्थेन सुँपा सह) समर्थ सुँबन्त के साथ (समासः=समस्यते) समास को प्राप्त होता है और वह समास (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसंज्ञक होता है। इस समास में विकल्प नहीं कहा गया अतः यह नित्यसमास है।

प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणास्वपदविग्रहो वा ।[1]

नित्यसमास का लौकिकविग्रह या तो किया नहीं जा सकता अथवा जब किया भी जाता है तो दोनों समस्यमान पदों के द्वारा नहीं, अपितु एक पद समस्यमान ले लेते हैं और दूसरा पद दूसरे समस्यमान का समानार्थक। इस तरह विग्रह दर्शाया जाता है। यथा—'उपकृष्णम्' में समीपार्थ में नित्य अव्ययीभावसमास हुआ है। लौकिकविग्रह दर्शाते समय 'उप' का समानार्थक 'समीपम्' पद 'कृष्णस्य' के साथ लगा कर 'कृष्णस्य समीपम्' इस प्रकार लौकिकविग्रह प्रदर्शित किया जाता है, 'कृष्णस्य उप' ऐसा नहीं दर्शाया जाता कारण कि आचार्य पाणिनि ने इन में नित्यसमास का विधान किया है अतः इन को पृथक्-पृथक् लिखना संस्कृत न हो कर असंस्कृत होगा। विग्रह तो संस्कृत में दर्शाना है असंस्कृत में नहीं।[2]

अब इस सूत्र के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) विभक्त्यर्थ से तात्पर्य यहां कारक से है। कारकों में भी केवल अधिकरण कारक ही यहां अभिप्रेत है। हरौ इति अधिहरि (हरि में या हरि के विषय में)।[3] 'अधिहरि' समास का 'हरौ' यह लौकिकविग्रह है। जो अर्थ 'अधिहरि' से प्रतीत होता है वही अर्थ 'हरौ' का है।

'अधि' यह अव्यय अधिकरण अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः 'हरि ङि+अधि'[4]

---

१. यहां विग्रह से तात्पर्य लौकिकविग्रह से है। अविद्यमानो विग्रहो (लौकिकविग्रह-वाक्यं) यस्य सोऽविग्रहः। अविद्यमानः स्वैः पदैर्विग्रहो यस्य सोऽस्वपदविग्रहः। समस्यमानयावत्पदाऽघटित इत्यर्थः।

२. क्वचित् नित्यसमास में एकपदद्वारा भी विग्रह दर्शाया जाता है वह भी अस्वपद-विग्रह होता है। यथा—हरौ=अधिहरि।

३. प्राचीन वैयाकरण 'अधिकृत्य' शब्द का प्रयोग कर यहां लौकिकविग्रह प्रदर्शित किया करते थे। तदनुसार—हरावधिकृत्य—अधिहरि, स्त्रीष्वधिकृत्य—अधिस्त्रि इस प्रकार विग्रह होता था। परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रकार के विग्रहप्रदर्शन का खण्डन किया है। उन का कथन है कि विग्रहवाक्य तथा समास दोनों के अर्थों में तुल्यता होनी आवश्यक है। यहां विग्रहवाक्यगत ल्यबन्त 'अधिकृत्य' का समास में कहीं कुछ पता नहीं चलता। अतः विग्रहवाक्य केवल 'हरौ' ही रखना चाहिये। हरौ इत्यधिहरि—इस प्रकार के विग्रहप्रदर्शन में 'इति' शब्द 'हरौ' और 'अधिहरि' दोनों की समानता (equal to) का द्योतक है। विग्रह तो 'हरौ' ही है। विग्रह में 'हरौ अधि' भी नहीं रख सकते क्योंकि समास के नित्य होने से अस्वपदविग्रह ही उचित होता है स्वपदविग्रह नहीं।

४. यहां यह ध्यातव्य है कि 'अधि' अव्यय के आगे भी प्रथमा का एकवचन 'सुँ' प्रत्यय विद्यमान था जिस का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से पहले ही लुक् हो चुका

इस अलौकिक विग्रह में **'अधि'** यह अव्यय सुँबन्त 'हरि ङि' इस समर्थ सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) इस प्रकृतसूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास को प्राप्त हो जाता है । अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस समास में किस का पूर्वनिपात किया जाये ? 'हरि ङि' पद को समास में पहले रखें या 'अधि' पद को ? इस का निर्णय अग्रिम दो सूत्रों द्वारा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९०९) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् । १।२।४३॥

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—समासविधायक सूत्र में प्रथमाविभक्तिद्वारा निर्दिष्ट जो पद तद्बोध्य उपसर्जनसंज्ञक हो ।

व्याख्या—प्रथमा-निर्दिष्टम् ।१।१। समासे ।७।१। उपसर्जनम् ।१।१। प्रथमया (विभक्त्या) निर्दिष्टम् प्रथमानिर्दिष्टम्, तृतीयातत्पुरुषसमासः । 'समासे' में 'समास' शब्द से समासविधायकशास्त्र अर्थात् समास का विधान करने वाले सूत्र का ग्रहण अभीष्ट है ।[1] अर्थः—(समासे) समासविधायक सूत्र में (प्रथमानिर्दिष्टम्) जो पद प्रथमाविभक्ति से निर्दिष्ट होता है वह (उपसर्जनम्) उपसर्जनसंज्ञक होता है । सूत्रगत प्रथमानिर्दिष्ट पद की उपसर्जनसंज्ञा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । अतः उस प्रथमानिर्दिष्ट पद से बोध्य पद की ही अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसंज्ञा की जाती है । यथा—**अव्ययं विभक्ति—वचनेषु** (९०८) यह समासविधायक सूत्र है, इस में 'अव्ययम्' पद प्रथमाविभक्ति से निर्दिष्ट है, तो इस पद से बोध्य 'अधि' आदि अव्ययों की अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसञ्ज्ञा हो जायेगी । इसी प्रकार **द्वितीया श्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (९२४) सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य द्वितीयान्त पदों की अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसंज्ञा हो जायेगी । यदि किसी सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद साक्षात् न पढ़ा गया हो तो उस सूत्र में अनुवृत्तिलब्ध पदों में जो पद प्रथमानिर्दिष्ट हो तद्बोध्य की अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसंज्ञा हो जायेगी ।[2] उपसर्जनसंज्ञा करने का फल समास में उपसर्जन का पूर्वनिपात करना होता है—यह अग्रिमसूत्रद्वारा प्रतिपादित करते हैं—

है । अत एव सुँबन्त होने से यह अन्य सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है । **सह सुँपा** (९०६) अधिकार के कारण सुँबन्त का ही अन्य सुँबन्त के साथ समास होता है ।

१. यदि यहां समास का अर्थ अलौकिकविग्रह करेंगे तो कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः इत्यादियों में प्रथमान्त 'श्रितः' आदियों की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उन का ही पूर्वनिपात होने लगेगा जो स्पष्टतः अनिष्ट है ।

२. यथा—**कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र में अनुवृत्तिलब्ध 'तृतीया' पद प्रथमा-निर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो जाती है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(६१०) उपसर्जनं पूर्वम्** ।२।२।३०।।

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुँपो लुक् । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययीभावश्च (३७१) इत्यव्ययत्वात् सुँपो लुक् । अधिहरि ।।

अर्थः—समास में उपसर्जन पहले प्रयुक्त करना चाहिये । **इत्यधेः प्राक्**०—इस सूत्र से 'अधि' का पहले प्रयोग होगा । अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से सुँप् (ङि) का लुक् हो जायेगा । सुँब्लुक् हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस परिभाषा के कारण 'अधिहरि' की प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण रहने से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होगी । पुनः **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास की अव्ययसंज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् हो 'अधिहरि' प्रयोग बन जायेगा ।

व्याख्या—उपसर्जनम् ।१।१। पूर्वम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् । समासे ।७।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से अधिकृत **'समासः'** पद को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । 'प्रयोज्यम्' का अध्याहार करते हैं । अर्थः—(समासे) समास में (उपसर्जनम्) उपसर्जनसंज्ञक (पूर्वम्) पहले (प्रयोज्यम्) प्रयुक्त करना चाहिये । समास में किसी को पहले प्रयुक्त करना पूर्वनिपात तथा बाद में प्रयुक्त करना परनिपात कहा जाता है । प्रस्तुत सूत्र उपसर्जनसञ्ज्ञक के पूर्वनिपात का प्रतिपादन करता है ।

यहां प्रकृत में 'हरि ङि+अधि' इन पदों में **अव्ययं विभक्ति**० (६०८) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास किया गया है । समासविधायक इस सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'अधि' अव्यय की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (६०९) से उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उपसर्जन का समास में पूर्व-निपात हो जाता है—अधि+हरि ङि । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से सम्पूर्ण समास-समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् करने से 'अधिहरि' बन जाता है । यद्यपि यहां प्रातिपदिक का एक अवयव सुँप् (ङि) लुप्त हो चुका है तथापि **एकदेशविकृतमनन्यवत्**[1] न्यायानुसार इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा अक्षुण्ण रहती है । प्रातिपदिकत्व के कारण **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) के अधिकार में इस से परे

---

१. लोकन्यायमूलक इस परिभाषा की व्याख्या पीछे (१६१) सूत्र पर कर चुके हैं । जैसे लोक में किसी कुत्ते की पूंछ कट जाने पर वह अन्य नहीं हो जाता, कुत्ता ही रहता है, इसी प्रकार यहां प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् हो जाने पर भी उस के प्रातिपदिकत्व को कोई हानि नहीं पहुंचती वह पूर्ववत् प्रातिपदिक ही रहता है ।

सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति नये सिरे से होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर 'अधिहरि+सुँ' इस स्थिति में **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास की अव्ययसंज्ञा होने के कारण इस से परे सुँ प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा लुक् हो कर 'अधिहरि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। अधिहरि प्रवृत्ताः कथाः (प्रक्रियासर्वस्वे)।

वृक्षस्य उपरि (वृक्ष के ऊपर) इत्यादियों में 'उपरि' अव्यय के अधिकरण-वाचक होने पर भी यह समास प्रवृत्त नहीं होता। कारण कि सूत्र में 'वचन' शब्द का ग्रहण किया गया है। इस से जो अव्यय केवल अधिकरण के वाचक होंगे वे ही सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास को प्राप्त होंगे अन्य नहीं। यहां 'उपरि' अव्यय अधिकरण अर्थ के साथ-साथ दिग्देश का भी बोध कराता है अतः यह प्रकृत समास को प्राप्त नहीं होता।

विभक्त्यर्थ में अधि के अतिरिक्त अनु, परि, अन्तर् आदि अन्य अव्ययों का भी प्रयोग देखा जाता है। माघ और भट्टिकाव्य में ऐसे प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। यथा—नाभ्यामिति परिनाभि (माघ० १३.११), वनान्ते इत्यनुवनान्तम् (माघ० ६.७६), गिरावित्यन्तर्गिरम् (भट्टि० ५.८७), गिरावित्यनुगिरम् (माघ० ७.१)। **गिरेश्च सेनकस्य** (५.४.११२) इति गिरिशब्दान्तादव्ययीभावाट् टच् समासान्तः।

---

१. जब अधिकरण कारक 'अधि' अव्यय के द्वारा एक बार उक्त हो गया तो 'अधि+हरि ङि' इस अलौकिकविग्रह में हरिशब्द से अधिकरण में पुनः सप्तमी कैसे आ सकेगी ? क्योंकि **उक्तार्थानामप्रयोगः** (एक बार उक्त हुए अर्थों का दुबारा प्रयोग नहीं हुआ करता) यह सर्वसम्मत न्याय है। इस शङ्का का समाधान यह है कि यदि यहां ऐसा मान कर चलेंगे तो विभक्त्यर्थ में कहीं भी समास न हो सकेगा, कारण कि **सह सुँपा** (९०६) सूत्र पीछे से अधिकृत है। वह कह रहा है कि सुँबन्त का सुँबन्त के साथ ही समास होता है। यहां 'हरि' के साथ कोई विभक्ति तो आयेगी नहीं अतः वह सुँबन्त न बन सकेगा, इस से विभक्त्यर्थक अव्यय के साथ उस का समास न हो सकेगा और आचार्य का विभक्त्यर्थ में समासविधान व्यर्थ हो जायेगा। अतः मुनि के इस विधानसामर्थ्य से उक्तार्थ में भी हरि आदि शब्दों से सप्तमी आ कर उन को सुँबन्त बना कर समास कर लिया जाता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि अधिकरणवाचक 'अधि' अव्यय के कारण ही प्रत्यासत्तिन्याय से हरि आदि शब्दों से भी वही विभक्ति लाते हैं अन्य नहीं। विस्तार के लिये शब्दकौस्तुभ आदि का अवलोकन करें।

[वस्तुतस्तु अनभिहितसूत्रभाष्ये तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैरित्येव परिगणनं दृष्टम्। अतो निपातेनाधिनाऽभिहितेऽप्यधिकरणे सप्तमी निर्बाधा। **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** इत्यत्र तु 'एष्टव्यः' इत्यध्याहार्यम्। कृता अभिधानाद् द्वितीया न भवतीति बालमनोरमाकारा आहुः।]

अब अव्ययीभावसमासविषयक कुछ विशिष्ट बातों का निर्देश करते हुए सब से प्रथम इस के नपुंसकत्व का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९११) **अव्ययीभावश्च** ।२।४।१८।।

अयं नपुंसकं स्यात् ॥

अर्थः—अव्ययीभावसमास नपुंसक हो ।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । नपुंसकम् ।१।१। (**स नपुंसकम्** से) । अर्थः—(अव्ययीभावः) अव्ययीभाव समास (च) भी (नपुंसकम्) नपुंसक होता है । अव्ययीभावसमास प्रायः पूर्वपदप्रधान होता है अतः पूर्वपद के अव्यय होने से इसे अलिङ्गता प्राप्त है । कहीं-कहीं यह अन्यपदप्रधान भी हुआ करता है वहां इस की विशेष्य-लिङ्गता होनी चाहिये । इन दोनों का यह सूत्र अपवाद है । अव्ययीभावसमास चाहे पूर्वपदप्रधान हो या अन्यपदप्रधान, सब अवस्थाओं में यह नपुंसक ही हो—यह इस सूत्र का तात्पर्य है ।

अव्ययीभावश्च सूत्र अष्टाध्यायी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर पढ़ा गया है । दोनों अलग-अलग प्रकरणस्थ सूत्र हैं, एक नहीं । प्रकृतसूत्र जहां अव्ययीभाव का नपुंसकत्व विधान करता है वहां इस से पूर्वपठित सूत्र (३७१) अव्ययीभाव की अव्ययसञ्ज्ञा करता है । इस प्रकार अव्ययीभावसमास अव्यय होने के साथ-साथ नपुंसक भी होता है । इसे नपुंसक मानने का फल **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा इसे ह्रस्व अन्तादेश करना होता है । उदाहरण यथा—

गाः पाति रक्षतीति **गोपाः** (गौओं का रखवाला) । 'गो' कर्म के उपपद रहते **पा रक्षणे** (अदा० परस्मै०) धातु से कर्ता अर्थ में **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्रद्वारा विँच् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा उपपदसमास करने पर 'गोपा' यह आकारान्त शब्द निष्पन्न होता है[1] । इस की रूपमाला 'विश्वपा' शब्द के समान चलती है । सप्तमी के एकवचन में इस का रूप बनेगा—गोपि (**आतो धातोः**—१६७) । अब गोपाशब्द का अधि अव्यय के साथ अव्ययीभावसमास करते हैं । लौकिकविग्रह—गोपि इत्यधिगोपम् (ग्वाले में या ग्वाले के विषय में) । अलौकिक-विग्रह—अधि+गोपा ङि । यहां अधिकरणवाचक 'अधि' अव्यय का 'गोपा ङि' सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'अधि' की पूर्ववत् उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने से 'अधि+गोपा ङि' हुआ । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समग्र समाससमुदाय

---

१. अथवा—**गुपूँ रक्षणे** (भ्वा० परस्मै०) धातु से विँच्, **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) से आयप्रत्यय, लघूपधगुण, **अतो लोपः** (४७०) से अत् का लोप, **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से यकारलोप तथा **वेरपृक्तस्य** (३०३) द्वारा वकार का भी लोप कर 'गोपा' शब्द निष्पन्न होता है । **गोपायति रक्षतीति गोपाः** (रक्षकः) ।

की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँप् (ङि) का लुक् कर 'अधिगोपा' हुआ। तब प्रकृतसूत्र **अव्ययीभावश्च** (६११) से 'अधिगोपा' को नपुंसक मान **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा ह्रस्व अन्तादेश कर 'अधिगोप' बना। पुनः प्रातिपदिकत्वात् इस से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय लाने पर—अधिगोप+सुँ। पूर्वपठित **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास अव्ययसंज्ञक भी होता है अतः **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप्रत्यय का लुक् प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१२) नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ।२।४।८३।।

अदन्तादव्ययीभावात् सुँपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्=अधिगोपम्॥

अर्थः—अदन्त अव्ययीभावसमास से परे सुँप् का लुक् न हो किञ्च पञ्चमी को छोड़ अन्य सुँपों के स्थान पर अम् आदेश हो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अव्ययीभावात् ।५।१। अतः ।५।१। अम् ।१।१। तु इत्यव्ययपदम्। अपञ्चम्याः ।६।१। सुँपः ।६।१। (**अव्ययादाप्सुँपः** से)। लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** से)। समासः—न पञ्चमी अपञ्चमी, तस्याः=अपञ्चम्याः, नञ्तत्पुरुषः। 'अतः' यह 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् अव्ययीभावात्' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभावसमास से परे (सुँपः) सुँप् का (लुक्) लुक् (न) नहीं होता (तु) किन्तु (अपञ्चम्याः सुँपः) पञ्चमी विभक्ति से भिन्न अन्य सुँपों के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो जाता है।

यह अम् आदेश सुँप्-विभक्ति के स्थान पर होता है अतः स्थानिवद्भाव से विभक्तिसंज्ञक होगा। विभक्तिसंज्ञा होने के कारण **हलन्त्यम्** (१) द्वारा प्राप्त मकार की इत्संज्ञा का **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) से निषेध हो जायेगा।

इस सूत्र में 'तु' का कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस के कारण पञ्चमी में न तो अम् आदेश होता है और न ही सुँप् का लुक्, पञ्चमी यथावत् बनी रहती है। सूत्र में यदि 'तु' का ग्रहण न होता, 'नाऽव्ययीभावादतोऽम् अपञ्चम्याः' इस प्रकार का सूत्र होता तो 'अदन्त अव्ययीभावसमास से परे पञ्चमी को छोड़ अन्य सुँपों का लुक् न हो तथा उन को अम् हो जाये' इस प्रकार का अर्थ हो जाता। इस से पञ्चमी में अम् आदेश तो न होता परन्तु सुँप् का पूर्वप्राप्त **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता, जो अनिष्ट था।

'अधिगोप+सुँ' यहां 'अधिगोप' यह अदन्त अव्ययीभाव है। अतः प्रकृत **नाव्ययीभावादतोऽम्०** (६१२) सूत्रद्वारा सुँ का लुक् न हो कर उसे अम् आदेश हो

जाता है—अधिगोप+अम् । अब **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'अधिगोपम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—मालायाम् इत्यधिमालम् । कन्यायाम् इत्यधिकन्यम् । खट्वायाम् इत्यधिखट्वम् । इत्यादि ।

यह सूत्र केवल अदन्त अव्ययीभाव में ही प्रवृत्त होता है । अव्ययीभाव यदि अदन्त न होगा तो इस की प्रवृत्ति न होगी, तब **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् ही होगा । यथा—हरौ इत्यधिहरि । स्त्रियाम् इत्यधिस्त्रि । नद्याम् इत्यधिनदि । कुमार्याम् इत्यधिकुमारि । स्त्री, नदी, कुमारी—शब्दान्त अव्ययीभाव को नपुंसकह्रस्व (६११, २४३) हो कर उस से परे सुँप् का लुक् हो जाता है ।

पञ्चमीविभक्ति के उदाहरण आगे दिये जायेंगे । अब अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी में विशेष विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**६१३**) **तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्** ।२।४।८४।।

अदन्तादव्ययीभावात् तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम् अम्भावः स्यात् । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् । उपकृष्णेन । उपकृष्णे[1] ।।

अर्थः—अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी के स्थान पर बहुलता से अम् आदेश हो ।

व्याख्या—तृतीया-सप्तम्योः ।६।२। बहुलम् ।१।१। अव्ययीभावात्, अतः, अम्—ये तीनों पद पूर्वसूत्र से आते हैं । तृतीया च सप्तमी च तृतीयासप्तम्यौ, तयोः = तृतीयासप्तम्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अतः = अदन्तात्) अदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से परे (तृतीया-सप्तम्योः) तृतीया और सप्तमी विभक्तियों के स्थान पर (बहुलम्) बहुलता से (अम्) अम् आदेश हो जाता है । पूर्वसूत्रद्वारा अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी को नित्य अम् आदेश प्राप्त था परन्तु यह सूत्र उस

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी के कुछ संस्करणों में इस सूत्र पर 'अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा' इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है । यह पाठ 'अधिगोप' शब्द के तृतीयान्त और सप्तम्यन्त रूपों को प्रकृतसूत्र के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत करता है । हमारे विचार में 'अधिगोप' आदि अधिकरणशक्तिप्रधान समास अद्रव्य होते हैं, इन के साथ क्रिया का सम्बन्ध सुचारुरूपेण सम्भव नहीं, और विना क्रिया के कारक बनता नहीं अतः इन से तृतीयादि विभक्तियों का लाना कुछ अटपटा सा प्रतीत होता है । यही सोच कर हम ने दूसरे उपलब्ध पाठ को यहां देना उचित समझा है । इस पाठ में 'उपकृष्ण' के तृतीयान्त और सप्तम्यन्त रूपों को उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया गया है । जो छात्रों के लिये सुकर तथा त्वरित बुद्धिगम्य है । उपकृष्णे स्थितोऽर्जुनः, उपकृष्णादागतो दूतः इत्यादि वाक्यों में इस का कारकत्व विद्यार्थियों को स्पष्ट प्रतीत हो जाता है ।

का अपवाद है और बहुलता से उन को अम् आदेश का विधान करता है । अतः इन दोनों विभक्तियों में कहीं अम् आदेश होगा और कहीं नहीं भी होगा ।[1] जहां अम् आदेश न होगा वहां रामशब्दवत् सुँबन्तप्रक्रिया होगी । उदाहरण आगे दिये जायेंगे ।

(२) समीप अर्थ में अव्ययीभाव का उदाहरण देते हैं—

लौकिकविग्रह—कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् (कृष्ण के पास) । 'कृष्ण ङस्+उप' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा समीप अर्थ में वर्त्तमान 'उप' इस सुँबन्त अव्यय का 'कृष्ण ङस्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) के अनुसार प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' के बोध्य 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो कर—उप+कृष्ण ङस् । पुनः समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—उपकृष्ण । लोप हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अक्षुण्ण रहने से सुँबुत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर—उपकृष्ण सुँ । अब **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा हो जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (सुँ) का लुक् प्राप्त होता है । परन्तु इस का बाध कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'उपकृष्णम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी समस्त 'उपकृष्ण' से तृतीया के एकवचन की विवक्षा में 'उपकृष्ण+टा' इस स्थिति में **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से प्राप्त नित्य अम्-आदेश का बाध कर प्रकृत **तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्** (९१३) द्वारा टा को अम्-आदेश बहुलता से हो जायेगा । अम्पक्ष में पूर्वरूप एकादेश हो कर 'उपकृष्णम्' प्रयोग बनेगा । अम् के अभाव में **टा-ङसिँ-ङसामिनात्स्याः** (१४०) से 'टा' को 'इन' आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण एकादेश करने पर 'उपकृष्णेन' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा । इसी तरह सप्तमी के एकवचन में अम्पक्ष में 'उपकृष्णम्' तथा अम् के अभाव में उपकृष्ण+ङि=उपकृष्ण+इ, गुण करने पर 'उपकृष्णे' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा । परन्तु पञ्चमी के एकवचन में **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा सुँब्लुक् तो निषिद्ध हो जायेगा किन्तु 'अपञ्चम्याः' कथन के कारण अम्-आदेश न होगा । अतः 'उपकृष्ण+ङसिँ' इस अवस्था में **टा-ङसिँ-ङसामिनात्स्याः** (१४०) द्वारा 'ङसिँ' को 'आत्' आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'उपकृष्णात्' प्रयोग बनेगा । 'उपकृष्ण' का कुछ विभक्तियों में प्रयोग यथा—उपकृष्णादागतो दूतः । उपकृष्णमुपकृष्णे वा तिष्ठत्यर्जुनः । उपकृष्णं ययौ तूर्णं सङ्क्रुद्धा राक्षसी तदा । उपकृष्णं विना नहि सुखम् । उपकृष्णेन विना नहि सुखम् । उपकृष्णं नमः । उपकृष्णं रम्यम् ।

---

१. बहुलग्रहण के कारण 'सुमद्रम्, उन्मत्तगङ्गम्' आदि में सप्तमी को नित्य अम् आदेश होता है । इसीकारण यहां 'वा' न कह कर 'बहुलम्' कहा गया है ।

अव्ययीभाव में 'उपकृष्ण' की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	उपकृष्णम्-उपकृष्णेन	उपकृष्णम्-उपकृष्णाभ्याम्	उपकृष्णम्-उपकृष्णैः
चतुर्थी	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
पञ्चमी	उपकृष्णात्	उपकृष्णाभ्याम्	उपकृष्णेभ्यः
षष्ठी	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
सप्तमी	उपकृष्णम्-उपकृष्णे	उपकृष्णम्-उपकृष्णयोः	उपकृष्णम्-उपकृष्णेषु
संबोधन	हे उपकृष्ण !	हे उपकृष्णम् !	हे उपकृष्णम् !

समीप अर्थ में अव्ययीभाव के कुछ अन्य उदाहरण **यथा**—कूपस्य समीपम् उपकूपम् । नद्याः समीपम् अनुनदि, **अनुनदि शुश्रुविरे रुतानि ताभिः** (माघ० ७.२४) । भैम्याः समीपे उपभैमि, **पपात भूमावुपभैमि हंसः** (नैषध० ३.१) । अग्नेः समीपम् उपाग्नि, **उपाग्न्यकुरुतां सख्यमन्योन्यस्य प्रियंकरौ** (भट्टि० ५.१०६) । अक्ष्णः समीपे समक्षम् । **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) इति टच् समासान्तः, **तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि** (रघु० १५.७२) ।[1]

अव्ययीभावसमास में स्मरणीय तीन बातें—

[१] अव्ययीभावसमास यदि अदन्त है तो उस से परे लाये गये सुँप्प्रत्ययों का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् नहीं होता, किन्तु पञ्चमी विभक्ति को छोड़ अन्य सुँपों को अम् आदेश हो जाता है । परन्तु यह अम्-आदेश तृतीया या सप्तमी विभक्ति के स्थान पर बहुलता से होता है । पञ्चमीविभक्ति में रामशब्दवत् सुँबन्तप्रक्रिया होती है ।

[२] अव्ययीभावसमास यदि अदन्त न हो तो उस से परे लाये गये सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से अवश्य लुक् हो जायेगा ।

[३] अव्ययीभावसमास के अन्त में यदि दीर्घ वर्ण हो तो उसे ह्रस्व आदेश कर के उपर्युक्त दोनों नियम लागू करने चाहियें ।

---

१. ग्रामं समया (गांव के पास), निकषा लङ्काम् (लङ्का के पास), आराद् वनात् (वन के पास) इत्यादि प्रयोगों में समया आदि समीपार्थक अव्ययों का सुँबन्तों के साथ अव्ययीभावसमास नहीं होता । कारण कि समया और निकषा के योग में **अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि** (वा०) इस वार्तिकद्वारा द्वितीया विभक्ति तथा 'आरात्' के योग में **अन्यारादितरर्ते०** (२.३.२९) से पञ्चमी-विभक्ति का विधान किया गया है । इन के योग में विभक्तियों का विधान समासाभाव का ही ज्ञापक है । विस्तार के लिये इसी स्थल पर सिद्धान्तकौमुदी तथा उस की टीकाओं का अवलोकन करें ।

अदन्तादव्ययीभावात् सुपो लुक् प्रतिषिध्यते ।
पञ्चमीवर्जितानान्तु सुपामम्भाव इष्यते ॥१॥

बहुलं स्यादमो भावस्तृतीयासप्तमीगतः ।
पञ्चमी श्रूयते नित्यम् उपकृष्णान्निदर्शनम् ॥२॥

अनदन्ते समासेऽस्मिन्नित्यं सुब्लुप्यते ततः ।
कार्यो ह्रस्वोऽन्त्यदीर्घस्य क्लीबत्वात् सुविचक्षणैः ॥३॥

अब समृद्धि आदि अर्थों में समास दर्शाते हैं—

[**लघु०**] मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्याऽत्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्यते इति अतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि । विष्णोः पश्चादनुविष्णु ॥

व्याख्या—(३) समृद्धि (ऋद्धेराधिक्यम्) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् (मद्रदेशवासियों की समृद्धि)। 'मद्र आम्+सु' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि०** (९०८) सूत्रद्वारा समृद्धि अर्थ में वर्त्तमान 'सु' अव्यय का 'मद्र आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) के अनुसार प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' के बोध्य 'सु' अव्यय की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—सु+मद्र आम्। पुनः **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् करने से 'सुमद्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। यहां प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार 'सुमद्र' की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा पूर्ववत् बनी रहती है। अतः इस से प्रातिपदिकत्वात् स्वादियों की उत्पत्ति निर्बाध होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय लाने पर **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा हो जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) सूत्र से इस का बाध हो कर सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'सुमद्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। 'सुमद्रम्' में पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता है। यदि उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता विवक्षित हो तो—'समृद्धा मद्राः सुमद्राः' इस प्रकार **कुगतिप्रादयः** (९४९) से प्रादितत्पुरुषसमास होगा। समृद्ध्यर्थ में अव्ययीभाव के साहित्यगत प्रयोग यथा—

(क) **संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।**
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिः सुभिक्षम् ॥
(नैषध० ३.३८)

---

१. बालमनोरमाकार यहां 'सम्मद्रम्' पाठ मानते हैं। उन के मतानुसार समृद्धिवाचक 'सम्' अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ समास हुआ है।

भिक्षाणां समृद्धिः सुभिक्षम् । नपुंसकह्रस्वत्वम् ।

(ख) **नलेन भायाः शशिना निशेव त्वया सा भायान्निशया शशीव ।**
पुनः पुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते न युवां युयुक्षुः ॥
(नैषध० ३.११७)

अभ्यासस्य समृद्धिः स्वभ्यासम् ।

(४) व्यृद्धि [विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिः, ऋद्धेरभाव इत्यर्थः] अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—यवनानां व्यृद्धिः—दुर्यवनम् (यवनों की समृद्धि का अभाव)। 'यवन आम्+दुर्' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धि०** (९०८) सूत्रद्वारा व्यृद्धि (समृद्ध्यभाव) अर्थ में वर्त्तमान 'दुर्' अव्यय का 'यवन आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'दुर्' की उपसर्जनसंज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात करने पर—दुर्+यवन आम्। अब समास की प्रातिपदिक-संज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् करने से 'दुर्यवन' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार आम् का लुक् हो जाने पर भी 'दुर्यवन' की प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण है अतः प्रातिपदिक से परे नये सिरे से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर 'दुर्यवन+सुँ' बना। अव्ययीभावसमास अव्ययसंज्ञक (३७१) होता है अतः **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँ का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा उस का बाध कर सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'दुर्यवनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसी प्रकार—शकानां व्यृद्धिः—दुःशकम्।

(५) अर्थाभाव (अर्थस्य=वस्तुनोऽभावः, वस्तु का अभाव) अर्थ में उदाहरण यथा—

---

१. कुछ लोग शङ्का किया करते हैं कि प्रकृत समासविधायक सूत्र में 'व्यृद्धि' अर्थ के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं, आगे कहे 'अर्थाभाव' से ही यहां के उदाहरण सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु ऐसा समझना भूल है। क्योंकि अर्थाभाव अर्थ में जिस के साथ अव्यय का समास होता है उस समस्यमान का ही अभाव इष्ट होता है। यथा 'निर्मक्षिकम्' में निर् और मक्षिका के समास में मक्षिकाओं का ही अभाव इष्ट है। लेकिन यहां व्यृद्धि में उस समस्यमान का अभाव विवक्षित नहीं होता बल्कि उस की समृद्धि का अभाव ही विवक्षित होता है। 'दुर्यवनम्' में यवनों का अभाव नहीं कहा जा रहा किन्तु उन की समृद्धि का अभाव ही कहना इष्ट है। बस यही दोनों में अन्तर है। इसीलिये सूत्र में दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है।

लौकिकविग्रह—**मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव)। 'मक्षिका आम्+निर्' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाभाव०** (९०८) सूत्रद्वारा **अर्थाभाव** अर्थ में वर्त्तमान 'निर्' अव्यय का 'मक्षिका आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य **अव्ययीभावसमास** हो कर 'निर्' की उपसर्जनसंज्ञा और उस का पूर्वनिपात करने पर—निर्+मक्षिका आम्। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर देने पर—निर्मक्षिका। **अव्ययीभावश्च** (९११) से अव्ययीभावसमास को नपुंसक मान कर **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) से नपुंसक के अन्त्य आकार को ह्रस्व हो जाता है—निर्मक्षिक। अब प्रातिपदिक होने से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) सूत्र से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'निर्मक्षिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्थानेऽस्मिन् निर्मक्षिकमस्ति[1]।

इसी प्रकार—**मशकानामभावो निर्मशकम्**। प्रत्यूहानामभावो निष्प्रत्यूहम्[2]। विघ्नानामभावो **निर्विघ्नम्**। **अर्थाभाव** अर्थ में नञ् अव्यय का भी अव्ययीभावसमास देखा जाता है। यथा—**व्याधेरभावोऽव्याधि**[3]। विघ्नानामभावोऽविघ्नम्। **अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्**—(रघु० १.९१)। संशयस्याभावोऽसंशयम्। **असंशयं क्षत्त्रपरिग्रहक्षमा** (शाकुन्तल० १.२०)।

(६) अत्यय (**ध्वंस**=नष्ट हो जाना, अतीत हो जाना, गुज़र जाना) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हिमस्य अत्ययोऽतिहिमम्[4] (शीतकाल का व्यतीत हो जाना)।

---

१. यदि 'निर्मक्षिकम्' को **'स्थानम्'** आदि का **विशेषण** बनाना अभीष्ट होगा तो बहुव्रीहिसमास माना जायेगा। यथा—निर्गता मक्षिका अस्मादिति निर्मक्षिकं स्थानम्।

२. **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) इति विसर्गस्य षत्वम्बोध्यम्।

३. **न लोपो नञः** (९४७) इति नञो नकारलोपः।

४. कुछ वैयाकरण यहां 'अतीतं हिमम् अतिहिमम्' इस प्रकार का लौकिकविग्रह प्रदर्शित करते हैं परन्तु यह विग्रह ठीक प्रतीत नहीं होता, कारण कि 'अतीतं हिमम्' में पूर्वपद 'अतीतम्' की प्रधानता प्रतीत नहीं होती वह तो 'हिमम्' का विशेषण है। अतः **विशेष्य** की ही प्रधानता प्रतीत होती है। अव्ययीभावसमास में पूर्वपदार्थ की ही प्रधानता रहनी चाहिये। इसलिये 'हिमस्य अत्ययः' यह मूलोक्त विग्रह ही उचित प्रतीत होता है। इस में पूर्वपद 'अत्ययः' के अर्थ की ही प्रधानता स्पष्ट रहती है। यदि 'अतीत' शब्द के द्वारा ही विग्रह प्रदर्शित करना अभीष्ट हो तो 'हिमस्य अतीतत्वम् अतिहिमम्' इस तरह का लौकिकविग्रह प्रदर्शित करना चाहिये। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति (३.१.३९) में ऐसा ही विग्रह प्रदर्शित किया है।

अलौकिकविग्रह—हिम ङस् + अति । यहां अलौकिकविग्रह में अत्यय (अतीत हो जाना) अर्थ में वर्त्तमान 'अति' अव्यय का **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धयर्थाऽभावाऽत्यय०** (९०८) सूत्रद्वारा 'हिम ङस्' के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अति' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर 'अति + हिम ङस्' हुआ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः**, (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'अतिहिम' बना। पुनः प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर **नाऽव्ययीभावादतोम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) द्वारा पूर्वरूप करने पर **'अतिहिमम्'** प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—अतिशीतम्[1], निर्हिमम्, निःशीतम् (शीतकाल का व्यतीत हो जाना) आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है। निस् या निर् अव्यय भी अत्यय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

ध्यान रहे कि अर्थाभाव और अत्यय में भेद होता है। अर्थाभाव तो किसी वस्तु का अभाव है परन्तु अत्यय किसी विद्यमान वस्तु का नष्ट हो जाना है। **प्राग्विद्यमानस्य पुनर्नाशोऽत्ययः** (प्रक्रियासर्वस्वे)।

(७) असम्प्रति (सम्प्रति न युज्यत इत्यसम्प्रति। इस समय युक्त या उपयुक्त न होना) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—निद्रा सम्प्रति न युज्यते इति अतिनिद्रम् (निद्रा इस समय उचित नहीं)। अलौकिकविग्रह—निद्रा ङस् + अति। यहां अलौकिकविग्रह में 'अति' शब्द असम्प्रति (अब उपयुक्त न होना) अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धयर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'निद्रा ङस्' इस सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। 'अति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा कर पूर्वनिपात किया तो—अति + निद्रा ङस्। अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'अतिनिद्रा' हुआ। पुनः **अव्ययीभावश्च** (९११) द्वारा अव्ययीभाव के नपुंसक होने के कारण **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) से अन्त्य आकार को ह्रस्व कर विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'अतिनिद्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. शेखरकार नागेशभट्ट 'अति' अव्ययद्वारा घटित 'अतिहिमम्, अतिशीतम्' आदि उदाहरणों को यहां उचित नहीं मानते। वे यहां 'निर्हिमम् निःशीतम्' आदि उदाहरणों को ही युक्त मानते हैं। उन के मत का विवेचन आगे **'यौगपद्य'** के उदाहरण पर किया जायेगा वहीं देखें।

इसी प्रकार—**कम्बलं सम्प्रति न** युज्यत इत्यतिकम्बलम् आदि प्रयोगों की सिद्धि जाननी चाहिये ।

(८) शब्दप्रादुर्भाव (नाम की प्रसिद्धि) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हरिशब्दस्य प्रकाश इति इतिहरि । अलौकिकविग्रह—हरि ङस् +इति[1] । यहां अलौकिकविग्रह में 'इति' अव्यय शब्दप्रादुर्भाव (शब्द के प्रादुर्भाव= प्रसिद्धि) अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाऽभावाऽत्यया-ऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'हरि ङस्' इस सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' से बोध्य 'इति' की उपसर्जन-संज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उपसर्जन का पूर्वनिपात करने पर—इति+ हरि ङस् । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् होकर –इति-हरि । पुनः प्रातिपदिकत्वात् स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा अव्ययीभाव के अव्यय होने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (सुँ) का लुक् हो 'इतिहरि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—**पाणिनि**शब्दस्य प्रकाश इति इतिपाणिनि, तत्पाणिनि[2] (पाणिनि-शब्द की प्रसिद्धि) । उद्विक्रमादित्यम् (भाषावृत्तौ) आदि प्रयोग समझने चाहियें ।

(९) पश्चात् (पीछे) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विष्णोः पश्चादनुविष्णु (विष्णु के पीछे) । अलौकिकविग्रह—विष्णु ङस् +अनु । यहां 'अनु' अव्यय पश्चात् (पीछे) अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'विष्णु ङस्' के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' से बोध्य 'अनु' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर—अनु+विष्णु ङस् । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—अनु-विष्णु । पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर 'अनुविष्णु सुँ' इस स्थिति में **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा 'अनुविष्णु' की अव्ययसंज्ञा तथा **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँ का लुक् कर देने से 'अनुविष्णु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—रथानां पश्चाद् अनुरथम् । अनुरथं पादातम्[3] । (पैदल सेना रथों

---

१. अत्रालौकिकविग्रहे हरिशब्दः स्वरूपपरः । तेन षष्ठ्यन्तेन शब्दप्रकाशार्थकेतिः समस्यते । हरिस्वरूपशब्दप्रकाश इति बोधः [इति बृहच्छब्देन्दुशेखरे नागेशः] ।

२. ध्यान रहे कि यहां 'तद्' अव्यय का प्रयोग हुआ है ।

३. **पादातं पत्तिसंहतिः** —इत्यमरः । पदातीनां समूहः पादातम् । **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) इत्यण् ।

के पीछे होती है)। पदानां पश्चाद् अनुपदम् (कदमों के पीछे, फौरन)। **गच्छतां पुरो भवन्तौ, अहमप्यनुपदमागत एव** (शाकुन्तल ३)।

नोट—'पश्चात्' स्वयं भी इसी अर्थ में अव्यय है परन्तु इस का सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास नहीं होता। भाष्यकार के **ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते** (महाभाष्य १.१.५६) ये प्रयोग इस में प्रमाण हैं। अव्ययीभाव के नित्य होने पर भी भाष्यकार ने यहां समास नहीं किया। नागेशभट्ट का समाधान यौगपद्य के उदाहरण पर देखें।

(१०) 'यथा' के अर्थ में उदाहरण यथा—

'यथा' के अर्थ में अव्ययीभाव के उदाहरणों से पूर्व ग्रन्थकार 'यथा' के अर्थों का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] योग्यता-वीप्सा-पदार्थानतिवृत्ति-सादृश्यानि यथार्थाः। रूपस्य योग्यम् अनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति॥

अर्थः—योग्यता, वीप्सा, पदार्थ का उल्लङ्घन न करना और सादृश्य—ये चार 'यथा' के अर्थ होते हैं।

व्याख्या—'यथा' के अर्थ में **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास का विधान किया गया है। 'यथा' के चार अर्थ होते हैं। (१) योग्यता। योग्य होना, उचित होना, के अनुसार होना। अथवा—सामर्थ्य वा औचित्य को योग्यता कहते हैं। (२) वीप्सा। व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। गुण या क्रिया के कारण अनेक पदार्थों को व्याप्त कर एक साथ कहने की इच्छा को 'वीप्सा' कहते हैं। (३) पदार्थाऽनतिवृत्ति। अर्थात् उत्तरपद के अर्थ का उल्लङ्घन न करना। (४) सादृश्य, सदृशता, तुल्यता, एकजैसापन। इस तरह इन चार अर्थों में से किसी भी अर्थ में वर्त्तमान अव्यय 'यथा' के अर्थ में स्थित समझा जाता है। ऐसा अव्यय समर्थ सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास को प्राप्त होता है। इन के क्रमशः उदाहरण यथा—

(क) योग्यता अर्थ में—

लौकिकविग्रह—रूपस्य योग्यम् अनुरूपम् (रूप के योग्य)। अलौकिकविग्रह—रूप ङस्+अनु। यहां अलौकिकविग्रह में 'अनु' अव्यय योग्य अर्थ में वर्त्तमान है अतः यह '**यथा**' के अर्थ में स्थित समझा जायेगा। इस अव्यय का 'रूप ङस्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धिव्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा०** (९०८) सूत्र से नित्य अव्ययीभावसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' के बोध्य 'अनु' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात करने पर 'अनु+रूप ङस्' हुआ। पुनः **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—अनुरूप। अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँपों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर उसे पूर्ववत् अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः**

(१३५) से पूर्वरूप करने से 'अनुरूपम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अस्य वरस्यानुरूप-मियं कन्या । अनुरूपमस्य दानम् ।

इसीप्रकार—गुणानां योग्यम् अनुगुणम्, अनुकूलम् आदि प्रयोग जानने चाहियें। यक्षानुरूपो बलिः—इत्यादौ तु नायं समासः किन्तु 'अनुगतं रूपं यस्य' इत्यादिप्रकारेण बहुव्रीहिरेव ।

(ख) वीप्सा अर्थ में—

लौकिकविग्रह—अर्थम् अर्थम् प्रति प्रत्यर्थम् (प्रत्येक अर्थ के प्रति) । अलौकिक-विग्रह—अर्थ अम् + प्रति । यहां अलौकिकविग्रह में 'प्रति' अव्यय वीप्सा अर्थ में विद्यमान होने से 'यथा' के अर्थ में स्थित है अतः इस का 'अर्थ अम्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा०** (९०८) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास हो कर पूर्ववत् 'प्रति' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्व-निपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक्, **इको यणचि** (१५) से यण् तथा अन्त में विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में सुँ को अम् आदेश और **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'प्रत्यर्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । प्रत्यर्थं शब्दा निविशन्ते ।

इसीप्रकार—दिने दिने प्रतिदिनम् । पादे पादे प्रतिपादम् । गृहे गृहे प्रतिगृहम् । मासे मासे प्रतिमासम् । एकम् एकम् प्रत्येकम् । **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६.३.१०८), यानि यानि उपदिष्टानि यथोपदिष्टम् । वीप्सायामव्ययीभाव इति न्यास-कारहरदत्तादयः । ये ये चौरा यथाचौरम्, यथाचौरं बध्नाति । यथापण्डितं सत्करोति । ये ये वृद्धा यथावृद्धम् । यथावृद्धं ब्राह्मणान् आमन्त्रयति । वीप्सा अर्थ में 'यावत्' अव्यय का भी प्रयोग माधव ने धातुवृत्ति में किया है—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते, भोजने भोजने सन्निधत्ते (भोजन भोजन पर उपस्थित हो जाता है)—देखें 'ष्ठा' धातु पर धातुवृत्ति । प्रक्रियासर्वस्व में भी—यावद्गोपि कृष्णो दृश्यते ।

नोट—लौकिकविग्रह में वीप्सा को द्योतित करने के लिये **नित्य-वीप्सयोः** (८८६) सूत्रद्वारा द्वित्व हो जाता है । **लक्षणेत्थंभूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः** (१.४.८९) सूत्र से 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो कर उस के योग में द्वितीया विभक्ति की जाती है । परन्तु अलौकिकविग्रह में समास से ही प्रतिशब्द के द्वारा वीप्सा व्यक्त होती है अतः द्वित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । यहां यह भी ध्यातव्य है कि वीप्सा अर्थ में यह समास वैकल्पिक है, तभी तो भाष्यकार ने **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१२५) सूत्र के भाष्य में 'अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्' ऐसा प्रयोग किया है ।

(ग) पदार्थाऽनतिवृत्ति अर्थ में—

पदस्यार्थः पदार्थः, न अतिवृत्तिः—अनतिवृत्तिः । पदार्थस्य अनतिवृत्तिः पदार्था-नतिवृत्तिः, पदार्थस्यानुल्लङ्घनमित्यर्थः । उत्तरपद के अर्थ का उल्लङ्घन न करना 'पदार्थानतिवृत्ति' होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शक्तिम् अनतिक्रम्य[1] यथाशक्ति (शक्ति को न लाङ्घना, मानो शक्ति सामने स्थित है उस से पूर्व पूर्व रहना, शक्ति के अनुसार)। अलौकिकविग्रह—शक्ति अम् + यथा। यहां अलौकिकविग्रह में 'यथा' अव्यय पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में विद्यमान है अतः इस का 'शक्ति अम्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथा०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'यथा' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँप् (अम्) का लुक् तथा अन्त में **अव्ययीभावश्च** (३७१) से अव्ययीभाव की अव्ययसञ्ज्ञा और **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा 'सुँ' का लुक् करने पर 'यथाशक्ति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कार्यं कुर्याद् यथाशक्ति (अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिये)।

इसीप्रकार—मतिमनतिक्रम्य यथामति। बुद्धिमनतिक्रम्य यथाबुद्धि। कुलमनतिक्रम्य यथाकुलम्। मर्यादामनतिक्रम्य यथामर्यादम्। रुचिमनतिक्रम्य यथारुचि। पूर्वमनतिक्रम्य यथापूर्वम्। **सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत्**—(मनु० ११.१८७)। उचितमनतिक्रम्य यथोचितम्। **आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद् यथोचितम्**—(हितोप० १.५७)। इस समास के सुन्दर उदाहरण कालिदास के निम्नस्थ श्लोक में पाये जाते हैं—

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥ (रघुवंश १.६)

विधिमनतिक्रम्य यथाविधि, यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम्। काममनतिक्रम्य यथाकामम्, यथाकामम् अर्चिता अर्थिनो यैस्तेषाम्। अपराधमनतिक्रम्य यथापराधम्, यथापराधं दण्डो येषां तेषाम्। कालमनतिक्रम्य यथाकालम्, यथाकालं प्रबोधिनाम्। रघूणाम् अन्वयं (वंशम्) वक्ष्ये—इत्यग्रिमेणान्वयः।

(घ) सादृश्य = समानता = तुल्यता अर्थ में—

लौकिकविग्रह—हरेः सादृश्यं सहरि (हरि की समानता)। अलौकिकविग्रह—हरि टा + सह[2]। यहां 'सह' अव्यय 'यथा' के अर्थ 'सादृश्य' में वर्त्तमान है अतः इस का 'हरि टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथा०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'सह' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा

---

१. यहां पूर्वकालिक क्त्वाप्रत्यय नहीं है किन्तु **पराऽवरयोगे च** (३.४.२०) द्वारा भाव में क्त्वा हुआ है, जिसे बाद में ल्यप् हो गया है। अतः 'अनतिक्रम्य' का अर्थ है—अनुल्लङ्घनम्।

२. केचित्तु—षष्ठ्यन्तेनापि समासः। **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२.३.१९) इत्यत्र प्रसिद्धतया साहित्यविद्यमानत्ववाचिनः सहशब्दस्यैव ग्रहणात् परत्वेन **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (२.३.७२) इत्यस्य न्यायत्वाच्चेत्याहुः।

सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से समास के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने पर 'सहहरि'। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१४) **अव्ययीभावे चाऽकाले** ।६।३।८०॥

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि । ज्येष्ठस्याऽऽनुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत् सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्त्राणां सम्पत्तिः सक्षत्त्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि (अधीते) ॥

अर्थः—अव्ययीभावसमास में 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो परन्तु कालविशेषवाचक शब्द यदि उत्तरपद में हो तो यह आदेश न हो।

व्याख्या—अव्ययीभावे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अकाले ।७।१। सहस्य ।६।१। सः ।१।१। (**सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्** से) । उत्तरपदे ।७।१। (यह अधिकृत है) । न काले—अकाले, नञ्तत्पुरुषः । 'काल' से यहां कालशब्द का ग्रहण नहीं होता अपितु कालविशेषवाची 'पूर्वाह्ण' आदि शब्दों का ग्रहण अभिप्रेत है । अर्थः—(अव्ययीभावे) अव्ययीभाव समास में (च) भी (सहस्य) 'सह' शब्द के स्थान पर (सः) 'स' यह आदेश हो जाता है परन्तु (अकाले उत्तरपदे) कालविशेषवाची उत्तरपद परे हो तो नहीं होता। 'स' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा 'सह' के स्थान पर सर्वादेश होता है । उदाहरण यथा—

'सहहरि' यहां सादृश्य अर्थ में अव्ययीभावसमास हुआ है, कालविशेष का वाचक कोई शब्द उत्तरपद में नहीं है, अतः **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) इस प्रकृतसूत्र से 'सह' के स्थान पर 'स' यह सर्वादेश हो कर 'सहरि' बना[1]। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्याय के अनुसार प्रातिपदिकत्व के अक्षुण्ण रहने से इस से परे स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्रद्वारा अव्ययसंज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) सूत्र से 'सुँ' का लुक् करने पर 'सहरि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'यथा हरिस्तथा हरः' इत्यादियों में यद्यपि 'यथा' अव्यय सादृश्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है तथापि **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७)[2] इस नियम के कारण वह समास को प्राप्त नहीं होता । अतः मूल में सादृश्यवाचक 'सह' अव्यय का ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

---

१. सूत्र में 'अकाले' कथन के कारण 'सहपूर्वाह्णम्' आदियों में कालविशेषवाची के उत्तरपद में रहने से अव्ययीभावसमास के होते हुए भी 'सह' को 'स' आदेश नहीं होता । यहां साकल्य अर्थ में अव्ययीभावसमास हुआ है—पूर्वाह्णमप्यपरित्यज्येति सहपूर्वाह्णम् ।

२. **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७)—सादृश्यभिन्न अर्थ में ही 'यथा' अव्यय, समर्थ सुँबन्त के साथ अव्ययीभाव-समास को प्राप्त होता है ।

(११) आनुपूर्व्य अर्थ में—

अनुपूर्वम् अनुक्रमः, तस्य भावः—आनुपूर्व्यम्[1] (पूर्वता का क्रम)। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण[2] अनुज्येष्ठम् (ज्येष्ठ की पूर्वता के क्रमानुसार अर्थात् पहले सब से बड़ा, फिर उस से छोटा, फिर उस से छोटा इत्यादि क्रम के अनुसार)। अलौकिकविग्रह—ज्येष्ठ ङस्+अनु। यहां अलौकिकविग्रह में 'अनु' अव्यय आनुपूर्व्य (पूर्वता के क्रम) अर्थ में स्थित है अतः इस का 'ज्येष्ठ ङस्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रतिशब्द-प्रादुर्भाव-पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य०** (६०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समास-विधायक इस सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'अनु' की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात हो जाता है—अनु+ज्येष्ठ ङस्। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य ('टा' प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश और पूर्वरूप) करने से 'अनुज्येष्ठम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रयोग यथा—अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः। अनुज्येष्ठं प्रणमति माणवकः। इसी प्रकार—वृद्धस्याऽऽनुपूर्व्येण अनुवृद्धम् इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें।

(१२) यौगपद्य (एककालता) अर्थ में—

युगपद्=एक साथ=एक ही समय में। तस्य भावो यौगपद्यम्। एककालता =एक ही समय होना, एक साथ होना। इस अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चक्रेण युगपत् सचक्रम् (चक्र के साथ एक ही काल में)। अलौकिकविग्रह—चक्र टा+सह। यहां अलौकिकविग्रह मे 'सह' अव्यय यौगपद्य-विशिष्ट साहित्य (सहभाव) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः इस का 'चक्र टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य०** (६०८) सूत्र से नित्य अव्ययीभाव-समास हो कर पूर्ववत् 'सह' अव्यय की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा **अव्ययीभावे चाऽकाले**

---

१. ब्राह्मणादित्वाद् भावे ष्यञ्। स्वार्थे ष्यञ् इति नागेशादयः।

२. लौकिकविग्रह में 'आनुपूर्व्येण' ऐसा तृतीयान्त-प्रयोग क्यों किया जाता है, 'ज्येष्ठ-स्यानुपूर्व्यम्' इस तरह प्रथमान्त प्रयोग क्यों नहीं होता ? इस पर नागेशभट्ट यह उत्तर देते हैं कि 'अनुज्येष्ठं नमति' आदि वाक्यों में इस समस्तशब्द का सर्वत्र करणपूर्वक ही अन्वय देखा जाता है अतः यहां विग्रह में तृतीयान्त का प्रयोग किया जाता है। काशिकाकार ने भी यहां 'अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः' वाक्य की व्याख्या करते हुए 'ज्येष्ठस्यानुपूर्व्या भवन्तः प्रविशन्तु' इस प्रकार तृतीयान्त का ही प्रयोग किया है।

(६१४) से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश होकर विभक्तिकार्य करने पर 'सचक्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सचक्रं शङ्खं धेहि—प्रक्रियाकौमुदी (चक्र के साथ शङ्ख को एक ही समय धारण करो[1])।

नोट—स्वयं 'युगपत्' अव्यय का सुँबन्त के साथ यह समास नहीं होता, अत एव 'चक्रेण युगपत्' ऐसा स्वपदविग्रह मूल में दर्शाया गया है। शेखरकार नागेशभट्ट का कथन है कि **अव्ययं विभक्ति॰** (६०८) सूत्र में जिस जिस पद के द्वारा जिस जिस अर्थ में समास का विधान किया गया है तत्तत्पदगत अव्यय का सुँबन्त के साथ वह समास नहीं होता। यथा यहां सूत्रगत 'यौगपद्य' में युगपद् अव्यय का प्रयोग हुआ है, तो इस अर्थ में स्वयं 'युगपत्' अव्यय का सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास न होगा। तभी तो मूल में 'चक्रेण युगपत्' ऐसा विग्रह दर्शाया गया है। अन्यथा यौगपद्य अर्थ में वर्त्तमान 'युगपत्' का सुँबन्त के साथ नित्यसमास होने से स्वपदविग्रह दुर्लभ होता। इसीप्रकार 'पश्चात्' पदद्वारा 'पश्चात्' के अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का समासविधान किया गया है, तो 'पश्चात्' अव्यय स्वयं सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त न होगा। इसी तरह 'अत्यय' शब्द में 'अति' का प्रयोग हुआ है, तो 'अति' अव्यय अत्यय अर्थ में समास को प्राप्त न होगा। अतः 'अतिहिमम्' आदि उदाहरण अयुक्त हैं, यहां 'निर्हिमम्' आदि उदाहरण ही देने चाहियें जैसा कि काशिकावृत्ति में पाया जाता है। 'यथा' का सूत्र में उल्लेख है अतः 'यथा' के अर्थ में स्वयं 'यथा' अव्यय भी इस सूत्र के द्वारा समास को प्राप्त न होगा। यथाशक्ति, यथोपदिष्टम् आदि उदाहरण यहां नहीं दिये जा सकते। इन की सिद्धि **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७) सूत्रद्वारा करनी चाहिये। एवं 'समृद्धि' अर्थ में 'सम्' अव्यय भी समास को प्राप्त न होगा, अतः 'सुमद्रम्' उदाहरण ही युक्त है, 'सम्मद्रम्' नहीं। विस्तार के लिये शेखरद्वय का अवलोकन करें।

(१३) 'सादृश्य' अर्थ में—

पीछे 'यथा' के अर्थों में अव्ययीभावसमास के विधान की व्याख्या करते हुए 'सादृश्य' को भी 'यथा' के अर्थों में गिनाया जा चुका है, तो इस अर्थ में वर्त्तमान अव्यय

---

१. इस उदाहरण की व्याख्या करते हुए भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषश्रीकृष्ण प्रक्रिया-कौमुदी की प्रकाशव्याख्या में इस प्रकार लिखते हैं—

शङ्खं चक्रेण युगपद् धारयेत्यर्थः। अत्र यौगपद्यमर्थः प्रकरणादिगम्यः, तद्विशिष्टसाहित्यं यदा सहशब्दः प्रतिपादयति तदा यौगपद्यवृत्तित्वात् समासो भवति। यदा तु साहित्यमात्रे वर्त्तते तदा न भवति—पुत्रेण सहागत इति। साहित्यप्रधाने चायमव्ययीभावः। साहित्यवद्द्रव्यप्राधान्ये तु **तेन सहेति तुल्ययोगे** (२.२.२८) इति बहुव्रीहिर्वक्ष्यति सपुत्र इति।

आचार्य हेमचन्द्र अपने व्याकरण की स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति में 'सचक्रं धेहि' उदाहरण का 'अनेक चक्रों को एक साथ धारण करो' ऐसा अर्थ भी करते हैं। उन के मतानुसार इस अर्थ के लिये 'चक्रैः युगपत्' ऐसा विग्रह करना चाहिये

का सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास पूर्वतः सिद्ध है ही, पुनः यहां 'सादृश्य' अर्थ में किस लिये समासविधान किया जा रहा है ? इस का उत्तर यह है कि जहां सादृश्य गौण हो वहां पर भी यह समास प्रवृत्त हो जाये इसलिये 'सादृश्य' अर्थ का दुबारा ग्रहण किया गया है। जब हम कहते हैं कि 'वह अपने मित्र के सदृश है' तो यहां सादृश्य गौण होता है और सादृश्यवान् द्रव्य ही प्रधान होता है। इस में भी समास का विधान करने के लिये यहां दुबारा सादृश्य का उल्लेख किया गया है[1]। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह---सख्या सदृशः ससखि (मित्र के समान)। अलौकिकविग्रह—सखि टा + सह। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय सदृश अर्थ में वर्त्तमान है अतः इस का 'सखि टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्था-भावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य०** (९०८) सूत्र द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः इस से बोध्य 'सह' की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो उस का पूर्वनिपात हो जाता है—सह + सखि टा। अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, उस के अवयव सुँप् (टा) का लुक् तथा **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) से 'सह' को 'स' सर्वादेश करने पर—ससखि। प्रातिपदिकत्व के कारण स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एक-वचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर अव्ययसञ्ज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् करने पर 'ससखि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रकृत्या ससखि देवदत्तः (देवदत्त स्वभाव से मित्र के सदृश है)। सकृष्णं प्रद्युम्नः (प्रद्युम्न अपने पिता कृष्ण के सदृश है)।

(१४) 'सम्पत्ति' अर्थ में---

पीछे इसी सूत्र में समृद्धि अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास विधान किया जा चुका है। सम्पत्ति भी समृद्धि ही हुआ करती है तो पुनः इस का पृथक् उल्लेख क्यों किया गया है ? इस का उत्तर यह है कि 'ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः, अनुरूप आत्मभावः सम्पत्तिः'। अर्थात् समृद्धि और सम्पत्ति में अन्तर होता है। ऋद्धि (धन-धान्य) के आधिक्य को 'समृद्धि' कहते हैं परन्तु योग्य स्वोचित भाव (प्रवृत्तिनिमित्त) को 'सम्पत्ति' कहना यहां अभीष्ट है[2]। उदाहरण यथा—

---

१. इस तरह सूत्रगत 'सादृश्य' में 'स्वार्थे ष्यञ्' समझना चाहिये। [अन्ये तु 'गोबलीवर्दन्यायेन यथार्थशब्देन त्रयाणामेव ग्रहणं न सादृश्यस्य। 'ससखि' इत्यादेस्तु सादृश्यशक्तस्य तद्वति लक्षणा। अत एव **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७) इति सूत्रे भाष्ये **सादृश्यसम्पत्ति०** इति प्राप्तस्य निषेध इत्युक्तम्' इत्याहुः।]

२. अनुरूपः = योग्यः, आत्मभावः—आत्मनः = समस्यमानोत्तरपदस्य भावः = प्रवृत्ति-निमित्तम्। क्षत्रत्वादिः सम्पत्तिरित्यर्थः। सक्षत्रमित्यत्र क्षत्रियाणां योग्यं क्षत्रत्वमिति बृहच्छब्देन्दुशेखरे नागेशः।

लौकिकविग्रह—क्षत्त्राणां सम्पत्तिः सक्षत्त्रम् (क्षत्रियों का स्वानुरूप क्षत्त्रियत्व)। अलौकिकविग्रह—क्षत्त्र आम् + सह[1]। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय सम्पत्ति (अनुरूप आत्मभाव) अर्थ में विद्यमान है अतः इस का 'क्षत्त्र आम्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धयर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद 'अव्ययम्' है अतः तद्बोध्य 'सह' की उपसर्जनसंज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात करने पर—सह + क्षत्त्र आम्। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् हो **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) द्वारा 'सह' को 'स' सर्वादेश कर विभक्ति-कार्य करने से 'सक्षत्त्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सक्षत्त्रमिक्ष्वाकूणाम् (इक्ष्वाकुवंशीयों का स्वोचित क्षत्त्रियत्व)। इसीप्रकार—सब्रह्म बाभ्रवाणाम् (बभ्रुवंशीयों का स्वोचित ब्रह्मभाव)। सवृत्तं मुनीनाम् (मुनियों का स्वानुरूप सदाचारत्व)।

(१५) साकल्य अर्थ में—

कलाः = अवयवाः, कलाभिः सह वर्त्तत इति सकलम्। सकलस्य भावः साकल्यम् (सम्पूर्णता, अशेषता, बाकी न रहना)। साकल्य अर्थ में तात्पर्यतः वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास हो जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—तृणमपि अपरित्यज्य सतृणम् अत्ति (तिनके को भी छोड़े विना अर्थात् सम्पूर्ण भोज्य खाता है)। अलौकिकविग्रह—तृण टा + सह। यहां अलौकिक-विग्रह में 'सह' अव्यय यद्यपि 'न छोड़ना' अर्थ में विद्यमान है तथापि तात्पर्यतः साकल्य अर्थ को व्यक्त करता है। अतः इस अव्यय का 'तृण टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धयर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव--पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्य०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर अव्यय की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) से 'सह' के स्थान पर 'स' सर्वादेश तथा अन्त में प्रथमैकवचन सुँ को **नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से अम् आदेश कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'सतृणम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सतृणम् अत्ति (तिनके को भी छोड़े विना खाता है)। जो तिनके को भी नहीं छोड़ता भला वह भक्ष्य को छोड़ सकेगा? कभी नहीं। सम्पूर्ण भक्ष्य को खाता है—यह यहां तात्पर्य पर्यवसित होता है। इसीप्रकार—सबुसमत्ति, सलेशम्भोजनमभ्यवहरति आदि जानने चाहियें।

---

१. कुछ वैयाकरण अलौकिकविग्रह में यहां 'क्षत्त्र भिस् + सह', इस प्रकार भी रखा करते हैं। लोक में इस समास को छोड़ 'सह' का सम्पत्ति अर्थ अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। 'क्षत्त्र' शब्द क्षत्त्रिय का पर्याय है—**क्षत्त्रं तु क्षत्त्रियो राजा राजन्यो बाहुसम्भवः**—इति हैमः।

विशेष—साकल्य अर्थ का 'सतृणम्' यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है। काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र 'सतृणम् अभ्यवहरति' उदाहृत है। इस उदाहरण की हम ने परम्परानुसार व्याख्या दर्शाई है। परन्तु यह व्याख्या कुछ अधिक सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं होती। हमारे विचार में यहां तृणशब्द तिनके का वाचक नहीं, अपितु लक्षणाद्वारा लेश या स्वल्पांश को लक्षित करता है। 'सह' अव्यय यहां परित्यागविहीन साहित्य (सहभाव) अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार 'सतृणम् अत्ति' का अर्थ हुआ—लेशमात्र अर्थात् जरा सा भी न छोड़ते हुए भक्षण करता है, दूसरे शब्दों में पूरे का पूरा भोज्य ग्रहण करता है। यह स्थल अभी और अधिक अनुसन्धातव्य है। हम ने केवल एक दिशा सुझाई है।

(१६) अन्त (समाप्ति) अर्थ में—

'हमें इतने तक पढ़ना है' ऐसा निश्चय कर जब किसी ग्रन्थ या प्रकरण आदि का ग्रहण होता है तो इस की अपेक्षा से यहां अन्त (समाप्ति) अभिप्रेत है। इस अन्त अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ समास होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते इति साग्नि अधीते (अग्निग्रन्थ की समाप्ति तक पढ़ता है)[1]। अलौकिकविग्रह—अग्नि टा+सह। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय अन्त अर्थात् समाप्ति अर्थ में प्रयुक्त है[2]। अतः इस का 'अग्नि टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्द-प्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्याऽन्तवचनेषु** (९०८) सूत्र-द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'सह' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात हो—सह+अग्नि टा। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) से 'सह' को 'स' सर्वादेश तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर

---

१. लौकिकविग्रह 'अग्निपर्यन्तम्' इतना मात्र है। शेष सब समझाने के लिये जोड़ा गया है।

२. वस्तुतस्तु अत्रेत्थं बोध्यम्—
अग्निशब्दस्तत्प्रतिपादकग्रन्थे वर्त्तते। तृतीयान्तेन समासः। यद्यपि 'अग्निना सह' इति प्रयोगार्हमेव, तथापि साहित्यमात्रे तथा। अन्तत्वस्यापि विवक्षायान्तु समासो नित्यः। अत एव 'अग्निग्रन्थपर्यन्तम्' इत्यस्वपदविग्रहो दर्शितः। अग्निग्रन्थपर्यन्तमिति बहुव्रीहौ द्वितीयान्तम्। ग्रन्थोऽन्यपदार्थः। 'अधीते' इति क्रियायास्तु न समास-मध्येऽन्तर्भावः, मानाऽभावात्। अन्ते समासविधानेनैव अन्त्यत्वम्। साहित्यञ्च सहशब्दार्थ इत्यवसीयते। इदमेव ध्वनयितुं सहितशब्दघटितं विग्रहमपहाय पर्यन्तशब्द-घटितविग्रहो दर्शितो मूले। अन्त्याग्निग्रन्थसहितमिति बोधः। क्रियाशून्यवाक्यस्यायोग्यत्वाद् 'अधीते' इति क्रियोपादानमिति बृहच्छब्देन्दुशेखरे नागेशः।

'साग्नि' बना । **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्याय के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग मे अध्ययनक्रिया के कर्मत्व के कारण द्वितीया के एकवचन की विवक्षा में अम् प्रत्यय ला कर अव्ययीभाव की अव्यय-सञ्ज्ञा तथा **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (अम्) का लुक् करने से 'साग्नि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। साग्नि अधीते, अग्निग्रन्थ के अन्त = समाप्ति तक पढ़ता है। 'अग्नि' नाम का कोई ग्रन्थ था जो सम्भवतः याज्ञिकप्रक्रियाविषयक अग्निचयन से सम्बन्ध रखता था, अद्यत्वे वह लुप्त हो चुका है । इसीप्रकार—समहाभाष्यमधीते (महाभाष्यग्रन्थ की समाप्ति तक पढ़ता है) । सतद्धितमधीते (तद्धितप्रकरण की समाप्ति तक पढ़ता है) ।

नोट—कुछ लोग शङ्का किया करते हैं कि **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्र में 'अन्त' अर्थ के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं, साकल्य अर्थ से ही उस की गतार्थता सिद्ध हो सकती है । परन्तु तनिक ध्यान देने से उन का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि 'अन्त' अर्थ में तो परिगृहीत ग्रन्थ या प्रकरण तक की समाप्ति ही विवक्षित होती है और वह समाप्ति अध्ययन के असाकल्य में भी सम्भव हो सकती है परन्तु साकल्य में ऐसा नहीं होता वहां तो केवल सम्पूर्णता ही विवक्षित होती है ।

इस प्रकार **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्रद्वारा विभक्ति आदि सोलह अर्थों में वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ समास दर्शाया गया है । उपर्युक्त सब उदाहरणों में **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) से अव्ययीभावसमास, प्रथमानिर्दिष्ट की उपसर्जन-संज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक्, पुनः नये सिरे से विभक्त्युत्पत्ति तथा अव्ययसंज्ञा हो जाने से सुँब्लुक् (अथवा यथासम्भव अम् आदेश और पूर्वरूप) आदि कार्य हो जाते हैं । किञ्च इस समास के नित्य होने से लौकिकविग्रह भी अस्वपद ही हुआ करता है ।

अब समाहार अर्थ में अव्ययीभावसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१५) नदीभिश्च ।२।१।१९॥

नदीभिः सह सङ्ख्या समस्यते । समाहारे चायमिष्यते । पञ्चगङ्गम् । द्वियमुनम् ॥

अर्थः—सङ्ख्यावाची सुँबन्त नदीवाचक सुबन्तों के साथ अव्ययीभावसमास को प्राप्त होता है । **समाहारे चायमिष्यते**—यह समास समाहार अर्थ में ही इष्ट है ।

व्याख्या—नदीभिः ।३।३। च इत्यव्ययपदम् । चकारात् पूर्वतः 'संख्या' इत्यनुकृष्यते । सङ्ख्या ।१।१। (**संख्या वंश्येन** सूत्र से) । **सुँप्, सह सुँपा** (९०६), **प्राक्कडारात् समासः** (९०५), **अव्ययीभावः** (९०७)—ये सब पीछे से अधिकृत हैं । 'नदीभिः' में बहुवचनग्रहण के कारण नदीसञ्ज्ञकों (गौरी आदि) तथा केवल नदीशब्द का यहां ग्रहण नहीं किया जाता, अपितु नद्यर्थकों का ही ग्रहण होता है । नद्यर्थकों में गङ्गा, यमुना आदि नदीविशेषों का या स्वयं नद्यर्थक नदीशब्द का भी ग्रहण हो जाता है । अर्थः—

(संख्या) संख्यावाची (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (नदीभिः) नद्यर्थक (सुँभिः=सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसंज्ञक होता है। भाष्यकार की इस सूत्र पर इष्टि है—**समाहारे चायमिष्यते**[1]। अर्थात् यह समास समाहार (समूह, मिलित समुदाय, इकट्ठ) अर्थ में ही इष्ट है। ध्यान रहे कि समाहार अर्थ में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) तथा **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) इन वक्ष्यमाण सूत्रों से यहां द्विगुसमास प्राप्त था उस का अपवाद यह अव्ययीभावसमास कहा गया है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः पञ्चगङ्गम् (पाञ्च गङ्गाओं=गङ्गधाराओं का समूह)। **अलौकिकविग्रह**—पञ्चन् आम्+गङ्गा आम्। यहां अलौकिकविग्रह में 'पञ्चन् आम्' इस संख्यावाची सुँबन्त का 'गङ्गा आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **नदीभिश्च** (९१५) सूत्र से अव्ययीभावसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में पीछे से अनुवर्त्तित 'संख्या' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'पञ्चन् आम्' की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) सूत्रद्वारा उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—पञ्चन् आम्+गङ्गा आम्। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (दोनों 'आम्' प्रत्ययों) का लुक् हो—पञ्चन् गङ्गा। सुँप् के लुप्त हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षणद्वारा पञ्चन् की पदसंज्ञा रहने के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पञ्चन् के पदान्त नकार का लोप हो—पञ्चगङ्गा। पुनः **अव्ययीभावश्च** (९११) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास को नपुंसक मान लेने से **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा नपुंसक के अन्त को ह्रस्व आदेश हो—पञ्चगङ्ग। अब प्रातिपदिकत्वात् 'पञ्चगङ्ग' से नये सिरे से विभक्तियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय आ कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से प्राप्त सुँब्लुक् का बाध कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर '**पञ्चगङ्गम्**' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्वयोर्यमुनयोः समाहारः द्वियमुनम् (दो यमुनाओं=यमुनाधाराओं का समूह)। अलौकिकविग्रह—द्वि ओस्+यमुना ओस्। यहां अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र से समास, संख्यावाची की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा नपुंसकह्रस्व करने पर 'द्वियमुन' बना। अब स्वाद्य

---

१. चशब्द एवार्थकोऽत्र ज्ञेयः। अयं समासः समाहारे एव इष्यते इत्यभिप्रायः।

२. अव्ययीभावसमास को प्रायः पूर्वपदार्थप्रधान कहा जाता है। 'प्रायः' इसलिये कहा गया है कि कहीं कहीं इस का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा प्रकृत 'पञ्चगङ्गम्' आदि अव्ययीभावसमास के उदाहरणों में समाहार की ही प्रधानता देखी जाती है पूर्वपदार्थ की नहीं।

त्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्वियमुनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीतरह— सप्तानां गङ्गानां समाहारः सप्तगङ्गम्। पञ्चानां नदीनां समाहारः पञ्चनदम्। सप्तानां गोदावरीणां समाहारः सप्तगोदावरम्[1]। इत्यादि प्रयोग बनते हैं।

शङ्का—पञ्चगङ्गम्, द्वियमुनम् आदि प्रयोग **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से समाहार अर्थ में द्विगुसमासद्वारा भी सिद्ध किये जा सकते हैं। **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्र से द्विगु को नपुंसक मान कर नपुंसकह्रस्व करने में भी कोई कठिनाई नहीं आती। यदि कहें कि **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) इस वचनानुसार स्त्रीलिङ्ग मान कर **द्विगोः** (१२५७) सूत्र से ङीप् की प्राप्ति होगी तो उस का वारण भी **पात्राद्यन्तस्य न** (वा०) वार्त्तिकद्वारा किया जा सकता है। तो पुनः अव्ययीभावसमासद्वारा इन्हें सिद्ध करने का यत्न क्यों किया गया है?

समाधान—यदि इन प्रयोगों को द्विगुसमासद्वारा सिद्ध किया जायेगा तो कई विभक्तिरूपों में बड़ी गड़बड़ी हो जायेगी। तब 'पञ्चगङ्ग' शब्द से चतुर्थी में 'पञ्चगङ्गाय', षष्ठी में 'पञ्चगङ्गस्य' आदि अनिष्ट रूप बनने लग जायेंगे जब कि हमें इन विभक्तियों में 'पञ्चगङ्गम्' रूप ही अभीष्ट है। अतः मुनि ने इन प्रयोगों को अव्ययीभावद्वारा ही सिद्ध करने का यत्न किया है।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में अव्ययीभावसमास का विधान करने वाले केवल दो ही सूत्र अष्टाध्यायी से उद्धृत किये गये हैं, जिन की व्याख्या ऊपर पूर्णरीत्या की जा चुकी है। यदि विद्यार्थी इन सूत्रों के उदाहरणों और उन की प्रक्रिया को भली-भान्ति समझ कर बुद्धिस्थ कर लें तो अव्ययीभावसमासविधायक निम्नस्थ अन्य सात सूत्रों को समझने में भी उन को कोई कठिनता नहीं होगी।

(१) पारेमध्ये षष्ठ्या वा ।२।१।१७॥

अर्थः—'पार' और 'मध्य' सुँबन्त समर्थ षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास को प्राप्त होते हैं। किञ्च इस समास में इन दोनों (पार और मध्य) शब्दों के अन्त्य वर्ण को एकार आदेश भी हो जाता है। उदाहरण यथा—

गङ्गायाः पारम् पारेगङ्गम्। पारेगङ्गाद् दुग्धमानयति।

गङ्गाया मध्यम् मध्येगङ्गम्। मध्येगङ्गाज्जलमानयति।

---

१. 'पञ्चनदम्' तथा 'सप्तगोदावरम्' दोनों स्थानों पर—

कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरच् प्रत्ययः स्मृतः।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि॥

इस काशिकोक्त (५.४.७५) कारिका से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर उस के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है।

अव्ययीभाव के अभावपक्ष में **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा **वैकल्पिक** तत्पुरुषसमास भी हो जाता है—गङ्गायाः पारं गङ्गापारम् । गङ्गाया मध्यं गङ्गामध्यम् । अव्ययीभावसमास, षष्ठीतत्पुरुषसमास तथा समासों के अभाव में वाक्य—इस प्रकार तीन रूप यहां स्मर्तव्य हैं । साहित्यगत प्रयोग यथा—

हतबन्धुर्जगामासौ ततः शूर्पणखा वनात् ।
पारेसमुद्रं लङ्कायां वसन्तं रावणं पतिम् ।। (भट्टि० ५.४)

समुद्रस्य पारे पारेसमुद्रम् (समुद्र के पार में) ।

(२) **सुप् प्रतिना मात्रार्थे** ।२।१।९।।

अर्थः—मात्रा अर्थात् स्वल्प अर्थ में वर्तमान 'प्रति' अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

शाकस्य लेशः शाकप्रति (शाक का स्वल्पांश) ।

सूपस्य लेशः सूपप्रति (सूप=दाल की स्वल्पमात्रा) ।

न सुखप्रति संसारे (संसार में सुख का लेश भी नहीं है) ।

नास्ति सत्यप्रत्यस्य भाषणे (इस के भाषण में लेशमात्र भी सत्य नहीं है) ।

यहां अव्ययीभावसमास में उत्तरपद का प्राधान्य पाया जाता है ।

(३) **आङ् मर्यादाऽभिविध्योः** २।१।१२।।

अर्थः—मर्यादा या अभिविधि अर्थ में वर्त्तमान 'आङ्' अव्यय का पञ्चम्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः । समासाभावे—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । यदि मर्यादा अर्थ विवक्षित होगा तो वाक्य का अर्थ होगा—पाटलिपुत्र तक अर्थात् पाटलिपुत्र को छोड़ कर उस से पूर्व पूर्व वर्षा हुई । यदि अभिविधि अर्थ विवक्षित होगा तो वाक्यार्थ होगा—पाटलिपुत्र तक अर्थात् पाटलिपुत्र को भी व्याप कर वृष्टि हुई—पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई । तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेति अभिविधिः ।

मर्यादा अर्थ में दूसरा उदाहरण—आमुक्ति संसारः । समासाभावे—आ मुक्तेः संसारः । मोक्ष तक संसार=संसरण=आवागमन होता रहता है । अर्थात् मोक्ष से पूर्व पूर्व आवागमन होता है मोक्ष होने पर नहीं ।

अभिविधि अर्थ में दूसरा उदाहरण—आकुमारं यशः पाणिनेः । समासाभावे—आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । पाणिनि का यश बच्चों तक फैला हुआ है अर्थात् बच्चों में भी फैला हुआ है ।

इस सूत्र के साहित्यगत उदाहरण यथा—

इत्या प्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ।। (रघु० १.९१)

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ।। (रघु० १.५)

(४) **अप-परि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या** ।२।१।११।।

अर्थः—अप, परि, बहिस् और अञ्चुँ (क्विँन्प्रत्ययान्त)—इन सुँबन्तों का पञ्चम्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण यथा—

अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः। समासाऽभावे—अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। परित्रिगर्त्तं वृष्टो देवः। समासाऽभावे—परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। त्रिगर्त्त (गढ़वाल) देश को छोड़ कर वृष्टि हुई। 'अप' और 'परि' वर्जन अर्थ में यहां प्रयुक्त हुए हैं—**अपपरी वर्जने** (१.४.८७)।

बहिर्ग्रामम्। समासाऽभावे—बहिर्ग्रामात्। गांव से बाहर।

प्राग्ग्रामम्। समासाऽभावे—प्राग्ग्रामात्। गांव से पहले या पूर्व में।

(५) **यावदवधारणे** ।२।१।८।।

अर्थः—अवधारण अर्थात् परिमाण की इयत्ता का निश्चय गम्य हो तो 'यावत्' अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण यथा—

यावदमत्रं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व। यावन्ति अमत्राणि (पात्राणि) तावतो ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्वेत्यर्थः। जितने पात्र हैं उतने ब्राह्मणों को आमन्त्रित करो। यह समास नित्य है अतः समास में तो 'यावत्' अव्यय का प्रयोग होता है परन्तु लौकिक-विग्रह में तद्धितवतुँप् (**यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप्** ५.२.३९) प्रत्ययान्त यावत् और तावत् शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इस से समास का अस्वपदविग्रहत्व बना रहता है। समास अवधारण में किया जाता है अतः उस में 'तावत्' का अन्तर्भाव रहता है, वह केवल लौकिकविग्रह में ही प्रयुक्त होता है। कुछ अन्य उदाहरण यथा—

यावच्छ्लोकम् अच्युतप्रणामाः। यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इत्यर्थः। **यावज्जीवं जडो दहेत्** (जीवनं जीवः, भावे घञ्)। जब तक जीवन रहता है तब तक मूर्ख जलाता रहता है। **यावदर्थपदां**[1] **वाचमेवमादाय माधवः। विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः** (माघ० २.१३)।

अवधारणे किम्? यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्। कियद् दत्तं कियद् भुक्तं वा नावधारयतीत्यर्थः।

(६) **अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्** ।२।१।२०।।

अर्थः—सञ्ज्ञा गम्यमान होने पर अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त का नदी-वाचक सुँबन्तों के साथ अव्ययीभावसमास हो जाता है। वाक्य से सञ्ज्ञाओं का बोध नहीं हुआ करता अतः यह अविग्रह नित्यसमास है। उदाहरण यथा—

उन्मत्तगङ्गम्, लोहितगङ्गम्, कृष्णगङ्गम्, शनैर्गङ्गम्, तूष्णींगङ्गम् इत्यादि। ये

---

१. यावान् अर्थः—यावदर्थम्। अव्ययीभावसमासः। यावदर्थं पदानि यस्यास्ताम्। अभिधेयसम्मिताक्षरामित्यर्थः।

सब गङ्गातटवर्त्ती प्रदेशविशेषों की संज्ञाएं हैं। 'उन्मत्ता सुँ+गङ्गा सुँ' इत्यादि अलौकिकविग्रहों में **स्त्रियाः पुंवद्भाषित०** (६६६) सूत्रद्वारा पूर्वपद को पुंवद्भाव हो जाता है। उत्तरपद में नपुंसकह्रस्व की प्रवृत्ति होती है।

(७) **लक्षणेनाऽभिप्रती आभिमुख्ये** ।२।१।१३॥

अर्थः—आभिमुख्य (सम्मुखता) अर्थ में 'अभि' और 'प्रति' अव्ययों का चिह्नवाची सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण **यथा**—

अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। समासाऽभावे—अग्निमभि शलभाः पतन्ति। अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति। पतङ्गे अग्नि को लक्ष्य कर तदभिमुख गिरते हैं। इसी प्रकार—अभ्ययोध्यं तद्बलमगात् (भट्टि० २.४६)। अयोध्यामभि अभ्ययोध्यम्।

अब अव्ययीभावसमासोपयोगी समासान्त प्रत्ययों का वर्णन करने से पूर्व 'तद्धित' सञ्ज्ञा का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(६१६) **तद्धिताः** ।४।१।७६॥

आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जो जो प्रत्यय कहे जायें वे तद्धितसंज्ञक हों।

व्याख्या—तद्धिताः।१।३। प्रत्ययाः।१।३। (पीछे से अधिकृत **प्रत्ययः** का वचनविपरिणाम हो जाता है)। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार अष्टाध्यायी में पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक जाता है। यहां से ले कर सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय तथा पूरे का पूरा पञ्चम अध्याय इस तद्धितसञ्ज्ञा का अधिकारक्षेत्र है। अर्थः—यहां से ले कर पञ्चम अध्याय के अन्त तक (प्रत्ययाः) जो प्रत्यय विधान किये जायें वे (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक हों।

तद्धितसञ्ज्ञा करने के अनेक प्रयोजन हैं। तद्धितप्रत्ययान्त की **कृत्तद्धित०** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण तद्धितप्रत्ययों के आदि लकार, शकार और कवर्ग वर्णों की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। तद्धित परे होने पर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप हो जाता है। तद्धित प्रत्यय परे रहते **नस्तद्धिते** (६१६) द्वारा भसञ्ज्ञक अन् का लोप हो जाता है। ञित् या णित् तद्धित के परे रहते **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार तद्धितसंज्ञा करने के अनेक प्रयोजन हैं।

तद्धिताः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है, **प्रत्ययः** (१२०) की तरह एकवचन का प्रयोग नहीं किया गया। वैयाकरणों का कहना है कि अनुक्त तद्धितों के ग्रहण के लिये आचार्य ने बहुवचन का आश्रय लिया है। 'तद्धित' यह प्राचीन आचार्यों

की संज्ञा है जिसे पाणिनि ने अपने शास्त्र में स्वीकृत कर लिया है[1] ।

इस **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में एक अन्य अवान्तर अधिकार-सूत्र पढ़ा गया है—**समासान्ताः** (५.४.६८) । अर्थः—यहां से ले कर पाद की समाप्ति तक अष्टाध्यायी में जिस जिस समास से जो जो प्रत्यय विधान किया जायेगा वह वह प्रत्यय उस उस समास का अन्तावयव (चरमावयव) माना जायेगा । तात्पर्य यह है कि समास के साथ उस की भी अन्त्यावयवरूप से गणना होगी, समास से वह पृथक् नहीं माना जायेगा, समास के ग्रहण से उस का भी ग्रहण होगा । इस से स्वादियों की उत्पत्ति के समय या स्त्रीप्रत्यय करते समय तत्तत्समासान्तप्रत्ययविशिष्ट को ही प्रातिपदिक मान कर उस से परे प्रत्ययों की उत्पत्ति होगी । यह सब आगे के उदाहरणों में स्पष्ट हो जायेगा ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास में समासान्त टच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(९१७) अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७॥

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपम् उपशरदम् । प्रतिविपाशम् । जराया जरस् (गणसूत्रम्) । उपजरसम् इत्यादि ॥

अर्थः—अव्ययीभावसमास में शरद् आदि प्रातिपदिकों से परे तद्धितसञ्ज्ञक टच् प्रत्यय हो और वह इस समास का अन्तावयव (अन्तिम हिस्सा) भी समझा जाये । **जराया जरस्** (गणसूत्र)—जराशब्द के स्थान पर जरस् आदेश भी हो जाता है ।

व्याख्या—अव्ययीभावे ।७।१। शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।३। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से) । **तद्धिताः**, **समासान्ताः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**, ङ्याप्प्रातिपदिकात्—ये सब पूर्वतः ही अधिकृत हैं । यथोचित वचनविपरिणाम से ये यहां अन्वित होते हैं । शरत् (शरच्छब्दः) प्रभृतिर् (आदिः) येषान्ते शरत्प्रभृतयः, तेभ्यः = शरत्प्रभृतिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । 'प्रभृति' शब्द के विषय में पीछे (५५२) सूत्र पर एक फुटनोट लिख चुके हैं वह यहां पर भी पुनः ध्यातव्य है । अर्थः—(अव्ययीभावे) अव्ययीभावसमास में (शरत्प्रभृतिभ्यः) शरद् आदि (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से (परः) परे (टच्) टच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता हुआ

---

१. न्यासकार 'तद्धित' को अन्वर्थसंज्ञा मानते हुए इस प्रकार लिखते हैं—"महत्याः सञ्ज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनम्, अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत । तेभ्यो हिताः—तद्धिताः । तदित्यनेन लौकिका वैदिकाश्च शब्दाः प्रत्यवमृष्यन्ते, तेषां व्युत्पाद्यत्वेन प्रकृतत्वात् । तेन तत्रैव भवन्त्यणादयो यत्र च भवन्तस्तेषाम् उपकारिणो भवन्ति, नाऽन्यत्रेति । तेन अभिधानलक्षणत्वं तद्धितानामुपपन्नं भवति" (न्यास ४.१.७६) ।

(समासान्तः) इस समास का अन्तावयव भी होता है । शरत्प्रभृति एक गण है जो गण-पाठ में पढ़ा गया है । टच् प्रत्यय के टकार और चकार क्रमशः **चुटू** (१२९) तथा **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अ' मात्र ही शेष रहता है[1] । इस टच् के आ जाने से शरद् आदि हलन्त शब्द भी अदन्त बन जाते हैं । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शरदः समीपम् उपशरदम् (शरदृतु के समीप) । अलौकिक-विग्रह—शरद् ङस् + उप । यहां अलौकिकविग्रह में 'उप' अव्यय समीप अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'शरद् ङस्' के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । समासविधायक सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'उप' अव्यय की उपसर्जनसंज्ञा और **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर 'उप + शरद् ङस्' हुआ । **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—उपशरद् । पुनः प्रकृत **अव्ययीभावे शर-त्प्रभृतिभ्यः** (९१७) सूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय हो कर टकार-चकार अनुबन्धों का लोप करने से उपशरद् अ = 'उपशरद' बन जाता है । टच् प्रत्यय **समासान्ताः** (५.४.६८) के अधिकार में पठित होने से समासान्त अर्थात् समास का अन्तिम अवयव है अतः तद्विशिष्ट समग्र 'उपशरद' ही अव्ययीभाव हो गया है । अब प्रातिपदिकत्वात् 'उपशरद' इस अदन्त से परे विभक्त्युत्पत्ति होती है[2] । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर अव्ययत्वात् प्राप्त सुँब्लुक् (३७२) का बाध कर **नाऽव्ययीभावाद-तोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप

---

१. प्रत्यय में टकार अनुबन्ध टित्कार्य ङीप् आदि के लिये तथा चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७), **तद्धितस्य** (६.१.१५८) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है ।

२. टच् आदि को समासान्त मानने की आवश्यकता ही क्या है ? वह **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में पठित होने से तद्धितसंज्ञक तो है ही, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा तद्धितान्त के प्रातिपदिकसंज्ञक हो जाने से उस से परे स्वादियों की उत्पत्ति सुतरां सिद्ध हो ही जायेगी । इस का उत्तर यह है कि यदि टच् आदि को समासान्त नहीं मानेंगे तो दो प्रातिपदिक उपस्थित हो जायेंगे, एक टच् से पूर्व समाससंज्ञक समुदाय तथा दूसरा टज्विशिष्ट तद्धितान्त समुदाय । दोनों से स्वाद्यु-त्पत्ति प्रसक्त होने लगेगी । परन्तु अब टच् आदि को समास का अन्तावयव मान लेने से टज्विशिष्ट समग्र समुदाय ही समासत्वात् प्रातिपदिक हो जाता है और इस से परे ही स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है, टजादिरहित पूर्वसमुदाय से परे नहीं । इस के अतिरिक्त टच् आदि को समासान्त मानने के अन्य भी अनेक प्रयोजन आकरग्रन्थों में व्याख्यात हैं वहीं देखने चाहियें ।

करने पर 'उपशरदम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यदि यहां समासान्त टच् प्रत्यय न किया जाता तो अव्ययीभावसंज्ञक 'उपशरद्' के अदन्त न होने से **नाऽव्ययीभावादतोऽम्०** (९१२) की प्रवृत्ति न होती, **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् ही होता जो अनिष्ट था। अतः समासान्त टच् का विधान कर इसे अदन्त बना कर 'उपशरदम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध किया गया है।

शरत्प्रभृति का दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विपाशं प्रति प्रतिविपाशम् (व्यासनदी के सम्मुख)। अलौकिकविग्रह—विपाश् अम्+प्रति। यहां अलौकिकविग्रह में 'प्रति' अव्यय आभिमुख्य अर्थ में वर्त्तमान है अतः **लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये** (२.१.१३) द्वारा 'प्रति' का लक्षणवाची 'विपाश् अम्' सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। समास में प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य 'प्रति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् कर देने से 'प्रतिविपाश्' निष्पन्न होता है। विपाश् शब्द शरत्प्रभृति में पढ़ा गया है अतः **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) सूत्रद्वारा इस से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर—प्रतिविपाश्+अ=प्रतिविपाश। अब प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'प्रतिविपाशम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसी तरह समीप अर्थ में—विपाशः समीपम् उपविपाशम्। यहां पर भी समासान्त टच् हो जाता है।

जराया जरस् च—यह गणसूत्र शरत्प्रभृतियों में पढ़ा गया है। इस का अभिप्राय यह है कि अव्ययीभावसमास में जराशब्द से समासान्त टच् करने पर 'जरा' को 'जरस्' आदेश भी हो जाता है। **जराया जरसन्यतरस्याम्** (१६१) सूत्रद्वारा अजादि विभक्तियों में जरा को जरस् आदेश विधान किया जाता है (वह भी विकल्प से)। यहां टच् प्रत्यय अजादि तो है पर विभक्तिसंज्ञक नहीं अतः इस के परे रहते जरा को विकल्प से भी जरस् प्राप्त न था। इस गणसूत्र से इस का पुनः नित्य विधान किया जा रहा है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि जरा के स्थान पर होने वाला यह जरस् आदेश अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्रद्वारा सर्वादेश होगा। उदाहरण यथा—

---

१. कुछ लोग लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में **लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये** (२.१.१३) इस समासविधायकसूत्र के पठित न होने के कारण 'यथा' के अर्थ वीप्सा में 'विपाशं विपाशं प्रति प्रतिविपाशम्' ऐसा विग्रह दर्शाते हुए **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्र से समास का विधान करते हैं। परन्तु हम ने उपर्युक्त सूत्र पीछे सप्तसूत्री की व्याख्या के प्रसङ्ग में व्याख्यात कर दिया है, इस से विद्यार्थियों को किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती। वस्तुतः लघुकौमुदीकार यदि यहां 'उपविपाशम्' उदाहरण प्रदर्शित करते तो अधिक अच्छा होता।

लौकिकविग्रह—जरायाः समीपम् उपजरसम् (बुढ़ापे के निकट)। अलौकिक-विग्रह—जरा ङस् + उप। यहां समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का 'जरा ङस्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर उपसर्जन-सञ्ज्ञक 'उप' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा उसके अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर "उपजरा' हुआ। अब **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) से समासान्त टच् प्रत्यय हो कर उस के परे रहते **जराया जरस् च** इस गणसूत्रद्वारा जरा को जरस् सर्वादेश हो जाता है—उपजरस् + अ = उपजरस। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'उपजरसम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। उपजरसं प्रभवन्ति दोषाः (बुढ़ापा निकट आने पर शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं)। जरायाम् इत्यधिजरसम्। अधिजरसम्प्रायोऽवज्ञायते पुरुषः (बुढ़ापे में पुरुष प्रायः अवमानना प्राप्त करता है)।

इसीप्रकार—उपानहोरित्यध्युपानहम्। अध्युपानहं पादौ सुरक्षितौ तिष्ठतः (जूतों में पाँव सुरक्षित रहते हैं)। हिमवतीत्यधिहिमवतम्। अधिहिमवतं दिव्या ओषधयः समुपलभ्यन्ते। उपहिमवतं मुनीनामासन् सुरम्या आश्रमाः। दृशोः समीपे उप दृशम्। दिशं दिशं प्रति प्रतिदिशम्। प्रत्यनडुहम्। आ हिमवत आहिमवतम्।

शरत्प्रभृतिगण यथा—

शरद्। विपाश्। अनस्। मनस्। उपानह्। दिव्। हिमवत्। अनडुह्। दिश्। दृश्। विश्। चेतस्। चतुर्। त्यद्। तद्। यद्। कियत्। **जराया जरस् च** (गणसूत्रम्)। **प्रति-पर-समनुभ्योऽक्ष्णः**[1] (गणसूत्रम्)॥[2]

अब अन्नन्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् का विधान करते हैं

---

१. प्रति, पर, सम्, अनु—इन से परे अक्षिशब्द हो तो तदन्त अव्ययीभाव से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो जाता है। यथा—अक्षि अक्षि प्रति प्रत्यक्षम् ['प्रत्यक्षि + अ' इस दशा में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप हो जाता है]। अक्ष्णः परम् परोक्षम्। यहां अव्ययीभावसमास का विधान यद्यपि कोई सूत्र नहीं करता तथापि समासान्तविधानसामर्थ्य से अव्ययीभावसमास हो जाता है। **परोक्षे लिँट्** (३९१) निर्देश के कारण 'पर' शब्द के अन्त्य अकार को ओकार हो कर 'परो + अक्ष' में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। अक्ष्णोर्योग्यम् समक्षम्। अक्ष्णः समीपमिति वा विग्रहः। अक्ष्णोः पश्चाद् अन्वक्षम्।

२. इन शब्दों में जो झय्प्रत्याहारान्त शब्द पढ़े गये हैं, तदन्त अव्ययीभाव से **झयः** (९२१) सूत्रद्वारा वैकल्पिक टच् प्राप्त होता था, उन से नित्य टच् के विधानार्थ इस गण में उन का पाठ किया गया है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१८) **अनश्च** ।५।४।१०८।।

अन्नन्तादव्ययीभावात् समासान्तष्टच् स्यात् ॥

अर्थः—'अन्' जिस के अन्त में हो ऐसे अव्ययीभावसमास से परे तद्धितसञ्ज्ञक टच् समासान्त प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अनः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अव्ययीभावात् ।५।१। (**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **तद्धिताः**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'अनः' यह 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अन्नन्तादव्ययीभावात्' बन जाता है । अर्थः—(अनः=अन्नन्तात्) अन् जिस के अन्त में हो ऐसे (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (टच्) टच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तिम अवयव होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—राज्ञः समीपम् उपराजम् (राजा के पास) । अलौकिकविग्रह—राजन् ङस्+उप । यहां अलौकिकविग्रह में समीपवाचक 'उप' अव्यय का 'राजन् ङस्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभाव-समास हो कर 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर—उपराजन् । यहां अव्ययीभाव के अन्त में 'अन्' शब्द है अतः प्रकृत **अनश्च** (९१८) सूत्रद्वारा इस से परे तद्धितसञ्ज्ञक समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप हो कर 'उपराजन्+अ' हुआ । अब अजादि तद्धितप्रत्यय टच् (अ) के परे रहते **यचि भम्** (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा हो कर **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसंज्ञक अन् के अकार का लोप प्राप्त होता है । इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१९) **नस्तद्धिते** ।६।४।१४४।।

नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ॥

अर्थः— तद्धित परे होने पर नकारान्त भसंज्ञक की टि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—नः ।६।१। तद्धिते ।७।१। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । टेः ।६।१। (**टेः** सूत्र से) । लोपः ।१।१। (**अल्लोपोऽनः** से) । 'नः' यह 'भस्य' का विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'नकारान्तस्य भस्य' बन जाता है । अर्थः—(तद्धिते) तद्धित परे होने पर (नः=नकारान्तस्य) नकारान्त (भस्य) भसंज्ञक की (टेः) टि का (लोपः) लोप हो जाता है ।

'उपराजन्+अ' यहां तद्धित टच् (अ) प्रत्यय परे है, 'उपराजन्' यह नकारान्त भसंज्ञक है । अतः इस की टि (अन्) का प्रकृत **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से लोप हो कर —उपराज्+अ='उपराज' बना । अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वादियों

की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उसे **नाव्ययीभावादतोऽम्०** (६१२) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) सूत्रद्वारा पूर्वरूप करने पर 'उपराजम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—आत्मनि इति अध्यात्मम् (आत्मा में, आत्मा के विषय में)। अलौकिकविग्रह—आत्मन् ङि+अधि। यहां अलौकिकविग्रह में विभक्त्यर्थ (अधिकरण) में वर्त्तमान 'अधि' अव्यय का 'आत्मन् ङि' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति०** (६०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'अधि' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् तथा **इको यणचि** (१५) से यण् करने पर—अध्यात्मन्। यहां अव्ययीभाव के अन्त में 'अन्' विद्यमान है अतः **अनश्च** (६१८) सूत्रद्वारा इस से परे समासान्त टच् (अ) प्रत्यय तथा **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा कर **नस्तद्धिते** (६१९) से टि (अन्) का लोप किया तो—अध्यात्म्+अ='अध्यात्म' बना। अब समग्र समुदाय के प्रातिपदिकत्व के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **नाव्ययीभावादतोऽम्०** (६१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) सूत्रद्वारा पूर्वरूप करने पर 'अध्यात्मम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—राज्ञि इत्यधिराजम्। आत्मनः समीपम् उपात्मम्। अध्वनि इत्यध्यध्वम् (माघ० १२.३०)। युवानं प्रति प्रतियुवम् (माघ० १२.३०)। राज्ञा युगपत् सराजम्, **अगात् सराजं बलमध्वनीनम्** (भट्टि० २.४९)। मूर्ध्नि इत्यधिमूर्धम्। तक्ष्णः समीपम् उपतक्षम् इत्यादि।

अव्ययीभावसमास में उत्तरपद यदि अन्नन्त नपुंसक हो तो उस से परे समासान्त टच् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६२०) **नपुंसकादन्यतरस्याम्** ।५।४।१०९।।

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट् टज्वा स्यात्। उपचर्मम्। उपचर्म।।

अर्थः—अव्ययीभाव के अन्त में यदि अन्नन्त नपुंसक शब्द हो तो उस अव्ययीभाव से परे तद्धितसंज्ञक समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से हो।

---

१. ननु 'उपराजम्' इत्यत्र **नस्तद्धिते** (६१९) इति व्यर्थम्, **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) इति टिलोपेनैव सिद्धेः। न चाऽव्ययत्वं टज्विशिष्टे स्थितमिति वाच्यम्, अव्ययीभावसंज्ञाया उपजीव्यत्वेन टचः पूर्वभागस्याव्ययत्वाऽनपायादिति। अत्राहुः—टचः समासान्तत्वात् तद्विधानसमकालमेव पूर्वस्याऽव्ययीभावत्वं निवर्त्तते, तन्निवर्त्तनाच्च अव्ययत्वमप्यपैति। तेन टिलोपस्याऽप्रवृत्तेरनेन सूत्रेण तद्विधानमिति बोध्यम्।

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। अनः ।५।१। (**अनश्च** से) । अव्ययीभावात् ।५।१। (**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'अनः' यह 'नपुंसकात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अन्नन्ताद् नपुंसकात्' बन जाता है । 'नपुंसकात्' यह भी 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है अतः इस से भी तदन्तविधि हो कर—'अन्नन्तं यद् नपुंसकं तदन्ताद् अव्ययीभावात्' ऐसा उपलब्ध हो जाता है[1] । **अर्थः**—(अनः) अन्नन्त (नपुंसकात्) जो नपुंसक प्रातिपदिक तदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (समासान्तः) समासान्त (टच्, प्रत्ययः) टच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है । दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है । यह सूत्र **अनश्च** (९१८) सूत्र का अपवाद है । उस सूत्र से नपुंसक-अनपुंसक सब अन्नन्तों में टच् नित्य प्राप्त था परन्तु यह सूत्र नपुंसक के विषय में विकल्प से टच् का विधान करता है । इस प्रकार नपुंसकभिन्न अन्नन्तों में उस सूत्र की प्रवृत्ति और नपुंसकों में इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चर्मणः समीपम् **उपचर्मम्** उपचर्म वा (चमड़े के समीप) । अलौकिकविग्रह—चर्मन् ङस् + उप । यहां अलौकिकविग्रह में समीप अर्थ में वर्त्तमान 'उप' अव्यय का 'चर्मन् ङस्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्र द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । समास में 'उप' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर—उपचर्मन् । इस अव्ययीभाव के अन्त में 'चर्मन्' यह अन्नन्त नपुंसक शब्द विद्यमान है अतः **अनश्च** (९१८) सूत्र से प्राप्त नित्य टच् का बाध कर प्रकृत **नपुंसकादन्यतरस्याम्** (९२०) सूत्रद्वारा टच् की वैकल्पिक प्रवृत्ति हो जाती है । टच्-पक्ष में 'उपचर्मन् + अ' इस स्थिति में उपचर्मन् की **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा कर **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा उस की टि (अन्) का लोप करने से 'उपचर्म' ऐसा अदन्त अव्ययीभाव बन जाता है । इस से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'उपचर्मम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में समासान्त टच् नहीं होता वहां 'उपचर्मन्' से सुँ विभक्ति ला कर उस का **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) से लुक् हो पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा लोप हो जाता है— उपचर्म । इस प्रकार 'उपचर्मम्' तथा' उपचर्म' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

---

१. यदि 'नपुंसकात्' से तदन्तविधि नहीं करेंगे तो इस का ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि अव्ययीभावसमास तो **अव्ययीभावश्च** (९११) सूत्र से स्वतः नपुंसक है ही पुनः नपुंसक विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन ?

इसीप्रकार—धाम्नः समीपम् उपधामम् उपधाम वा (घर के पास)। अधिसामम् अधिसाम वा। अनुलोमम् अनुलोम वा। प्रतिकर्मम् प्रतिकर्म वा। भस्मनः समीपम् उपभस्मम् उपभस्म वा। अहनि अहनि प्रत्यहम् प्रत्यहर्वा। यहां **रोऽसुँपि** (११०) से अहन् के नकार को रेफ आदेश हो जाता है।

अब झयन्त अव्ययीभाव से परे भी टच् का विकल्प से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२१) **झयः** ।५।४।१११॥

झयन्तादव्ययीभावाट् टज्वा स्यात्। उपसमिधम्। उपसमित्॥

अर्थः—झय् प्रत्याहार अर्थात् वर्गों के प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ वर्ण जिस के अन्त में हों ऐसे अव्ययीभावसमास से परे तद्धितसञ्ज्ञक समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से हो।

व्याख्या—झयः ।५।१। अव्ययीभावात् ।५।१। (**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**नपुंसकादन्यतरस्याम्** से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'झयः' यह 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'झयन्ताद् अव्ययीभावात्' बन जाता है। झय् एक प्रत्याहार है, वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय और प्रथम वर्ण इस के अन्तर्गत हुआ करते हैं। अर्थः—(झयः=झयन्तात्) झय्प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण जिस के अन्त में हों ऐसे (अव्ययीभावात्) अव्ययीभावसमास से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (समासान्तः) समासान्त (टच् प्रत्ययः) टच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में नहीं होता, इस तरह विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—समिधः समीपम् उपसमिधम् उपसमिद् वा (समिधा=यज्ञकाष्ठ के पास)। अलौकिकविग्रह—समिध् ङस्+उप। यहां अलौकिकविग्रह में समीप अर्थ में विद्यमान 'उप' अव्यय का 'समिध् ङस्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'उपसमिध्' बना। इस अव्ययीभाव के अन्त में झय् वर्ण धकार विद्यमान है अतः प्रकृत **झयः** (९२१) सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से हो जायेगा। टच्पक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर—उपसमिध्+अ=उपसमिध। प्रातिपदिकत्वात् प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश तथा पूर्वरूप करने से 'उपसमिधम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। टच् के अभाव में 'उपसमिध्' से सुँ प्रत्यय लाने पर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् कर जश्त्व-चर्त्व करने से 'उपसमित्-उपसमिद्' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार टच्पक्ष में 'उपसमिधम्' तथा टच् के अभाव से 'उपसमित्-उपसमिद्' रूप सिद्ध होते हैं।

इसीप्रकार—**दृषदः समीपम् उपदृषदम् उपदृषद् वा (शिला के पास)।**

स्रुचः समीपम् उपस्रुचम् उपस्रुग्वा (स्रुवा के पास)। स्रजि इत्यधिस्रजम् अधिस्रग्वा (माला में)। ककुभि इत्यधिककुभम् अधिककुब्वा (दिशा में)। मरुतं प्रति प्रतिमरुतं प्रतिमरुद्वा (वायु के अभिमुख)।

अव्ययीभाव से समासान्त का विधान करने वाले दो अन्य सूत्र भी यहां छात्रों के लिये उपयोगी रहेंगे—

[१] **गिरेश्च सेनकस्य** ।५।४।११२॥

अर्थः—गिरिशब्दान्त अव्ययीभाव से परे विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—गिरेः समीपम् उपगिरम् उपगिरि वा (पर्वत के समीप)। उपगिरि+अ (टच्) में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप हो जाता है। उपगिरं मुनेराश्रमः। गिरिषु इत्यन्तर्गिरम् अन्तर्गिरि वा। अन्तर्गिरं धातवो भवन्ति।

[२] **नदी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः** ।५।४।११०॥

अर्थः—नदी, पौर्णमासी या आग्रहायणी—ये शब्द जिस अव्ययीभाव के अन्त में हों उस से परे विकल्प से टच् समासान्त हो जाता है। उदाहरण यथा—नद्याः समीपम् उपनदम् उपनदि वा (नदी के निकट)। टच्पक्ष में **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक ईकार का लोप हो जाता है। टच् के अभाव में नपुंसकह्रस्व हो कर **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) से सुँब्लुक्। इसीप्रकार—पौर्णमास्याः समीपम् उपपौर्णमासम् उपपौर्णमासि वा (पूर्णिमा के निकट)। आग्रहायण्याः समीपम् उपाग्रहायणम् उपाग्रहायणि वा (अगहनमास की पौर्णमासी के निकट)।

अव्ययीभाव के समासान्तों का संक्षिप्त सार

(क) अव्ययीभाव का मुख्य समासान्त प्रत्यय टच् (अ) है।

(ख) शरदादिशब्दान्त अव्ययीभाव से नित्य समासान्त टच् होता है।

(ग) जराशब्दान्त अव्ययीभाव से नित्य समासान्त टच् के साथ-साथ जरा को जरस् सर्वादेश भी हो जाता है।

(घ) अन्नन्त अव्ययीभाव से परे नित्य समासान्त टच् होता है।

(ङ) यदि उत्तरपद अन्नन्त नपुंसक हो तो उस अव्ययीभाव से परे समासान्त टच् विकल्प से होता है।

(च) झय्वर्णान्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् विकल्प से होता है।

(छ) गिरि, नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी—ये शब्द उत्तरपद में हों तो उस अव्ययीभाव से समासान्त टच् विकल्प से होता है।

(ज) टच् परे रहते पूर्व की भसंज्ञा हो कर भसंज्ञक इकार, ईकार या अन् का लोप हो जाता है।

अभ्यास [२]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] अव्ययीभाव को नपुंसक और अव्यय दोनों मानने का क्या कारण है ?

[ख] टच् आदि प्रत्ययों को समासान्त क्यों माना जाता है ?

[ग] 'विष्णोः पश्चात्' में 'पश्चात्' का अव्ययीभावसमास क्यों नहीं होता ?

[घ] 'शक्तिमनतिक्रम्य' में 'अनतिक्रम्य' का भाव क्या है ?

[ङ] 'पञ्चगङ्गम्' आदि में द्विगुसमास से काम क्यों नहीं चल सकता ?

(२) निम्नस्थों में सोदाहरण अन्तर समझाइये—

[क] समृद्धि और सम्पत्ति ।

[ख] अर्थाभाव और अत्यय ।

[ग] व्यृद्धि और अर्थाभाव ।

[घ] साकल्य और अन्त ।

(३) अव्ययीभाव के मुख्य समासान्त टच् प्रत्यय पर सारगर्भित एक टिप्पण लिखें ।

(४) समासान्तों को 'तद्धिताः' के अधिकार में पढ़ने का क्या प्रयोजन है ?

(५) 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'वचन' के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(६) 'उपकृष्ण' इस अव्ययीभाव की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें ।

(७) प्रथमानिर्दिष्टम्० सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट से क्या अभिप्राय है ?

(८) निम्नस्थ संज्ञाओं के विधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
उपसर्जन, तद्धित, अव्ययीभाव, समासान्त ।

(९) दोनों 'अव्ययीभावश्च' सूत्रों का सोदाहरण अर्थ लिखें ।

(१०) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
नाऽव्ययीभावादतोऽम्०, तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्, अव्ययीभावे चाऽकाले, नदीभिश्च, नस्तद्धिते, झयः, अनश्च, अव्ययीभावे शरत्०, सुँप्प्रतिना मात्रार्थे, आङ् मर्यादाभिविध्योः, नपुंसकादन्यतरस्याम्, जराया जरस् च, प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः, अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ।

(११) निम्नलिखित लौकिकविग्रहों से बनने वाले अव्ययीभावसमासों की ससूत्र सिद्धि करें—
जरायाः समीपम्, दिशि दिशि, शक्तिमनतिक्रम्य, गोपि, ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण, चक्रेण युगपत्, अक्ष्णः परम्, शरदः समीपम्, तृणमप्यपरित्यज्य, आत्मनि, गङ्गायाः पारम्, शाकस्य लेशः, गिरेः समीपम्, द्वयोर्मुन्योः समाहारः, विपाशं प्रति, यावन्तः श्लोकास्तावन्तः, ग्रामाद् बहिः, अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः ।

(१२) लौकिक-अलौकिक दोनों विग्रह दर्शाते हुए अधोलिखित अव्ययीभाव-समासों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. अतिहिमम् । २. साग्न्यधीते । ३. समखि । ४. सक्षत्त्रम् । ५. उपराजम् । ६. दुर्यवनम् । ७. प्रत्यहम् । ८. अधिहरि । ९. उपकृष्णेन । १०. अनुविष्णु । ११. अतिनिद्रम् । १२. निर्मक्षिकम् । १३. सुमद्रम् । १४. उपचर्म । १५. आकुमारं यशः पाणिनेः । १६. उन्मत्तगङ्गम् । १७. अनुरूपम् । १८. उपपौर्णमासम् । १९. प्रत्यक्षम् । २०. अन्तर्गिरम् । २१. इतिहरि ।

(१३) 'यथा' अव्यय के उन चार अर्थों की सोदाहरण व्याख्या करें जिन में अव्ययीभावसमास का विधान हुआ करता है ।

(१४) 'ग्रामं समया' यहां समीपार्थ में अव्ययीभावसमास होगा या नहीं ? सहेतुक स्पष्ट करें ।

(१५) हेतुनिर्देशपूर्वक अशुद्धियों का शोधन कीजिये—

[क] सहसखि कृष्ण आयाति ।[1]

[ख] प्रत्येकस्य प्रश्नस्योत्तरं ब्रूहि ।[2]

[ग] जलमधिशरदि निर्मलम्भवति ।[3]

[घ] कुचैलानां धारणेन अधिचर्मणि रोगा उद्भवन्ति ।[4]

[ङ] ग्रामं प्रागाश्रमः ।[5]

[च] उपराज्ञो वर्त्तन्ते चाटुकाराः ।[6]

[छ] नगरं बहिः कूपोऽस्माकम् ।[7]

---

१. सदृश सख्या ससखि । **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) इति सहस्य सादेश उचितः ।

२. एकमेकम्प्रति प्रत्येकम् । वीप्सायामव्ययीभावः । प्रत्येकं प्रश्नानामुत्तरं ब्रूहीति साधु ।

३. अधिशरदमिति साधु । समासे शरदादित्वात्समासान्तष्टच् । ततः सोरमि अधिशरदमिति ।

४. चर्मणीत्यधिचर्मम् अधिचर्म वा । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे **नपुंसकादन्यतरस्याम्** (९२०) इति वा टच् । टचि टेर्लोपे सोरमि पूर्वरूपे च अधिचर्ममिति । टचोऽभावे सोर्लुकि नकारलोपे च 'अधिचर्म' इति ।

५. समासे प्राग्ग्राममिति । **अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या** (२.१.११) इति अव्ययीभाव-विकल्पः । व्यस्ते ग्रामात् प्रागिति भवितव्यम् ।

६. राज्ञः समीपम् उपराजम् । तस्मिन् उपराजे, उपराजं वा । **अनश्च** (९१८) इति टचि **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपः ।

७. व्यस्ते नगराद् बहिरिति । समासे 'बहिर्नगरम्' इत्युचितम् ।

[ज] उपगिरेर्मुनेराश्रमः ।[1]
[झ] अधिजरं व्याधय उत्पद्यन्ते ।[2]
[ञ] प्रतिदिनस्यायङ् कार्यक्रमः ।[3]
[ट] आकुमारेभ्यो यशः पाणिनेः ।[4]
[ठ] अधिमूर्ध्नि वहेच्छत्रं यावत्कार्यं न सिध्यति ।[5]

[लघु०] **इत्यव्ययीभावः**

यहां पर अव्ययीभावसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:०:——

अथ तत्पुरुषसमासः

यहां से आगे तत्पुरुषसमास का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है । तत्पुरुष-समास में उत्तरपद के अर्थ की प्रायः प्रधानता हुआ करती है । यथा—'राजपुरुषः' में षष्ठीतत्पुरुषसमास है, यहां उत्तरपद 'पुरुष' के अर्थ की ही प्रधानता है । 'राजपुरुष-मानय' ऐसा कहने पर पुरुष को ही लाया जाता है राजा को नहीं । यह सब पीछे स्पष्ट किया जा चुका है । अब सर्वप्रथम तत्पुरुषसमास का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(६२२) **तत्पुरुषः ।२।१।२१॥**

अधिकारोऽयम्प्राग्बहुव्रीहेः ॥

---

१. गिरेः समीपम् उपगिरम् उपगिरि वा । तस्मिन् उपगिरम् उपगिरे उपगिरि वेति युक्तम् । **गिरेश्च सेनकस्य** (५.४.११२) इति वा टच् समासान्तः । टचि **यस्येति च** (२३६) इति भस्येकारस्य लोपः ।

२. जरायाम् इत्यधिजरसम् । शरदादित्वाट् टचि **जराया जरस् च** इति गणसूत्रेण जराशब्दस्य जरसादेशः ।

३. दिने दिने प्रतिदिनम् । वीप्सायामव्ययीभावः । ततो विभक्तेरमादेशः ।

४. समासे आकुमारमिति । व्यस्ते 'आ कुमारेभ्यः' इत्युचितम् । **आङ् मर्यादाऽभि-विध्योः** (२.१.१२) इत्यव्ययीभावविकल्पः ।

५. **अनश्च** (६१८) इति समासान्ते टचि **नस्तद्धिते** (६१६) इति टेर्लोपे अधि-मूर्धमिति ।

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से आगे **शेषो बहुव्रीहिः** (२.२.२३) सूत्र तक जो समास कहा जायेगा उस की तत्पुरुषसञ्ज्ञा होगी[1]।

व्याख्या—तत्पुरुषः ।१।१। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से)। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार **शेषो बहुव्रीहिः** (२.२.२३) सूत्र तक जाता है। अर्थः—यहां से आगे जो (समासः) समास कहा जायेगा वह (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होगा। तात्पर्य यह है कि **शेषो बहुव्रीहिः** (२.२.२३) सूत्र से पूर्व पूर्व विधान किये गये समास की तत्पुरुषसञ्ज्ञा रहेगी।

अग्रिमसूत्रद्वारा द्विगुसमास की भी तत्पुरुषसंज्ञा विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९२३) द्विगुश्च ।२।१।२२॥

द्विगुरपि तत्पुरुषसञ्ज्ञकः स्यात् ॥

अर्थः—द्विगुसमास भी तत्पुरुषसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—द्विगुः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। तत्पुरुषः ।१।१। (पीछे से अधिकृत है)। अर्थः—(द्विगुः) द्विगुसमास (च) भी (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

आगे चल कर तत्पुरुष के अधिकार में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३९) सूत्रद्वारा त्रिविध समास का विधान किया गया है। इस त्रिविध समास में पूर्वपद यदि संख्यावाचक हो तो **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) द्वारा उस समास की द्विगुसञ्ज्ञा हो जाती है। **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) सूत्रद्वारा 'एक की एक ही संज्ञा हो' इस अधिकार के कारण द्विगुसञ्ज्ञा से तत्पुरुषसञ्ज्ञा का बाध प्राप्त होता था। परन्तु हमें द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा रखनी भी अभीष्ट है, अतः इस विशेष सूत्र से द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा का विधान किया गया है। इस प्रकार इस एकसञ्ज्ञा के अधिकार में भी द्विगु और तत्पुरुष दोनों सञ्ज्ञाएं उपर्युक्त समास की बनी रहेंगी। द्विगुसमास की तत्पुरुषसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) आदि के द्वारा तत्पुरुषसमास से विधीयमान टच् आदि समासान्त प्रत्ययों का द्विगु से भी विधान किया जाना है। यथा—पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजम् (पाञ्च राजाओं का समूह)। यहां द्विगुसमास में तत्पुरुष से विधान होने वाला समासान्त टच् प्रत्यय प्रवृत्त हो कर **नस्तद्धिते** (९१९) से टि का लोप करने से **स नपुंसकम्** (९४३) के अनुसार नपुंसक में उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता

---

१. तस्य पुरुषः तत्पुरुषः। 'तत्पुरुष' शब्द अपने आप में तत्पुरुषसमास का एक सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार के अन्य सब समासों को भी इसी के नाम पर 'तत्पुरुष' कह दिया गया है। जैसाकि प्रक्रियासर्वस्व में नारायणभट्ट लिखते हैं—

स्यात् तस्य पुरुषस्तत्पुरुषः षष्ठीसमासतः।
तेन तज्जातिजाः सर्वे कृद्वत् तत्पुरुषा मताः ॥

(प्रक्रियासर्वस्व, तद्धितखण्ड, पृष्ठ ९०)

है[1]। इसीप्रकार—द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्व्यङ्गुलम्। यहां **तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** (६५५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास से विधान होने वाला समासान्त अच् प्रत्यय द्विगुसमास से भी प्रवृत्त हो जाता है।

अब तत्पुरुषसमास का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम द्वितीयातत्पुरुष का विधान करते हैं।[2]

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (९२४) द्वितीया श्रिताऽतीत-पतित-गताऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः ।२।१।२३॥

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः[3] सुँबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रित इत्यादि॥

अर्थः—द्वितीयान्त सुँबन्त, श्रित आदि प्रकृति वाले सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—द्वितीया ।१।१। श्रिताऽतीत-पतित-गताऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः ।३।३। सुँबन्तैः ।३।३। (**सह सुँपा** से 'सुँपा' की अनुवृत्ति आ कर तदन्तविधि तथा वचनविपरिणामद्वारा)। विभाषा ।१।१ (पीछे से अधिकृत है)। सुँप्, **समासः**, **तत्पुरुषः**—ये सब पीछे से आ रहे हैं। श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नाः, तैस्तथोक्तैः। इतरेतरद्वन्द्वसमासः। 'श्रितातीत—प्राप्तापन्नैः' का 'सुँबन्तैः' के साथ सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि जो श्रित आदि हैं वे सुँबन्त नहीं और जो सुँबन्त हैं वे श्रित आदि नहीं। अतः श्रितादि शब्दों को तत्प्रकृतिक अर्थों में यहां लाक्षणिक समझना चाहिये, इस से 'श्रितादिप्रकृतिकैः सुँबन्तैः' यह अर्थ प्राप्त हो जाता है। 'द्वितीया' पद भी पीछे से आ रहे 'सुँप्=सुँबन्तम्' पद का विशेषण है अतः तदन्तविधिद्वारा 'द्वितीयान्तं सुँबन्तम्' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(द्वितीया=द्वितीयान्तम्) द्वितीयान्त (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त, (श्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः) श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न[4]

---

१. न चाऽत्र **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** इति स्त्रीत्वे **द्विगोः** (**१२५३**) इति ङीपा भवितव्यमिति वाच्यम्। समासान्तस्य टचः समुदायावयवत्वेन उत्तरपदावयवत्वाभावेनाऽदोषात्।

२. प्रथमातत्पुरुष का आगे कर्मधारय के प्रकरण में वर्णन आयेगा, अतः यहां द्वितीया तृतीया आदि के क्रम से तत्पुरुषसमास का विधान कर रहे हैं।

३. श्रितादयः प्रकृतयो येषान्तथोक्तैरिति बहुव्रीहिः।

४. श्रित (√श्रिञ्+क्त); अतीत (अति√इण् गतौ+क्त); पतित (√पत्+क्त); गत (√गम्+क्त); अत्यस्त (अति√असुँ क्षेपणे+क्त); प्राप्त (प्र√आप्+क्त); आपन्न (आ√पद्+क्त)—इन सब शब्दों में श्रिञ् आदि गत्यर्थक

इन प्रकृति वाले (सुँपा=सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः=समस्यते) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। यह समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य रहने से इस का स्वपदविग्रह हो सकता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः (कृष्ण का आश्रय किया हुआ)। अलौकिकविग्रह—कृष्ण अम्+श्रित सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'कृष्ण अम्' यह द्वितीयान्त सुँबन्त है, इस का 'श्रित सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृतसूत्र **द्वितीया श्रिता-तीत०** (६२४) से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस प्रस्तुत सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'कृष्ण अम्' पद की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (६०६) द्वारा उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उस का समास में पूर्वनिपात हो जाता है—कृष्ण अम्+श्रित सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव सुँपों (अम् और सुँ) का लुक् हो कर 'कृष्णश्रित' बना। पुनः प्रातिपदिकावयव सुँपों का लुक् होने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा यथावत् रहने के कारण उस से परे स्वादियों की उत्पत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर उस के अनुनासिक उकार अनुबन्ध का लोप हो **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा, **स-सजुषो रुः** (१०५) से सकार को रुँत्व तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (६३) से पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'कृष्णश्रितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। 'कृष्णश्रित'

धातुओं से **गत्यर्थाऽकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थाऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्रद्वारा कर्त्तरि क्त अथवा आदिकर्म में कर्त्तरि क्तप्रत्यय समझना चाहिये। क्त के योग में **कर्त्तृ-कर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्म में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाऽव्ययनिष्ठा-खलर्थ-तृनाम्** (२.३.६९) सूत्र से निषेध हो कर अनभिहित कर्म में द्वितीया हो जाती है।

१. यहां यह **विशेष** ध्यातव्य है कि 'कृष्णं श्रितो येन' इत्यादिप्रकारेण बहुव्रीहिसमास मानने से 'कृष्णश्रितः' आदि की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि तब **निष्ठा** (६८३) सूत्रद्वारा निष्ठाप्रत्ययान्त का पूर्वनिपात हो कर 'श्रितकृष्णः' आदि बनेगा 'कृष्ण-श्रितः' आदि नहीं। अतः 'कृष्णश्रितः' आदि की सिद्धि के लिये तत्पुरुषसमास का मानना आवश्यक है। इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

मत्वा कष्टश्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत् (भट्टि० ५.५८)।

अर्थात् राम को कष्ट में पड़ा जान कर सीता ने लक्ष्मण को राम के समीप जाने की प्रेरणा की।

शब्द की रूपमाला-- 'कृष्णश्रितः, कृष्णश्रितौ, कृष्णश्रिताः' इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् चलेगी। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि तत्पुरुषसमास का लिङ्ग **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार वही होता है जो उस के उत्तरपद का हुआ करता है। यथा यहां 'श्रितः' उत्तरपद पुंलिङ्ग था तो समास का भी पुंलिङ्ग में प्रयोग हुआ है। यह समास वैकल्पिक है अतः यह नहीं भूलना चाहिये कि पक्ष में 'कृष्णं श्रितः' इस वाक्य का भी प्रयोग हो सकता है।

इसीप्रकार--

अरण्यम् अतीतः—अरण्यातीतः (वन को पार किया हुआ)।
कूपम् पतितः—कूपपतितः (कुएं में गिरा हुआ)।
ग्रामं गतः—ग्रामगतः (गांव गया हुआ)।
कृच्छ्रं गतः—कृच्छ्रगतः (कष्ट को प्राप्त हुआ)।[1]
आपदं गतः—आपद्गतः (आपत्ति को प्राप्त हुआ)।[2]
सुखं प्राप्तः--सुखप्राप्तः (सुख को पाया हुआ)।[3]
दुःखम् आपन्नः—दुःखापन्नः (दुःख को प्राप्त हुआ)।

नोट--द्वितीयान्त का श्रित आदियों के अतिरिक्त अन्य 'गमिन् गामिन्' आदि सुँबन्तों के साथ भी यह समास देखा जाता है। इस का विधान **गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्** इस वार्त्तिकद्वारा होता है। यथा—ग्रामं गमी ग्रामगमी; ग्रामं गामी ग्रामग्रामी; द्वितीयं गामी द्वितीयगामी[4]; अन्नं बुभुक्षुः अन्नबुभुक्षुः; मधु पिपासुः मधुपिपासुः; हितम् आशंसुः हिताशंसुः; गुरुं शुश्रूषुः गुरुशुश्रूषुः; तत्त्वं बुभुत्सुः तत्त्वबुभुत्सुः; सुखम् इच्छुः सुखेच्छुः; सुखम् ईप्सुः सुखेप्सुः। गम्यादियों को आकृतिगण माना जाता है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा तृतीयातत्पुरुष का विधान करते हैं--

---

१. **सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्** (नीतिशतक २२)।

२. **आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ**
लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीति किमत्र चित्रम्।
एतान्न पश्यसि घटाञ्जलयन्त्रचक्रे
रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ताः॥ (सुभाषित)

३. प्राप्त और आपन्न सुँबन्तों का द्वितीयान्त के साथ **प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया** (९६३) द्वारा अन्यविध तत्पुरुषसमास भी आगे कहा गया है। उस समास में प्रथमानिर्दिष्ट प्राप्त और आपन्न सुँबन्तों का पूर्वनिपात तथा द्वितीयान्त का परनिपात होता है। इस से 'प्राप्तसुखः, आपन्नदुःखः' आदि प्रयोग भी बनते है।

४. **द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः** (रघुवंश ३.४९)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६२५) तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ।२।१।२९॥

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेन अर्थेन च सह वा प्राग्वत् शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थो धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्ष्णा काणः ॥

अर्थः—तृतीयान्त सुँबन्त, तृतीयान्त के अर्थद्वारा कृत जो गुण तद्विशिष्ट द्रव्यवाचक सुँबन्त के साथ एवम् 'अर्थ' शब्द के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—तृतीया ।१।१। तत्कृत ।३।१। (यहाँ **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति** के अनुसार **सुँपां सुँलुक्०** सूत्र से तृतीया के एकवचन का लुक् हुआ है, इसे 'तत्कृतेन' समझना चाहिये) । अर्थेन ।३।१। गुणवचनेन ।३।१। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । तत्कृत='तत्कृतेन' यह 'गुणवचनेन' का विशेषण है—तत्कृतेन गुणवचनेन । तेन कृतम्—तत्कृतम्, तेन=तत्कृतेन । 'तद्' शब्द से यहां पूर्वनिर्दिष्ट तृतीयान्त पद का ग्रहण होता है परन्तु तृतीयान्त पद से कोई गुण कृत अर्थात् किया नहीं जा सकता, वह तो तृतीयान्त पद के अर्थ के द्वारा ही किया जाना सम्भव है । अतः 'तद्' शब्द से लक्षणाद्वारा यहां तृतीयान्त पद के अर्थ का ही ग्रहण किया जाता है । गुणमुक्तवान् इति गुणवचनः (शब्दः) । **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण यहां भूतकाल में कर्त्ता अर्थ में ल्युट् प्रत्यय समझा जाता है । जो शब्द गुण को पहले कह कर अब द्रव्यवाचक हो चुका हो उसे यहां 'गुणवचन' कहा गया है । तात्पर्य यह है कि कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो पहले गुण अर्थ में प्रवृत्त हो कर बाद में गुण-गुणी के अभेदोपचार या मतुँब्लुक् आदि के कारण उस गुण से युक्त द्रव्य के वाचक हो जाते हैं, ऐसे शब्द ही यहां 'गुणवचन' अभिप्रेत हैं । यथा 'श्वेत' शब्द श्वेतगुण का वाचक हो कर अभेदोपचार के कारण या **गुणवचनेभ्यो मतुँबो लुगिष्टः** (वा०) के द्वारा मतुँप् के लुक् के कारण जब श्वेतगुणविशिष्ट पदार्थ को कहने लगता है तब वह 'गुणवचन' कहाता है । सूत्रगत 'तृतीया' पद से प्रत्ययग्रहणपरिभाषा-द्वारा तदन्तविधि हो कर 'तृतीयान्तम्' बन जाता है । अर्थः— (तृतीया=तृतीयान्तं सुँबन्तम्) तृतीयान्त सुँबन्त शब्द, (तत्कृतेन गुणवचनेन सुँबन्तेन) उस तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा किया गया जो गुण तद्विशिष्ट द्रव्यवाचक सुँबन्त के साथ एवम् (अर्थेन सुँबन्तेन) सुँबन्त अर्थ शब्द के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है । समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में स्वपदविग्रह वाक्य भी रहेगा ।

इस सूत्र में समासविधायक दो खण्ड हैं—

(१) तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन सुँबन्तेन वा समस्यते । अर्थात् तृतीयान्त पद

का तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा किया गया जो गुण तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है ।

(२) तृतीया अर्थप्रकृतिकेन सुँबन्तेन सह वा समस्यते । अर्थात् तृतीयान्त पद का अर्थप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है ।

प्रथमखण्ड का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शङ्कुलया[1] खण्डः शङ्कुलाखण्डः (सरोते या छुरी से किया गया जो भेदनक्रियारूप गुण, तद्विशिष्ट टुकड़ा अर्थात् सरोते से किया गया टुकड़ा), शङ्कुलाकृतखण्डगुणविशिष्टः शकल इत्यर्थः[2] । अलौकिकविग्रह—शङ्कुला टा + खण्ड सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में 'शङ्कुला टा' यह तृतीयान्त सुँबन्त है । इस तृतीयान्त के अर्थ = वाच्य सरोते से खण्डनरूप गुण किया गया है और इस गुणविशिष्ट टुकड़े का बोधक यहां 'खण्ड सुँ' सुँबन्त है । तो इस प्रकार प्रकृतसूत्र के प्रथम खण्ड के द्वारा इन दोनों सुबन्तों का विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधान में 'तृतीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'शङ्कुला टा' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात हो जाता है । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँपों (टा और सुँ) का लुक् करने पर—शङ्कुलाखण्ड । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व (१०५) तथा अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश (९३) करने पर 'शङ्कुलाखण्डः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—किरिणा काणः किरिकाणः (किरिनामक नेत्ररोग से काना हुआ व्यक्ति) । शलाकया काणः शलाकाकाणः (सलाई से किया हुआ काना व्यक्ति) । क्षारेण शुक्लः क्षारशुक्लः (क्षार से किया गया श्वेत पदार्थ) । भस्मना सितो भस्मसितः (राख से किया गया श्वेत पदार्थ) । कुसुमैः सुरभिः कुसुमसुरभिः (फूलों से की गई सुगन्ध वाला वात आदि पदार्थ) । कुङ्कुमेन शोणः कुङ्कुमशोणः (केसर से किये गये लाल वर्ण वाला पदार्थ) । सुधया धवलं सुधाधवलम् (चूने से की गई सुफेदी वाला भवन आदि)[3] ।

---

१. यहां **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्रद्वारा करण में तृतीया विभक्ति हुई है ।

२. महाभाष्य में 'शङ्कुलाखण्डो देवदत्तः' इस तरह समास को 'देवदत्तः' का **विशेषण** बना कर भी प्रयुक्त किया गया है । वहां **खडिँ भेदने** (चुरा० उ०) धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर 'खण्डनं खण्डः' बना कर 'खण्डोऽस्त्यस्येति खण्डः' इस प्रकार मत्वर्थ में **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) से अच् प्रत्यय करने से रूप सिद्ध किया गया है । वहां 'शङ्कुलाकृतखण्डनक्रियावान् देवदत्तः' इस प्रकार का बोध समझना चाहिये ।

३. अनेक वैयाकरण 'तत्कृतेन' अंश को लौकिकविग्रह में प्रकट करने के लिये 'शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डः, किरिणा कृतः काणः किरिकाणः, शलाकया

प्रकृतसूत्र में 'गुणवचनेन' क्यों कहा ? इसलिये कि 'गोभिर्वपावान्' (गोदुग्धादि से की गई चरबीवाला) इत्यादियों में समास न हो जाये । यहां 'वपावान्' में वपाशब्द गुणवाची नहीं अपितु द्रव्यवाची है अतः तद्विशिष्ट के साथ तृतीयान्त का समास नहीं होता ।

प्रकृतसूत्र में 'तत्कृतेन' क्यों कहा ? इसलिये कि 'अक्ष्णा काणः' (आंख से काणत्वगुणविशिष्ट व्यक्ति) आदि में तृतीयान्त के साथ गुणवचन का समास न हो जाये । यहां काणत्व का करण आंख नहीं अपितु कोई रोगविशेष है जिस ने आंख को काना किया हुआ है । 'अक्ष्णा' में तृतीया विभक्ति **येनाऽङ्गविकारः** (२.३.२०) सूत्रद्वारा हुई है । इसीप्रकार 'पादेन खञ्जः' आदि में भी यह समास नहीं होता ।

प्रकृतसूत्र में 'गुणेन' न कह कर 'गुणवचनेन' क्यों कहा ? इसलिये कि 'घृतेन पाटवम्' (घृत से की गई पटुता) इत्यादियों में समास न हो जाये । यहां 'पाटवम्' गुणवाची तो है पर गुणवचन नहीं । जो द्रव्यवाची होता हुआ भूतपूर्वगुणवाचक हो उसे ही यहां गुणवचन कहा गया है । **गुणोपसर्जनद्रव्यवचनेनैव समास** इति नागेशः ।

सूत्रगत द्वितीयखण्ड का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—धान्येनार्थो धान्यार्थः (धान्यहेतुकं धनमित्यर्थः । धान्य के हेतु से धन, अथवा—धान्य से प्रयोजन) । अलौकिकविग्रह—धान्य टा+अर्थ सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में 'धान्य टा' इस तृतीयान्त सुँबन्त का 'अर्थ सुँ' इस सुँबन्त के साथ **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (९२५) इस प्रकृतसूत्रगत द्वितीयखण्डद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । पूर्ववत् तृतीयान्त की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, समास के अवयव सुँपों (टा और सुँ) का लुक् तथा अन्त में **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'धान्यार्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । विग्रहवाक्यगत 'धान्येन' में **हेतौ** (२.३.२३) सूत्रद्वारा तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये । समास के अभाव में स्वपदविग्रह भी रहेगा ।

इसीप्रकार—'पुण्येनार्थः पुण्यार्थः, हिरण्येनार्थो हिरण्यार्थः, वसनेनार्थो वसनार्थः' इत्यादियों में समास की सिद्धि होती है ।

अब एक अन्यसूत्र के द्वारा इसी तृतीयातत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२६) **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** ।२।१।३१।।

कर्त्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखैर्भिन्नो नखभिन्नः ।।

अर्थः—कर्त्ता अथवा करण में जो तृतीया तदन्त सुँबन्त, कृदन्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ बहुल कर के समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

कृतः काणः शलाकाकाणः' इत्यादिप्रकारेण विग्रह दर्शाया करते हैं । ध्यान रहे कि **वृत्ति (अलौकिकविग्रह)** में यह अंश स्वतः ही अन्तर्भूत रहता है ।

व्याख्या—कर्तृकरणे ।७।१। कृता ।३।१। बहुलम् ।१।१। तृतीया ।१।१। (**तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** से) । **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। कर्त्ता च करणं च कर्तृकरणम्, तस्मिन्=कर्तृकरणे, समाहारद्वन्द्वः । 'तृतीया' से तदन्तविधि हो कर 'तृतीयान्तं सुँबन्तम्' बन जाता है । इसीप्रकार प्रत्यय होने के कारण 'कृता' से भी तदन्तविधि हो कर 'कृदन्तेन सुँबन्तेन' या 'कृदन्तप्रकृतिकेन सुँबन्तेन' बन जाता है । अर्थः—(कर्तृ-करणे) कर्त्ता या करण कारक में (तृतीया) जो तृतीया तदन्त (सुँबन्तम्) सुँबन्त, (कृता=कृदन्तेन) कृदन्तप्रकृतिक (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (बहुलम्) बहुल कर के (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है[1] ।

कर्तृकारक में तृतीयान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हरिणा त्रातो[2] हरित्रातः (हरि से रक्षा किया हुआ)। अलौकिकविग्रह—हरि टा+त्रात सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में 'हरि टा' यह कर्तृतृतीयान्त सुँबन्त है, **कर्तृ-करणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्र द्वारा यहां कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हुई है। इस का 'त्रात सुँ' इस कृदन्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ प्रकृत **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२९) सूत्रद्वारा बहुल से समास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में अनुवर्तित 'तृतीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) से तद्बोध्य 'हरि टा' की उपसर्जनसंज्ञा और **उपसर्जनम्पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—हरि टा+त्रात सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँपों (टा और सुँ) का लुक् करने पर—हरित्रात। पुनः **एकदेशविकृतमनन्यवत्** परिभाषा से अवयव सुँपों का लुक् होने पर भी प्रातिपदिकत्व के अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की निर्बाध उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय

---

१. कुछ वैयाकरण 'कर्तृ-करणे' पद को सप्तम्यन्त न मान कर प्रथमाद्विवचनान्त मानते हैं और अनुवर्त्तित 'तृतीया' पद को इस का विशेषण बना कर 'तृतीयान्त कर्त्ता और करण, कृदन्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं' ऐसा अर्थ करते हैं। इस से भी वही सिद्ध होता है जो ऊपर मूलोक्त अर्थ से सिद्ध किया जाता है।

२. 'त्रातः' पद '**त्रैङ् पालने**' (भ्वा० आ०) धातु से **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) सूत्रद्वारा आत्व कर कर्मणि क्तप्रत्यय करने तथा **नुदविदोन्द-त्रा-घ्रा-ह्रीभ्योऽन्य-तरस्याम्** (८.२.५६) से वैकल्पिक नकार आदेश करने से सिद्ध होता है। नत्वपक्ष में **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार हो कर 'त्राणः' बनता है। त्राण-क्रिया का अनुक्त कर्त्ता होने के कारण 'हरि' शब्द से **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्र से तृतीया विभक्ति हो जाती है।

ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'हरित्रातः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । समासाभाव में स्वपदविग्रहवाक्य भी रहेगा ।

करणकारक में तृतीयान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—नखैर्भिन्नो नखभिन्नः (नाखूनों से चीरा गया) । अलौकिक-विग्रह—नख भिस्+भिन्न सुँ । यहां भेदनक्रिया में नख करण है और अनभिहित भी, अतः इस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्रद्वारा तृतीयाविभक्ति हुई है । इधर **भिदिँर् विदारणे** (रुधा० उ०) धातु से कर्म में कृत्संज्ञक क्तप्रत्यय कर **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) सूत्रद्वारा निष्ठा के तकार तथा धातु के दकार दोनों के स्थान पर नकार आदेश करने से 'भिन्न' यह कृदन्त रूप निष्पन्न होता है। अब यहां अलौकिकविग्रह में 'नख भिस्' इस करणतृतीयान्त का 'भिन्न सुँ' इस कृदन्त सुँबन्त के साथ प्रकृत **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र से बहुल कर तत्पुरुषसमास हो जाता है। पूर्ववत् तृतीयान्त की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (भिस् और सुँ) का लुक् कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'नखभिन्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अहिना हतोऽहिहतः । देवेन त्रातो देवत्रातः । दैवेन रक्षितो दैवरक्षितः[1] । परैर्भृतः परभृतः । अन्यैः पुष्टा अन्यपुष्टा (अन्यों द्वारा पाली गई—कोकिला) । वृकेण हतो वृकहतः । प्रज्ञया हीनः प्रज्ञाहीनः । विद्यया रहितो विद्यारहितः इत्यादियों में कर्तृतृतीयान्त का कृदन्त के साथ समास होता है । परशुना छिन्नः परशुछिन्नः । बलिभिः पुष्टो बलिपुष्टः । दात्त्रेण लूनो दात्त्रलूनः इत्यादियों में करण-तृतीयान्त का कृदन्त के साथ समास होता है ।

इस सूत्र में 'विभाषा' की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी 'बहुलम्' का प्रयोग प्रयोजनवशात् किया गया है । 'बहुलम्' की चार विधाएं पीछे **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) सूत्र पर इस व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं । (१) क्वचित्प्रवृत्तिः (कहीं प्रवृत्त हो जाना); (२) क्वचिदप्रवृत्तिः (कहीं प्रवृत्त न होना); (३) क्वचिद् विभाषा (कहीं विकल्प से प्रवृत्त होना); (४) क्वचिदन्यदेव (कहीं विधान से विपरीत कुछ और ही हो जाना) । यहां 'बहुलम्' के तृतीय अर्थ का आश्रय ले कर मूलोक्त उपर्युक्त दोनों उदाहरण दिये गये हैं। 'बहुलम्' के द्वितीय अर्थ 'क्वचिदप्रवृत्तिः' के कारण करणतृतीया का क्तवतुँ, शतृँ, शानच् आदि कुछ कृत्प्रत्ययान्तों के साथ समास नहीं होता । यथा—दात्त्रेण लूनवान्; परशुना छिन्नवान्; हस्तेन कुर्वन्; हस्तेन भुञ्जानः आदि में यह समास प्रवृत्त नहीं होता । 'बहुलम्' के चतुर्थ अर्थ 'क्वचिदन्यदेव' का भी यहां आश्रय लिया जाता है । इस से शिष्टप्रयोगानुसार पादहारकः, गलेचोपकः आदियों में तृतीया-

---

१. अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति (पञ्चतन्त्र १.२०) ।

भिन्न विभक्तियों का भी कृदन्तों के साथ समास सिद्ध हो जाता है[1]।

'कर्तृ-करणे' कहने से कर्त्ता और करण में होने वाली तृतीया का ही कृदन्त के साथ समास होता है अन्य तृतीया का नहीं। यथा—'भिक्षाभिरुषितः' (भिक्षा के हेतु निवास किया) यहां 'भिक्षाभिः' में **हेतौ** (२.३.२३) सूत्रद्वारा हेतु में की गई तृतीया का 'उषितः' इस कृदन्त के साथ समास नहीं होता।

'कृता' इसलिये कहा है कि करणतृतीया का तद्धितान्त के साथ समास न हो जाये। यथा—काष्ठैः पचतितराम् (लकड़ियों से वह अतिशय या अच्छा पकाता है)। यहां 'काष्ठैः' में करणतृतीया का तद्धितान्त 'पचतितराम्' से समास नहीं होता[2]। इसीप्रकार—'काष्ठैः पचतिरूपम्, काष्ठैः पचतिदेश्यम्, हस्तेन कृतपूर्वी, दध्ना भुक्तपूर्वी, 'घृतेन इष्टी' इत्यादियों में तद्धितान्तों के साथ तृतीया का समास नहीं होता।

इस शास्त्र में **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) सूत्रद्वारा विशेषण से तदन्तविधि का विधान किया गया है। यथा—**अचो यत्** (७७३) यहां 'अचः' यह अनुवर्त्यमान 'धातोः' का विशेषण है, अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अजन्ताद् धातोर्यत्' ऐसा अर्थ हो जाता है। परन्तु समासविधान में तदन्तविधि का वार्त्तिककार ने निषेध कहा है—**समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः** (वा०)। अतः **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (९२४) यहां 'समर्थैः' इस अनुवर्त्यमान का विशेषण होने पर भी श्रित आदियों से तदन्तविधि नहीं होती। इस से द्वितीयान्त सुँबन्त का श्रित आदि सुँबन्तों के साथ तो समास हो जाता है (यथा—कष्टं श्रितः कष्टश्रितः) परन्तु श्रित आदि जिस के अन्त में हों ऐसे समर्थ सुँबन्तों के साथ समास नहीं होता। यथा—'कष्टं परमश्रितः' यहां

---

१. पादाभ्यां ह्रियत इति पादहारकः (पैरों से जो अलग किया जाता है)। यहां 'पादाभ्याम्' पञ्चम्यन्त है, अपादान में पञ्चमी हुई है। न यहां कर्त्ता अर्थ में तृतीया है और न करण अर्थ में, हां 'हारकः' यह कृदन्त अवश्य है, इस में **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) द्वारा 'बहुलम्' ग्रहण के कारण कर्म में ण्वुल् प्रत्यय हुआ है जो कृत्संज्ञक है। इसीप्रकार—गले चोप्यते इति गलेचोपकः। यहां **चुप मन्दायां गतौ** (भ्वा० प०) धातु से हेतुमण्णिच् कर कर्म में ण्वुल् करने से 'चोपकः' बना है। 'गले' इस सप्तम्यन्त के साथ बाहुलकात् 'चोपकः' का समास हुआ है। समास में सप्तमी का **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६.३.११) से अलुक् हुआ है। जो गले में चुपके से धारण किया जाता है उसे 'गलेचोपकः' कहते हैं। साहित्य में इन दोनों के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

२. 'अतिशायने' और 'तिङश्च' की अनुवृत्ति आ कर **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा 'पचति' इस तिङन्त से तरप् प्रत्यय हो कर **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से आमुँ (आम्) तद्धित प्रत्यय करने से 'पचतितराम्' यह तद्धितान्त प्रयोग सिद्ध होता है। द्वाविमौ पचतः, अयमनयोरतिशयेन पचतीति पचतितराम्। **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से आम्प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

समास नहीं होता। तो इस प्रकार प्रकृत में तृतीयान्त का कृदन्त के साथ तो समास होता है पर कृदन्त जिस के अन्त में हो उस के साथ समास प्राप्त नहीं हो सकता। यथा—नखैर्निर्भिन्नः। परन्तु हमें यहां भी समास करना अभीष्ट है। अतः अग्रिम-परिभाषाद्वारा इस का विधान करते हैं—

[लघु०] कृद्-ग्रहणे गति-कारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् (प०)॥

नखनिर्भिन्नः॥

अर्थः—कृदन्त के ग्रहणस्थल में गतिपूर्वक या कारकपूर्वक कृदन्त का भी ग्रहण हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से 'कृत्' से कृदन्त का ग्रहण होता है। जहां कृदन्त का ग्रहण हो वहां कृदन्त को तो वह कार्य होता ही है पर यदि कृदन्त के पूर्व कोई गतिसञ्ज्ञक या कारक हो तो तद्विशिष्ट कृदन्त को भी वह कार्य हो जाता है—यह यहां परिभाषागत 'अपि' शब्द का अभिप्राय है। उदाहरण यथा—

'नखैर्निर्भिन्नः' में 'भिन्नः' कृदन्त है पर इस से पूर्व निस् या निर् गतिसञ्ज्ञक (२०१) भी विद्यमान है अतः प्रकृत परिभाषा के बल से **कर्तृ-करणे कृता बहुलम्** (९२६) द्वारा गतिविशिष्ट कृदन्त के साथ भी पूर्ववत् समास होकर तृतीयान्त की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात तथा सुँब्लुक् आदि कार्य करने से 'नखनिर्भिन्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कारकपूर्व कृदन्त का उदाहरण **क्षेपे** (२.१.४६) सूत्र पर 'अवतप्तेनकुलस्थितम्' आदि सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

तृतीयातत्पुरुषसमास का विधान करने वाला एक अन्य सूत्र भी विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है, उसका भी यहां उल्लेख किये देते हैं—

पूर्व-सदृश-समोनार्थ-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्णैः ।२।१।३०॥

अर्थः—तृतीयान्त सुँबन्त का पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थक (ऊन, विकल आदि), कलह, निपुण, मिश्र और श्लक्ष्ण इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास होता है। उदाहरण यथा—

(१) मासेन पूर्वः—मासपूर्वः। मासपूर्वो यज्ञदत्तो देवदत्तात् (यज्ञदत्त देवदत्त से एक महीना बड़ा है)।

(२) मात्रा सदृशः—मातृसदृशः। पितृसदृशः।

(३) पित्रा समः—पितृसमः। मातृसमः। गुरुसमः।

(४) माषेण ऊनम्—माषोनं तोलकम् (मासा भर कम तोला)।

(५) माषेण विकलम्—माषविकलं तोलकम् (मासा भर कम तोला)।

(६) पादेन ऊनम्—पादोनं रूप्यकम् (पौना रुपया)।

(७) वाचा कलहः—वाक्कलहः।

(८) वाचा निपुणः—वाङ्निपुणः।

(९) गुडेन मिश्राः—गुडमिश्राः (तण्डुलाः)।

(१०) आचारेण श्लक्ष्णः—आचारश्लक्ष्णः । व्यवहारश्लक्ष्णः (व्यवहार में साफ) ।

वा०—**अवरस्योपसंख्यानम्** । अर्थः—पूर्व आदि शब्दों में अवर (कम, हीन) शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिये । उदाहरण यथा—

(११) मासेन अवरः—मासावरः (एक महीना छोटा) ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा चतुर्थीतत्पुरुष का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९२७) चतुर्थी तदर्थाऽर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः ।२।१।३५।।**

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु—यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली ।।

अर्थः—चतुर्थ्यन्त सुँबन्त, उस चतुर्थ्यन्त के अर्थ (वाच्य) के लिये जो वस्तु तद्वाचक सुँबन्त के साथ एवम् अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है । **तदर्थेन०**—तदर्थ के साथ चतुर्थी का जो समास होता है वह प्रकृतिविकृतिभाव में ही इष्ट है अन्यत्र नहीं । अत एव 'रन्धनाय स्थाली' (पकाने के लिये बटलोई) यहां प्रकृतिविकृतिभाव न होने से समास नहीं होता ।

व्याख्या—चतुर्थी ।१।१। तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः ।३।३। **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** के अनुसार 'चतुर्थी' से 'चतुर्थ्यन्तं सुँबन्तम्' का ग्रहण होता है । तदर्थञ्च अर्थश्च बलिश्च हितं च सुखं च रक्षितं च तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितानि, तैः=तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(चतुर्थी=चतुर्थ्यन्तम्) चतुर्थ्यन्त (सुँबन्तम्) सुँबन्त, (तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः) तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन (सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

[१] चतुर्थ्यन्त का तदर्थ के साथ समास होता है । यह 'तदर्थ' क्या है ? 'तद्' शब्द से यहां पूर्वनिर्दिष्ट 'चतुर्थी' का बोध होता है, तस्मै इदं तदर्थम्, **अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्** (वा० ५४) इति नित्यसमासः । उस चतुर्थ्यन्त के लिये जो वस्तु वह तदर्थ कहायेगी । परन्तु चतुर्थ्यन्त के लिये कोई वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि चतुर्थ्यन्त तो शब्द होता है, भला शब्द के लिए कोई वस्तु कैसे सम्भव हो सकती है ? चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिये ही कोई वस्तु हो सकती है, अतः लक्षणाद्वारा 'तद्' से चतुर्थ्यन्त का अर्थ (वाच्य) गृहीत किया जायेगा । इस प्रकार 'चतुर्थ्यन्त के वाच्य के लिये जो वस्तु, उस वस्तु के वाचक सुँबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का समास होता है' यह यहां फलित होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—यूपाय[1] दारु यूपदारु (खम्भे के लिये लकड़ी)। अलौकिकविग्रह —यूप ङे + दारु सुँ। यहां 'यूप ङे' यह चतुर्थ्यन्त सुँबन्त है। इस के अर्थ (वाच्य) खम्भे के लिये लकड़ी है अतः लकड़ी का वाचक 'दारु सुँ' यह तदर्थ हुआ। इस तदर्थ के साथ चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का प्रकृत **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** (९२७) सूत्र से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में 'चतुर्थी' पद प्रथमा-निर्दिष्ट है, अतः इस के बोध्य 'यूप ङे' की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) से उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—यूप ङे + दारु सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँपों (ङे और सुँ) का लुक् करने से—यूपदारु। सुँपो का लुक् हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्याया-नुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से इस से परे पुनः विभक्त्युत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर 'यूपदारु सुँ' इस स्थिति में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्रद्वारा उत्तरपद के लिङ्गानुसार तत्पुरुष के भी नपुंसक माने जाने से **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) सूत्र से 'सुँ' का लुक् हो कर 'यूपदारु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—'कुण्डलाय हिरण्यं कुण्डलहिरण्यम् (कुण्डल के लिये सोना), द्वाराय काष्ठं द्वारकाष्ठम्; घटेभ्यो मृत्तिका घटमृत्तिका' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

तदर्थेन प्रकृति-विकृतिभाव एवेष्टः। तेनेह न—रन्धनाय स्थाली।

'तदर्थ' से यहां प्रत्येक तदर्थ का ग्रहण अभीष्ट नहीं अपितु प्रकृतिविकृतिभाव वाले तदर्थ का ही ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि जहां चतुर्थ्यन्त सुँबन्त विकृति तथा तदर्थवाचक प्रकृति होगा, वहां पर ही यह समास प्रवृत्त होगा[2]। यथा—'यूपाय दारु यूपदारु' इस मूलोक्त उदाहरण में 'यूप' विकृति तथा 'दारु' (लकड़ी) उस की

---

१. 'यूपाय' में चतुर्थी विभक्ति का विधान **तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या** इस वार्त्तिकद्वारा होता है। इस वार्त्तिक का विवेचन इस व्याख्या के कारकपरिशिष्ट (२६) में किया जा चुका है।

२. मूल वस्तु को प्रकृति तथा उस से बनी वस्तु को विकृति कहना ही यहां अभिप्रेत है। यथा—लकड़ी से यूप, मेज, कुर्सी, स्टूल आदि अनेक पदार्थ बनते हैं। इस तरह लकड़ी प्रकृति तथा यूप, मेज, कुर्सी, स्टूल आदि उस की विकृतियां हैं। सुवर्ण से कुण्डल, कङ्कण, केयूर, मुद्रिका आदि अनेक भूषण बनते हैं। इस प्रकार सुवर्ण प्रकृति तथा कुण्डल, कङ्कण आदि भूषण उस की विकृतियां हैं। मिट्टी से घट, सुराही, प्याले आदि अनेक पदार्थ बनते हैं। तो यहां मिट्टी प्रकृति तथा घट आदि उस की विकृतियां हैं। 'प्रकृति' से यहां समवायिकारण या उपादानकारण ही अभिप्रेत है। विकृतियां प्रकृति का ही रूपान्तर होती हैं उस से भिन्न नहीं—यह यहां विशेष ध्यातव्य है।

प्रकृति है क्योंकि लकड़ीरूप प्रकृति से ही यूप आदि विकृतियां उत्पन्न होती हैं। अतः प्रकृतिविकृतिभाव होने से यहां प्रकृतसूत्रद्वारा समास हो गया है। इसीप्रकार 'कुण्डलाय हिरण्यं कुण्डलहिरण्यम्' आदि में प्रकृतिविकृतिभाव होने के कारण समास समझना चाहिये। परन्तु जहां प्रकृतिविकृतिभाव नहीं होता वहां यह समास नहीं होता। यथा—रन्धनाय स्थाली (रान्धने=पकाने के लिये बटलोई)। यहां रान्धने के लिये बटलोई तदर्थ तो है पर इस में प्रकृतिविकृतिभाव नहीं, अतः समास नहीं हुआ। इसी प्रकार—'अवहननाय उलूखलम् (धान कूटने के लिये उलूखल), पूजायै पुष्पम्, यशसे काव्यम्' आदि में प्रकृतिविकृतिभाव न होने से समास नहीं होता।

शङ्का—यदि यह समास प्रकृतिविकृतिभाव में ही इष्ट है तो 'अश्वाय घासः—अश्वघासः, वासाय भवनम्—वासभवनम्, वासाय गृहम्—वासगृहम्, क्रीडायै सरः—क्रीडासरः, गवे ग्रासः—गोग्रासः, नाट्याय शाला—नाट्यशाला, लीलायै अम्बुजम्—लीलाम्बुजम्, तपसे वनम्—तपोवनम्, शयनाय पर्यङ्कः—शयनपर्यङ्कः, विश्रामाय स्थली—विश्रामस्थली' इत्यादियों में यह समास क्यों देखा जाता है?

समाधान—'अश्वघासः' आदियों में चतुर्थी-तत्पुरुषसमास नहीं किन्तु षष्ठी-तत्पुरुषसमास है। अतः 'अश्वस्य घासः—अश्वघासः, वासस्य भवनम्—वासभवनम्' इत्यादिप्रकारेण विग्रह जानना चाहिये। तदर्थ की विवक्षा होने पर इन में समास नहीं होता वाक्य ही रहता है ऐसा भाष्यकार को अभिप्रेत है। विशेष विस्तार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

[२] चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'अर्थ'[1] सुँबन्त के साथ प्रकृतसूत्र में जो समास विधान किया गया है उसकी नित्यता तथा विशेष्यलिङ्गता का अग्रिमवार्त्तिकद्वारा प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(५४) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्॥

द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्॥

अर्थः—'अर्थ' सुँबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त का जो ऊपर समास कहा है उसे नित्यसमास कहना चाहिये किञ्च इस समास का लिङ्ग भी विशेष्य के अनुसार समझना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **चतुर्थी तदर्था०** (९२७) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः यह तद्विषयक ही माना जायेगा। इस सूत्र में पीछे से 'विभाषा' की अनुवृत्ति आ रही है अतः यह वैकल्पिक समास का विधान करता है। परन्तु इस में 'अर्थ' शब्द के साथ चतुर्थी का जो समास विधान किया गया है वह प्रकृतवार्त्तिक से

१. अर्थशब्दोऽत्र वस्तुपरः। अर्थोऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु इत्यमरः। इह उपकारकं वस्तु विवक्षितमिति बोध्यम्।

नित्य होता है वैकल्पिक नहीं । अतः इस समास का स्वपदलौकिकविग्रह न होकर अस्वपदलौकिकविग्रह ही होगा । इस के अतिरिक्त यह एक और बात का भी विधान करता है । तथाहि—तत्पुरुषसमास का **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से वही लिङ्ग होता है जो उस के उत्तरपद का हुआ करता है । यहां उत्तरपद 'अर्थ' (वस्तु) शब्द है जो पुंलिङ्ग है अतः समास को भी पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होना चाहिये था । परन्तु इस वार्त्तिक से समास की विशेष्यलिङ्गता का विधान किया गया है । तात्पर्य यह है कि इस समास का वही लिङ्ग होगा जो इस के विशेष्य का होगा । तत्पुरुष की परवल्लिङ्गता वाला नियम यहां लागू नहीं होगा । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्विजाय अयं[1] द्विजार्थः (सूपः), ब्राह्मण के लिये दाल । अलौकिकविग्रह—द्विज ङे + अर्थ सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में **अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्** (वा० ५४) इस वार्त्तिक की सहायता से **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलिहितसुखरक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा 'द्विज ङे' इस चतुर्थ्यन्त का 'अर्थ सुँ' इस सुँबन्त के साथ नित्यसमास हो कर चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर उस के अवयव सुँपों (ङे और सुँ) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से—द्विज + अर्थ, सवर्णदीर्घ होकर 'द्विजार्थ' बना । अब इस से विशेष्य (सूपः) के अनुसार पुंलिङ्ग के प्रसङ्ग मे प्रथमा का एकवचन 'सुँ' प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'द्विजार्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यदि विशेष्य 'यवागूः' (लप्सी) आदि स्त्रीलिङ्ग होगा तो स्त्रीत्व की विवक्षा में 'द्विजार्थ' शब्द से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) सूत्रद्वारा टाप् (आ), सवर्णदीर्घ तथा प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप हो कर 'द्विजार्था' (यवागूः) प्रयोग बनेगा । इसी प्रकार विशेष्य यदि 'पयः' (दूध या जल) आदि नपुंसक होगा तो नपुंसकप्रक्रिया के अनुसार **अतोऽम्** (२३४) सूत्रद्वारा सुँ को अम् आदेश हो कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्विजार्थम्' (पयः) प्रयोग सिद्ध होगा । इसीप्रकार—इन्द्रायेदम् इन्द्रार्थं (हविः), अग्नये इयम् अग्न्यर्था (आहुतिः), मह्यमिदम् मदर्थं (धनम्), तुभ्यमिदं त्वदर्थं (धनम्)[2], उदकाय

---

१. समास का जो विशेष्य होता है उसी के लिङ्गानुसार यहां लौकिकविग्रह में 'अयम्, इयम्, इदम्' पद लगा कर प्रयोग किया जाता है । समास के नित्य होने के कारण स्वपदविग्रह नहीं होता । समासगत 'अर्थ' शब्द के बदले 'अयम्, इयम्, इदम्' लगाते हैं ।

२. 'युष्मद् ङे' और 'अस्मद् ङे' का जब 'अर्थ सुँ' के साथ समास होता है तो सुँब्लुक् होने पर **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) द्वारा युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश हो कर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने से 'त्वदर्थ' और 'मदर्थ' रूप बन जाते हैं । अन्य समासों में भी युष्मद् और अस्मद् शब्दों की प्रायः यही प्रक्रिया होती है । यथा—तव पुत्रः त्वत्पुत्रः, मम

अयम् उदकार्थो (घटः), आतुराय इयम् आतुरार्था (यवागूः), पित्रे इदम् पित्रर्थं (पयः) इस समास का साहित्यगत (नैषध० १.१३७) उदाहरण यथा—

मदर्थ-सन्देशमृणाल-मन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥[1]

[३] चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'बलि' सुबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—भूतेभ्यो बलिः—भूतबलिः (भूतों के लिये बलि)। अलौकिक-विग्रह—भूत भ्यस् + बलि सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'भूत भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'बलि सुँ' के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँपों (भ्यस् और सुँ) का लुक् करने पर—भूतबलि। स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमैकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग करने से 'भूतबलिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी-प्रकार—काकेभ्यो बलिः काकबलिः, यक्षाय बलिर्यक्षबलिः इत्यादि जानने चाहियें।

[४] चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'हित' सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—गोभ्यो हितम्—गोहितम् (गौओं का हित)। अलौकिकविग्रह—गो भ्यस् + हित सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'हित सुँ' इस सुँबन्त के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (भ्यस् और सुँ) का लुक् हो कर—गोहित। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण नपुंसक में **अतोऽम्** (२३४) द्वारा सुँ को अम् आदेश हो कर पूर्वरूप (१३५) करने से 'गोहितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति इसी समासविधान से ज्ञापित होती है। इसीप्रकार—राष्ट्राय हितं राष्ट्रहितम्, परलोकाय हितं परलोकहितम्, भुवनाय हितम् भुवनहितम्[2], ब्राह्मणाय हितम् ब्राह्मण-हितम् इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

पुत्रः मत्पुत्रः, त्वं नाथोऽस्य त्वन्नाथः, अहं नाथोऽस्य मन्नाथः। यह प्रक्रिया एकवचनान्त युष्मद्-अस्मद् में ही हुआ करती है, द्विवचनान्त और बहुवचनान्तों में नहीं। युवयोः पुत्रो युष्मत्पुत्रः, आवयोः पुत्रोऽस्मत्पुत्रः, इसीप्रकार बहुवचनान्त में भी समझना चाहिये।

१. मह्यम् इमे—मदर्थे (नपुंसके प्रथमाद्विवचनान्तम्)। मदर्थे ये सन्देशमृणाले तयो-र्विषये मन्थर इति विग्रहोऽत्र ज्ञेयः।

२. **अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः ।**
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ॥ (भट्टि० १.१)

(५) चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'सुख' सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—गोभ्यः[1] सुखं गोसुखम् (गौओं का सुख)। अलौकिकविग्रह—**गो भ्यस्+सुख सुँ**। यहां अलौकिकविग्रह में 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'सुख सुँ' इस सुँबन्त के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट के बोध्य चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (भ्यस् और सुँ) का लुक् हो कर 'गोसुख' बना। अब प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर परवल्लिङ्गता के कारण नपुंसक में **अतोऽम्** (२३४) द्वारा सुँ को अम् आदेश एवम् **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'गोसुखम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—अश्वाय सुखम् अश्वसुखम् आदि जानने चाहियें।

(६) चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'रक्षित' सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—गोभ्यो[2] रक्षितं गोरक्षितम्। (गौओं के लिये रक्षित तृण आदि)। अलौकिकविग्रह—गो भ्यस् + रक्षित सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'रक्षित सुँ' के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्र द्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास, चतुर्थ्यन्त का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँपों का लुक् तथा विभक्ति लाने से 'गोरक्षितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार अश्वेभ्यो रक्षितम् अश्वरक्षितम् आदि की सिद्धि जाननी चाहिये।

अब पञ्चमीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२८) पञ्चमी भयेन ।२।१।३६॥

[पञ्चम्यन्तं सुँबन्तं भयप्रकृतिकेन सुँबन्तेन वा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति]। चोराद् भयं चोरभयम्॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त सुँबन्त, भयप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—पञ्चमी ।१।१। भयेन ।३।१। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) इस परिभाषा के अनुसार 'पञ्चमी' से तदन्तविधि हो कर 'पञ्चम्यन्तं सुँबन्तम्' बन जाता है। अर्थः—(पञ्चमी=पञ्चम्यन्तम्) पञ्चम्यन्त (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (भयेन[3]) भयप्रकृतिक (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

---

१. तादर्थ्ये चतुर्थी। अथवा—**चतुर्थी चाऽऽशिष्यायुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुखार्थ-हितैः** (२.३.७३) इति चतुर्थी।

२. अत्रापि तादर्थ्ये चतुर्थी बोध्या।

३. 'भयेन' से यहां भयवाचक शब्द अभिप्रेत नहीं केवल 'भय' शब्द ही अभीष्ट है। अत एव 'वृकेभ्यस्त्रासः, चौरात् त्रासः' इत्यादियों में यह समास नहीं होता।

लौकिकविग्रह—चोराद्[1] भयं चोरभयम् (चोर से डर)। अलौकिकविग्रह—चोर ङसिँ + भय सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में '**चोर** ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त सुँबन्त का 'भय सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृतसूत्र **पञ्चमी भयेन** (९२८) द्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में 'पञ्चमी' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य की उपसर्जनसंज्ञा हो उस का पूर्वनिपात हो जाता है—चोर ङसिँ + भय सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उसके अवयव सुँपों (ङसिँ और सुँ) का लुक् हो कर—चोरभय। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने से परवल्लिङ्गता (९६२) के कारण नपुंसक में सुँ को **अतोऽम्** (२३४) द्वारा अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'चोरभयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास के अभाव में 'चोराद् भयम्' ऐसा वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—दस्योर्दस्युभ्यो वा भयं दस्युभयम्। विघ्नेभ्यो भयं विघ्नभयम्[2]। रोगेभ्यो भयं रोगभयम्[3]। वृकेभ्यो भयं वृकभयम् आदि प्रयोग जानने चाहियें।

वार्त्तिककार ने **भय-भीत-भीति-भीभिरिति वक्तव्यम्** इस वार्त्तिक में 'भय' शब्द के अतिरिक्त भीत, भीति और भी(डर) शब्दों के साथ भी पञ्चम्यन्त का समास कहा है। यथा—भयाद् भीतो भयभीतः[4]। वृकाद्भीतो वृकभीतः (भेड़िये से डरा हुआ)। वृकाद् भीतिः—वृकभीतिः (भेड़िये से भय)। वृकाद् भीः—वृकभीः (भेड़िये से डर)।

इन के अतिरिक्त क्वचिद् अन्यत्र भी पञ्चमीतत्पुरुषसमास देखा जाता है। यथा—भोगेभ्य उपरतो भोगोपरतः। ग्रामाद् निर्गतो ग्रामनिर्गतः। अधर्माद् जुगुप्सुः—अधर्मजुगुप्सुः। अध्यवसायाद् भीरुः—अध्यवसायभीरुः[5]। वन्याद् इतरः—वन्येतरः।

---

१. स्वार्थ-णिजन्त 'चुर्' (चोरि) धातु से पचादित्वात् **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः** (७८६) से अच् प्रत्यय करने तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप करने से 'चोर' (चोरयतीति चोरः) शब्द निष्पन्न होता है। 'चोर' से **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) द्वारा स्वार्थ में अण् (अ) प्रत्यय कर आदिवृद्धि से 'चौर' यह शब्द भी बनता है—चोर एव चौरः। प्रकृतसमासगतविग्रहवाक्य में 'चोर' शब्द की **भीत्रार्थानां भयहेतुः** (१.४.२५) सूत्र से अपादानसंज्ञा हो कर **अपादाने पञ्चमी** (६००) द्वारा अपादान में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

२. **प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः** (नीतिशतक ७२)।

३. **भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयम्** (वैराग्यशतक ३१)।

४. **भयभीता इवाङ्गनाः** (बुद्धचरित ४.२५)।

५. **न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः**
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः॥ (हितोप० १.१७२)

इन सब की सिद्धि **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण अन्य विभक्तियों का कृदन्त के साथ समास हो जाने अथवा सुँप्सुँपासमास मान लेने से की जाती है। कुछ लोग प्रकृतसूत्र का—(१) **पञ्चमी**, (२) **भयेन** इस प्रकार योगविभाग कर इस के प्रथमांश के द्वारा इन की सिद्धि किया करते हैं। योगविभागों का वर्णन आगे (९३४) सूत्र की व्याख्या में देखें।

अब एक अन्यसूत्र के द्वारा पञ्चमीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२९) स्तोकान्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि क्तेन ।२।१।३८॥

(स्तोकान्तिकदूरार्थवाचकाः कृच्छ्रशब्दश्चेति पञ्चम्यन्ताः क्तान्तप्रकृतिकेन सुँबन्तेन वा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति) ॥

अर्थः—स्तोकार्थक (स्वल्पार्थक), अन्तिकार्थक (समीपार्थक), दूरार्थक तथा कृच्छ्रशब्द—ये पञ्चम्यन्त सुँबन्त, क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि ।१।३। क्तेन ।३।१। (**पञ्चमी भयेन** से)। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब अधिकृत हैं। स्तोकश्च अन्तिकञ्च दूरञ्चेति स्तोकान्तिकदूराणि, इतरेतरद्वन्द्वः। स्तोकान्तिकदूराणि अर्था येषान्ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः, बहुव्रीहिसमासः। स्तोकान्तिकदूरार्थाः कृच्छ्रञ्चेति स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि, इतरेतरद्वन्द्वः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा 'पञ्चमी' से तदन्तविधि हो कर वचनविपरिणाम से 'पञ्चम्यन्तानि' बन जाता है। 'क्त' से भी तदन्तविधि हो कर 'क्तान्तेन' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि) स्वल्पार्थक, समीपार्थक, दूरार्थक तथा कृच्छ्रशब्द—ये सब (पञ्चम्यन्तानि) पञ्चम्यन्त सुँबन्त, (क्तान्तेन) क्तान्तप्रकृतिक (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासाः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

इस समास में पञ्चमी के लुक् का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(९३०) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।६।३।२॥

अलुगुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। (अल्पान्मुक्तः)। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। (विप्रकृष्टादागतः)। कृच्छ्रादागतः॥

अर्थः—स्तोक आदियों से परे पञ्चमी का लुक् नहीं होता उत्तरपद परे हो तो।

व्याख्या—पञ्चम्याः ।६।१। स्तोकादिभ्यः ।५।३। अलुक् ।१।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। स्तोक आदिर्येषान्ते स्तोकादयः, तेभ्यः = स्तोकादिभ्यः। बहुव्रीहिसमासः। स्तोकादियों से यहां पूर्वसूत्र (९२९) में प्रतिपादित स्तोकादियों का ग्रहण ही अभीष्ट है। न लुक् अलुक्, नञ्तत्पुरुषः। व्याकरण में समास के अन्तिमपद को 'उत्तरपद' कहते हैं। अर्थः—(स्तोकादिभ्यः) स्तोक आदि शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी

विभक्ति का (अलुक्) लुक् नहीं होता (उत्तरपदे) उत्तरपद परे हो तो। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—स्तोकाद्[1] मुक्तः—स्तोकान्मुक्तः स्तोकाद्मुक्तो वा (थोड़े से छूटा हुआ)। अलौकिकविग्रह—स्तोक ङसिँ + मुक्त सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'स्तोक ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त का 'मुक्त सुँ' इस क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ **स्तोकान्तिक-दूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन** (९२९) सूत्र से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास-विधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट के बोध्य 'स्तोक ङसिँ' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो कर— स्तोक ङसिँ + मुक्त सुँ। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (ङसिँ और सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु **पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः** (९३०) सूत्र से पञ्चमी के लुक् का तो निषेध हो जाता है किन्तु 'सुँ' का लुक् यथावत् हो जाता है—स्तोक ङसिँ + मुक्त। अब **टा-ङसिँ-ङसामिनात्स्याः** (१४०) से ङसिँ के स्थान पर 'आत्' सर्वादेश, सवर्णदीर्घ (४२), **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्व-दकार तथा **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से दकार को वैकल्पिक अनुनासिक-नकार हो कर—'स्तोकान्मुक्त, 'स्तोकाद्मुक्त' ये दो रूप बनते हैं। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार सुँब्लुक् हो जाने पर भी प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से सुँबुत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर अनुबन्ध उकार का लोप, सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'स्तोकान्मुक्तः, स्तोकाद्मुक्तः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। समासाभाव में भी 'स्तोकान्मुक्तः' या 'स्तोकाद् मुक्तः' वही प्रयोग रहते हैं।

स्तोकान्तिकदूरार्थ० (९२९) सूत्र में केवल 'स्तोक' शब्द का ही ग्रहण नहीं अपितु स्तोकार्थकों का ग्रहण किया गया है, अतः 'स्तोक' के पर्यायवाचकों का भी क्तान्त के साथ समास हो जाता है। यथा—अल्पाद् मुक्तः—अल्पान्मुक्तः।[2]

अन्तिक (समीप) अर्थ के वाचकों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास यथा—अन्तिकाद्[3] आगतः—अन्तिकादागतः (समीप से आया हुआ)। अभ्याशाद् आगतः—अभ्याशादागतः। समीपाद् आगतः—समीपादागतः। सविधाद् आगतः—

---

१. यहां **करणे च स्तोकाऽल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य** (२.३.३३) सूत्रद्वारा करण में पञ्चमीविभक्ति हुई है। स्तोकशब्द यहां असत्त्ववाची है।

२. अर्थग्रहणेऽपि स्तोकार्थोऽल्पशब्द एवात्र गृह्यते न लेशादयः। **करणे च स्तोकाल्प-कृच्छ्रकतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य** (२.३.३३) इति पञ्चमीविधौ तस्यैव ग्रहेण अन्येभ्यस्तेन पञ्चम्यभावाद् अस्याऽप्राप्तेः। प्रतिपदोक्तपरिभाषया च तद्विहितपञ्चम्यन्तेनैवायं समास इत्याहुः।

३. दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों से **दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२.३.३५) सूत्रद्वारा पञ्चमीविभक्ति होती है।

सविधादागतः । इन समासों में अनुनासिक परे न होने से **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) की प्रवृत्ति नहीं होती । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ।

दूर अर्थ के वाचकों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास यथा—दूराद् आगतः—दूरादागतः । विप्रकृष्टाद् आगतः—विप्रकृष्टादागतः । विदूराद् आगतः—विदूरादागतः ।

कृच्छ्रशब्द का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास यथा—कृच्छ्राद्[1] आगतः—कृच्छ्रादागतः । कृच्छ्राद् लब्धः—कृच्छ्राल्लब्धः[2] (कठिनता से पाया हुआ) । 'कृच्छ्र' का केवल ग्रहण है कृच्छ्रार्थकों का नहीं, अतः 'कष्टाद् आगतः' आदि में यह समास प्रवृत्त नहीं होता ।

विशेष वक्तव्य—'स्तोकान्मुक्तः' आदि में समास के विधान करने का फल ही क्या है ? विभक्तिलोप न होने से समास-असमास दोनों अवस्थाओं में एक सा ही रूप रहता है ? इस का उत्तर यह है कि समास करने का प्रयोजन स्तोकान्मुक्तः' आदि को एकपद बनाना है । एकपद बन जाने से इन में एक ही स्वर लगेगा पृथक् पृथक् नहीं । इस के अतिरिक्त एकपद के कारण समस्तशब्द से ही तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति होगी । यथा—स्तोकान्मुक्तस्य अपत्यम्—स्तौकान्मुक्तिः यहां **तस्याऽपत्यम्** (१००४) के अर्थ में **अत इञ्** (१०१४) द्वारा 'स्तोकान्मुक्त' से इञ् तद्धितप्रत्यय हो कर **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् ओकार को औकार वृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने पर स्तौकान्मुक्तिः (थोड़े से मुक्त हुए की सन्तान) प्रयोग सिद्ध हो जायेगा । यह रूप समास किये बिना नहीं बन सकता । इसीप्रकार—दूरादागतस्य अपत्यम्—दौरादागतिः (दूर से आये हुए की सन्तान) आदियों में समझना चाहिये ।

स्तोकादि पञ्चम्यन्तों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ ही समास कहा है अन्यों के साथ नहीं । अत एव 'स्तोकाद् मोक्षः' यहां क्तान्त न होने से समास नहीं होता ।

पञ्चमीतत्पुरुषसमास के इस प्रकरण में छात्रों के लिये उपयोगी एक अन्य सूत्र तथा एक वार्त्तिक का भी यहां संक्षेप से उल्लेख किये देते हैं—

अपेताऽपोढ-मुक्त-पतिताऽपत्रस्तैरल्पशः ।२।१।३७।।

अर्थः—कुछेक पञ्चम्यन्त सुँबन्त, अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित और अपत्रस्त—इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है । उदाहरण यथा—

सुखाद् अपेतः—सुखापेतः (सुख से रहित)

---

१. यहां भी करण में कृच्छ्रशब्द से **करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्र-कतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य** (२.३.३३) सूत्रद्वारा पञ्चमीविभक्ति हुई है ।

२. जश्त्वेन तकार को दकार हो कर **तोर्लि** (६९) सूत्रद्वारा दकार को परसवर्ण लकार हो जाता है ।

कल्पनाया अपोढः—कल्पनापोढः (कल्पना से दूर गया हुआ)।
चक्राद् मुक्तः—चक्रमुक्तः (चक्र से छूटा हुआ)।
स्वर्गात् पतितः—स्वर्गपतितः (स्वर्ग से गिरा हुआ)।
तरङ्गेभ्योऽपत्रस्तः—तरङ्गापत्रस्तः (तरङ्गों से डर कर दूर गया हुआ)।

कुछेक पञ्चम्यन्तों का ही समास होता है सब का नहीं, अतः 'प्रासादात् पतितः, भोजनाद् अपत्रस्तः' इत्यादियों मे समास नहीं होता।

वा० —शत-सहस्रौ परेणेति वक्तव्यम्। (काशिका)

अर्थः—पञ्चम्यन्त 'शत' और 'सहस्र' सुँबन्त—'पर' इस सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसंज्ञक समास को प्राप्त होते हैं।

समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट होने के कारण पञ्चम्यन्त 'शत' और 'सहस्र' सुँबन्तों की उपसर्जनसंज्ञा होने से उन का ही पूर्वनिपात प्राप्त होता है, परन्तु **राजदन्तादिषु परम्** (९८६) के अनुसार इन का परनिपात हो जाता है। किञ्च **पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्** (६.१.१५१) द्वारा पारस्करप्रभृतिगण को आकृतिगण मान कर इन को सुँट् का आगम भी हो जाता है। **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार टित्त्व के कारण सुँट् का आगम 'शत' और 'सहस्र' शब्दों का आद्यवयव बनता है। उदाहरण यथा—शतात् परे परश्शताः पुरुषाः। शतात् पराः परश्शता नार्यः[1]। शतात् पराणि परश्शतानि नगराणि। इसीप्रकार—सहस्रात् परे परस्सहस्राः पुरुषाः। परस्सहस्रा नार्यः। परस्सहस्राणि नगराणि। यहां यह ध्यातव्य है कि सुँट् का सकार पदान्त नहीं अतः इसे रुँत्व-विसर्ग नहीं होते। 'शत' परे रहते सुँट् के सकार को श्चुत्वेन शकार हो जाता है परन्तु 'सहस्र' में वह यथावत् सकार ही स्थित रहता है। परःशताः, परःसहस्राः आदि लिखना अशुद्ध है। इन समासघटित शब्दों का लिङ्ग लोकानुसार विशेष्य के अनुसार होता है। इन में परवल्लिङ्गता नहीं होती।

अब क्रमप्राप्त षष्ठीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३१) **षष्ठी** ।२।२।८।।

सुँबन्तेन प्राग्वत्। राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त सुँबन्त, समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—षष्ठी ।१।१। **समर्थः पदविधिः, समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः उपलब्ध हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** इस परिभाषा के

---

१. **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) से यहां 'परा' को पुंवद्भाव से 'पर' हो जाता है।

अनुसार 'षष्ठी, सुँप्, सुँपा' इन सब से तदन्तविधि हो जाती है। **अर्थः**—(षष्ठी=षष्ठ्यन्तम्) षष्ठ्यन्त (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (समर्थेन) समर्थ (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। समास वैकल्पिक है अतः इस का स्वपद-लौकिकविग्रह होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः (राजा का सेवक)। अलौकिकविग्रह—राजन् ङस्+पुरुष सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'राजन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त का 'पुरुष सुँ' इस समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में 'षष्ठी' प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'राजन् ङस्' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—राजन् ङस्+पुरुष सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (ङस् और सुँ) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—राजन्पुरुष। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा लुप्त हुई अन्तर्वर्तिनी विभक्ति (ङस्) को मान कर 'राजन्' के पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का लोप करने पर—राजपुरुष। पुनः एक-देश के लुप्त होने से विकृत हो जाने पर भी प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उकार अनुबन्ध का लोप, सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'राज-पुरुषः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

(१) आत्मनो ज्ञानम्—आत्मज्ञानम्।
(२) ब्रह्मणो विचारः—ब्रह्मविचारः।
(३) राज्ञो धानी—राजधानी।
(४) परमात्मनो भक्तिः—परमात्मभक्तिः।
(५) स्वामिनः सेवा—स्वामिसेवा।
(६) रोगिणश्चर्या—रोगिचर्या।

[इन सब में पदान्त नकार का लोप हो जाता है।]

(७) चेतसो वृत्तिः—चेतोवृत्तिः।
(८) तपसो वनम्—तपोवनम्।
(९) मनसो विकारः—मनोविकारः।
(१०) वेधसो रचना—वेधोरचना।

[इन में सकार को रुँत्व, उत्व (१०७) और गुण (२७) हो जाता है।]

(११) उरसः कम्पः—उरःकम्पः।
(१२) चेतसः प्रसादः—चेतःप्रसादः।
(१३) मनसः स्थितिः—मनःस्थितिः।

(१४) वचसः प्रयोगः—वचःप्रयोगः ।

[इन में पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग हो जाते हैं।]

(१५) यशसोऽभिलाषः—यशोऽभिलाषः।

(१६) तपसोऽन्तः—तपोऽन्तः ।

(१७) मनसोऽवस्था—मनोऽवस्था ।

[इन में पदान्त सकार को रुँत्व-उत्व-गुण हो पूर्वरूप हो जाता है ।]

(१८) तस्य पुरुषः—तत्पुरुषः ।

(१९) नृणां पतिः—नृपतिः ।

(२०) भुवः पतिः—भूपतिः ।

(२१) गङ्गाया जलम्—गङ्गाजलम् ।

(२२) अश्वस्य घासः—अश्वघासः ।

(२३) वासस्य भवनम्—वासभवनम् ।

(२४) गृहस्य स्वामी—गृहस्वामी ।

(२५) सतां सङ्गतिः—सत्सङ्गतिः । इत्यादि ।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में **षष्ठीतत्पुरुषसमास** बहुत ही संक्षिप्त दिया गया है। अतः प्रबुद्ध छात्रों के लिये कुछ अन्य उपयोगी सूत्र हम यहां समझा कर सोदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

[१] **न निर्धारणे** ।२।२।१०।।

अर्थः—निर्धारण अर्थ में जो षष्ठी वह समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती । उदाहरण यथा—

नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः । मनुष्याणां क्षत्त्रियः शूरतमः । यहां **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) सूत्रद्वारा निर्धारण में षष्ठी हुई है अतः इस का सुँबन्त के साथ समास नहीं होता ।[1]

[२] **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** ।२।२।१५।।

अर्थः—कर्त्ता अर्थ में जो तृच् और अक (ण्वुल्) प्रत्यय, तदन्त सुँबन्तों के साथ कृद्योग में हुई षष्ठी का समास नहीं होता । उदाहरण यथा—

तृच्—घटानां निर्माता, वज्रस्य भर्ता, अपां स्रष्टा । इत्यादि । अक—ओदनस्य

---

१. पुरुषाणाम् उत्तमः—पुरुषोत्तमः । यहां निर्धारण में षष्ठी नहीं हुई अपितु सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी है अतः समास का निषेध नहीं होता । कैयटोपाध्याय का कथन है कि तीन बातों के होने पर ही निर्धारणषष्ठी हुआ करती है—(१) जिस से निर्धारित करना है वह समुदाय । (२) निर्धार्यमाण—जिसे निर्धारित करना है वह । (३) निर्धारण का हेतु । यहां तीन बातें पूरी न होने से निर्धारणषष्ठी नहीं अपितु सम्बन्धषष्ठी है, अतः समास हो गया है ।

पाचकः, कूपस्य खनकः, यवानां लावकः । इत्यादि । यहां **ण्वुल्तृचौ** (७८४) सूत्रद्वारा कर्त्ता में तृच् और ण्वुल् प्रत्यय हुआ है । अतः षष्ठी का इन के साथ समास नहीं हुआ[1] ।

[३] **याजकादिभिश्च** ।२।२।९।।

अर्थः—कृद्योगा षष्ठी, याजक आदियों के साथ समास को प्राप्त हो जाती है। यह **तृजकाभ्यां कर्तरि** (२.२.१५) सूत्र का अपवाद है । उदाहरण यथा—

(१) ब्राह्मणस्य याजकः—ब्राह्मणयाजकः ।

(२) देवानां पूजकः—देवपूजकः ।

(३) भुवो भर्त्ता[2]—भूभर्त्ता । वैदेहीभर्त्ता ।

(४) संस्कृतस्याध्यापकः—संस्कृताध्यापकः ।

(५) राज्ञः परिचारकः—राजपरिचारकः ।

(६) घटस्य उत्पादकः—घटोत्पादकः ।

(७) भोजनस्य परिवेषकः—भोजनपरिवेषकः ।

[४] पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन ।२।२।११।।

अर्थः—पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाची शब्द, सुहित-तृप्ति अर्थ वाले, सत्सञ्ज्ञक-प्रत्ययान्त (शतृ-शानच्-प्रत्ययान्त), अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त तथा समानाधिकरणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त सुँबन्त समास को प्राप्त नहीं होता । उदाहरण यथा—

पूरणप्रत्ययान्त—छात्राणां पञ्चमः । सतां षष्ठः ।

गुणवाची—काकस्य कार्ष्ण्यम् । बलाकायाः शौक्ल्यम्[3] ।

सुहितार्थ—फलानां सुहितः । फलानां तृप्तः ।

सत्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् । ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । (ब्राह्मण का नौकर) ।

अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा ।

---

१. कृद्योगा षष्ठी का ही यह निषेध है । अतः **घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः** इत्यादियों में शेषषष्ठी का निषेध नहीं होता समास हो जाता है । त्रिभुवनस्य विधाता—त्रिभुवनविधाता, तस्य=त्रिभुवनविधातुः ।

२. याजकादियों में पठित 'भर्तृ' शब्द का स्वामी या पति अर्थ ही विवक्षित है। 'धारण करने वाला' इत्यादि अर्थों में **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** (२.२.१५) सूत्र से समास का निषेध हो जाता है।

३. षष्ठ्यन्त का गुणवाचियों के साथ समास का यह निषेध अनित्य है । आचार्य ने **तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्** (१.२.५३) सूत्र में 'सञ्ज्ञायाः प्रमाणत्वात् संज्ञाप्रमाणत्वात्' ऐसा गुणवाची के साथ स्वयं षष्ठी का समास किया है । अतः इस निषेध के अनित्य होने से 'अर्थस्य गौरवम् अर्थगौरवम्, बुद्धेर्मान्द्यम् बुद्धिमान्द्यम्' इत्यादियों में समास हो जाता है । नागेशभट्ट का मत इस से भिन्न है उसे लघुशब्देन्दुशेखर में देखें ।

तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् ।[1]

समानाधिकरण—पाणिनेः सूत्रकारस्य । दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।

[५] **कर्मणि च** ।२।२।१४।।

अर्थः—कर्म में विहित षष्ठी समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती । उदाहरण यथा—

आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (गोपालक न होते हुए भी इस का गौओं को दोहना आश्चर्यजनक है) । यहां 'दोह' इस कृत्प्रत्ययान्त के साथ योग होने पर कर्म (गो) और कर्त्ता (अगोप) दोनों में षष्ठी प्राप्त थी पर ऐसी स्थिति में **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२.३.६६) सूत्रद्वारा कर्म (गो) में ही षष्ठी हुई । 'गवाम्' यह कर्म में षष्ठी है, अतः इस का 'दोहः' सुँबन्त के साथ समास नहीं हुआ । इसीप्रकार—विचित्रा हि सूत्राणां कृतिः पाणिनिना । साधु खलु सूत्रस्य व्याख्यानं भाष्यकारेण ।

[६] **अधिकरणवाचिना च** ।२।२।१३।।

अर्थः—अधिकरण अर्थ में विहित जो क्तप्रत्यय, तदन्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता । उदाहरण यथा—

(१) इदमेषां शयितम् (यह इन के सोने का स्थान है) ।

(२) इदमेषाम् आसितम् (यह इन के बैठने का स्थान है) ।

(३) इदमेषाम् भुक्तम् (यह इन के खाने का स्थान है) ।

(४) इदमेषां यातम् (यह इन के जाने का मार्ग है) ।

यहां शयितम्, आसितम्, भुक्तम्, यातम्—में **क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य-गति-प्रत्यवसानार्थेभ्यः** (३.४.७६) सूत्र से अधिकरण में क्तप्रत्यय हुआ है अतः इन के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता ।

[७] **क्तेन च पूजायाम्** ।२।२।१२।।

अर्थः—मति (इच्छा), बुद्धि, पूजा—इन अर्थों वाली धातुओं से **मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च** (३.२.१८८) सूत्रद्वारा वर्त्तमानकाल में जो क्तप्रत्यय किया जाता है उस क्तान्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता । उदाहरण यथा—

(१) राज्ञां मतः (राजाओं से चाहा जाने वाला) ।

(२) राज्ञां बुद्धः (राजाओं से जाना जाता हुआ) ।

(३) राज्ञां पूजितः (राजाओं से पूजा जाने वाला) ।

यहां 'मतः, बुद्धः, पूजितः' में वर्त्तमानकाल में कर्मणि क्तप्रत्यय हुआ है । इन के योग में **क्तस्य च वर्त्तमाने** (२.३.६७) सूत्रद्वारा कर्त्ता (राजन्) में षष्ठी हुई है । इस षष्ठी का इन क्तान्तों के साथ समास नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अवयव-अवयविसमास का विधान करते हैं—

---

१. समास का यह निषेध तव्यप्रत्ययान्त के साथ है तव्यत्प्रत्ययान्त के साथ नहीं ।

एकदेशिन [composite-parts] made of

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३२) **पूर्वाऽपराऽधरोत्तरमेकदेशिनैकाऽधिकरणे** ।२।२।१।।

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासाऽपवादः । पूर्वं कायस्य—पूर्वकायः । अपरकायः । एकाऽधिकरणे किम् ? पूर्वश्छात्त्राणाम् ।।

अर्थः—यदि अवयवी एकत्वसंख्याविशिष्ट हो तो तद्वाचक सुँबन्त के साथ पूर्व, अपर, अधर, उत्तर—ये चार सुँबन्त विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। यह सूत्र **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा प्राप्त समास का अपवाद है।

व्याख्या—पूर्वाऽपराऽधरोत्तरम् ।१।१। एकदेशिना ।३।१। एकाधिकरणे ।७।१। **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। पूर्वञ्च परञ्च अधरञ्च उत्तरञ्च एषां समाहारः—पूर्वापराधरोत्तरम्, समाहारद्वन्द्वः । एकदेशः=अवयवः, सोऽस्यास्तीति एकदेशी, तेन=एकदेशिना, अवयविनेत्यर्थः । एकम् (एकत्वसंख्याविशिष्टम्) च तद् अधिकरणम् (द्रव्यम्)—एकाधिकरणम्, तस्मिन्=एकाधिकरणे, कर्मधारयसमासः । 'एकाधिकरणे' का सम्बन्ध 'एकदेशिना' के साथ है। अर्थः—(एकाधिकरणे) एकत्वसंख्याविशिष्ट द्रव्य अर्थ में वर्त्तमान (एकदेशिना) जो अवयवी तद्वाचक (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (पूर्वापराधरोत्तरम्) पूर्व, अपर, अधर और उत्तर—ये (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पूर्वं[1] कायस्य[2]—पूर्वकायः (शरीर का अगला अर्ध)।

---

१. 'पूर्वम्' यहां नपुंसक का प्रयोग 'अर्धम्' विशेष्य को ध्यान में रखते हुए किया गया है। यदि 'भागः' आदि विशेष्य विवक्षित हो तो 'पूर्वः' इस प्रकार पुंलिङ्ग में भी प्रयोग हो सकता है जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने हैमव्याकरण की स्वोपज्ञ-बृहद्वृत्ति में किया है।

२. दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । जो शब्द एक बार दिशा अर्थ में देखा जा चुका हो चाहे अब वह दिशावाची न भी हो तो भी उस के योग में **अन्याराबितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (२.३.२९) सूत्रद्वारा पञ्चमीविभक्ति का विधान किया जाता है, तो पुनः यहां 'पूर्व' शब्द के योग में 'पूर्वं कायस्य' इस प्रकार 'काय' शब्द से षष्ठी न होकर पञ्चमी होनी चाहिये थी ? इस का उत्तर यह है कि **तस्य परमाम्रेडितम्** (८.१.२) इस पाणिनीयसूत्र में 'पर' इस दिक्शब्द के योग में 'तस्य' में षष्ठी के प्रयोग से यह बात ध्वनित होती है कि आचार्य अवयव अर्थ में वर्त्तमान दिक्शब्द के योग में पञ्चमी का विधान नहीं चाहते अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही चाहते हैं।

अलौकिकविग्रह--पूर्व सुँ+काय ङस् । यहां अलौकिकविग्रह में 'काय ङस्' यह एकत्व-संख्याविशिष्ट अवयवी का वाचक है । इस के साथ अवयववाचक 'पूर्व सुँ' का प्रकृत **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (९३२) सूत्र से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधायक इस सूत्र में 'पूर्वापराधरोत्तरम्' यह प्रथमानिर्दिष्ट है अत: तद्बोध्य 'पूर्व सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—पूर्व सुँ+काय ङस् । अब समाससंज्ञक इस समग्र समुदाय की **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयो:** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् हो जाता है—पूर्वकाय । एकदेश-विकृतन्याय से प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता के नियमानुसार पुंलिङ्ग में[1] सुँ के सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पूर्वकाय:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यह सूत्र **षष्ठी** (९३१) सूत्र का अपवाद है । यदि **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा समास किया जाता तो षष्ठ्यन्त के प्रथमानिर्दिष्ट होने के कारण 'काय ङस्' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात करने से 'कायपूर्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनता। उसे रोकने के लिये ही उस का अपवाद यह सूत्र बनाया गया है[2] । यह सूत्र वैकल्पिक समास का विधान करता है । जिस पक्ष में समास प्रवृत्त न होगा वहां 'पूर्वं कायस्य' ऐसा वाक्य ही रहेगा । वहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा पुन: समास न होगा । क्योंकि महाविभाषा से जब विकल्प किया जाता है तो अपवाद से मुक्त होने पर पुन: उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती—ऐसा नियम है[3] ।

इसीप्रकार—अपरं कायस्य--अपरकाय: (शरीर का पिछला आधा भाग) । अधरं कायस्य—अधरकाय: (शरीर का निचला आधा भाग) । उत्तरं कायस्य—उत्तर-काय: (शरीर के ऊपर का आधा भाग) । पूर्वोऽह्न:—पूर्वाह्ण:[4] (दिन का पहला भाग) ।

---

१. यहां उत्तरपद 'काय' है जो पुंलिङ्ग है । यथा—**अनेकदोषदुष्टोऽपि काय: कस्य न वल्लभ:** (पञ्चतन्त्र १.२६५) ।

२. अन्यथा 'ऊर्ध्वश्चासौ काय:—ऊर्ध्वकाय:' की तरह 'पूर्वश्चासौ काय:—पूर्वकाय:' इस प्रकार कर्मधारयसमास से भी 'पूर्वकाय:' की सिद्धि की जा सकती थी ।

३. यह नियम **पारे मध्ये षष्ठ्या वा** (२.१.१७) सूत्र में महाविभाषा की अनुवृत्ति होने पर भी पुन: 'वा' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है । इस का विस्तार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें ।

४. 'पूर्व सुँ+अहन् ङस्' यहां प्रकृतसूत्र से समास, सुँब्लुक् तथा **राजाह:सखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् हो कर—पूर्व अहन् अ । अब **अह्नोऽह्न एतेभ्य:** (५.४.८८) द्वारा एकदेश (अवयव) से परे अहन् को 'अह्न' सर्वादेश, **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) से 'अह्न' के नकार को णकार एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर

अपरोऽह्नः—अपराह्णः (दिन का पिछला भाग)। उत्तरोऽह्नः—उत्तराह्णः (दिन का पिछला भाग) इत्यादि उदाहरण जानने चाहियें।

एकाधिकरणे किम् ? पूर्वश्छात्त्राणाम्।

इस समास में अवयवी का एकत्वसंख्याविशिष्ट होना आवश्यक है अन्यथा यह समास प्रवृत्त न होगा। यथा—पूर्वश्छात्त्राणाम्[1] (छात्रों का पहला भाग आदि)। यहां अवयवी 'छात्त्राणाम्' है जो बहुवचनान्त होने से बहुत्वसंख्याविशिष्ट है। अतः यहां यह समास प्रवृत्त नहीं होता।

एकदेशिना किम् ? पूर्वं नाभेः कायस्य।

पूर्व आदि का अवयवी के साथ ही यह समास विधान किया गया है। यदि उत्तरपद अवयवी न होगा तो उस के साथ पूर्वादियों का यह समास **न होगा**। यथा—पूर्वं नाभेः कायस्य (नाभि से पूर्व शरीर का आधा भाग)। यहां 'पूर्वं नाभेः' में 'नाभेः' यह दिग्योगपञ्चम्यन्त पद है अवयवी नहीं अतः इस के साथ 'पूर्वम्' का समास नहीं होता। हां ! 'कायस्य' के साथ 'पूर्वम्' का समास हो सकता है—पूर्वकायो नाभेः।[2]

पूर्वाऽपराऽधरोत्तरम् इति किम् ? दक्षिणं कायस्य।

पूर्व, अपर, अधर और उत्तर—ये चार सुँबन्त ही प्रकृतसूत्रद्वारा अवयवी के साथ समास को प्राप्त होते हैं अन्य यहीं। इस से 'दक्षिणं कायस्य' (शरीर का दाहिना आधा भाग) यहां 'दक्षिण' सुँबन्त का अवयवी के साथ समास नहीं होता।

अब एक अन्यसूत्रद्वारा अवयवावयविसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३३) **अर्धं नपुंसकम्** ।२।२।२॥

समांशवाची अर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली॥

अर्थः—सम अंश (ठीक आधे भाग) का वाचक 'अर्ध' शब्द नित्यनपुंसक होता है। नित्यनपुंसक यह अर्ध सुँबन्त एकत्वविशिष्ट अवयवी के वाचक सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

सवर्णदीर्घ करने से 'पूर्वाह्णः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्र के अनुसार यहां परवल्लिङ्ग अर्थात् उत्तरपद 'अहन्' के लिङ्गानुसार नपुंसक प्राप्त होता था परन्तु **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) सूत्र से उस का बाध होकर पुंस्त्व हो जाता है।

१. यहां निर्धारण में षष्ठी नहीं किन्तु अवयवावयविभावसम्बन्ध में षष्ठी हुई है। 'अंशः' विशेष्य का अध्याहार करना चाहिये। कहीं कहीं 'पूर्वं छात्त्राणाम्' ऐसा भी पाठ मिलता है। वहां 'अर्धम्' विशेष्य के कारण नपुंसक का प्रयोग समझना चाहिये।

२. अत्र नाभ्यपेक्षोऽपि पूर्वशब्दः 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इतिवन्नित्यसापेक्षत्वात् समस्यते। उक्तञ्च—**सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते** इति॥

व्याख्या—अर्धम् ।१।१। नपुंसकम् ।१।१। एकाधिकरणे ।७।१। एकदेशिना ।३।१। (**पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** सूत्र से) । **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'एकाधिकरणे' तथा 'एकदेशिना' की व्याख्या पूर्वसूत्र में कर चुके हैं । अर्थः—(एकाधिकरणे) एकत्वसंख्याविशिष्ट द्रव्य अर्थ में वर्त्तमान (एकदेशिना) जो अवयवी, तद्वाचक (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (नपुंसकम्) नित्यनपुंसक (अर्धम्) 'अर्ध' (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है । 'अर्ध' शब्द जब अंश (भाग) का वाचक हो तो पुंलिङ्ग या नपुंसक में प्रयुक्त होता है परन्तु जब समप्रविभाग (ठीक आधे भाग) का वाचक हो तब वह नित्यनपुंसक हुआ करता है[1] । इस नित्यनपुंसक 'अर्ध' सुँबन्त का एकत्वसंख्याविशिष्ट अवयवी सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली (पिप्पली अर्थात् पीपर का ठीक आधा भाग) । अलौकिकविग्रह—अर्ध सुँ+पिप्पली ङस् । यहां अर्धशब्द ठीक आधे भाग का वाचक है अतः 'अर्ध सुँ' का 'पिप्पली ङस्' इस एकत्वसंख्याविशिष्ट अवयवी सुँबन्त के साथ प्रकृत **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधायक इस सूत्र में 'अर्धम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'अर्ध सुँ' की उपसर्जनसञ्ज्ञा एवम् **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—अर्ध सुँ+पिप्पली ङस् । अब समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् हो कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा उस का लोप करने से 'अर्धपिप्पली' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] । यहां महाविभाषा की अनुवृत्ति के कारण समास

---

१. **भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके**—इत्यमरः ।

२. अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली । अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पलीम् । अर्धेन पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्या । अर्धाय पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्यै । अर्धात् पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्याः । अर्धस्य पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्याः । अर्धे पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्याम् । इत्यादिप्रकारेण सब विग्रहों में पिप्पलीशब्द से एक ही निश्चित विभक्ति (षष्ठी=पिप्पल्याः) देखी जाती है अतः **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) सूत्रद्वारा 'पिप्पली' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से तदन्तसमास के अन्त्य वर्ण ईकार को ह्रस्व करने से 'अर्धपिप्पलिः' बनना चाहिये —यह यहां शङ्का उत्पन्न होती है । इस का उत्तर यह है कि **एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्** (**एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** सूत्र में 'अषष्ठ्यन्तम्' ऐसा कहना चाहिये) इस वार्त्तिक के बल से 'पिप्पली' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा का निषेध हो जाता है, इस से तन्मूलक ह्रस्वत्व नहीं होता । वार्त्तिकद्वारा यह उपसर्जननिषेध एकदेशिसमासविषयक ही समझना चाहिये ।

का विकल्प है अतः समास के अभाव में वाक्य रहेगा षष्ठीतत्पुरुषसमास न होगा[1]।

इसीप्रकार—

(१) पणस्य अर्धम्—अर्धपणः ।
(२) वेद्या अर्धम्—अर्धवेदिः ।
(३) कोशातक्या अर्धम्—अर्धकोशातकी ।
(४) रूप्यकस्य अर्धम्—अर्धरूप्यकम् ।
(५) आसनस्यार्धम्—अर्धासनम् ।[2]
(६) शरीरस्यार्धम्—अर्धशरीरम् ।[3]

नित्यनपुंसक न होने पर 'अर्ध' का अवयवी के साथ यह समास नहीं होता। यथा—ग्रामस्य अर्धः—ग्रामार्धः । नगरस्य अर्धः- नगरार्धः । यहां 'अर्ध' शब्द समप्रविभाग अर्थ में वर्त्तमान नहीं किन्तु अंश अर्थ में वर्त्तमान है अतः एकदेशिसमास न हो कर **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास हुआ है ।

अर्धशब्द का यह समास एकदेशी (अवयवी) के साथ ही होता है अन्य के साथ नहीं। यथा—अर्धं पशोर्देवदत्तस्य (पशु का ठीक आधा भाग देवदत्त का है)। यहां 'अर्धम्' यद्यपि समप्रविभाग अर्थ में वर्तमान है तथापि उस का 'देवदत्तस्य' के साथ समास नहीं होता, क्योंकि 'देवदत्तस्य' अवयवी नहीं अपितु स्वामी है। अवयवी तो पशु है। 'पशोः' के साथ समास हो जाता है—अर्धपशुर्देवदत्तस्य ।

प्रकृतसूत्र में 'एकाधिकरणे' की भी अनुवृत्ति आ रही है। अतः अवयवी यदि एकत्वसंख्याविशिष्ट न होगा तो यह समास न होगा। यथा—अर्धं पिप्पलीनाम्। यहां अवयवी बहुत्वसंख्याविशिष्ट है अतः समास नहीं होता।

अब सप्तमीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०]　विधि-सूत्रम्—(९३४) **सप्तमी शौण्डैः** ।२।१।३९।।

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः । इत्यादि ।।

---

१. इदमत्र विशेषतोऽवधेयम् । **समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते** इति न्यायमाश्रित्य 'अर्धञ्चासौ पिप्पली—अर्धपिप्पली'—इत्येवं कर्मधारयेणैव सिद्धौ सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं भाष्ये (२.४.२६) । समप्रविभागादन्यत्र 'अर्धाऽऽहारः, अर्धोक्तम्, अर्धविलोकितम्' इत्यादिप्रयोगा यथा कर्मधारयेण सिध्यन्ति तद्वदत्रापि भवतु । न च समप्रविभागे षष्ठीसमासं बाधितुमिदं सूत्रमावश्यकमिति वाच्यम्, षष्ठीसमासस्यापीष्टत्वात् । अत एव कालिदासः प्रायुङ्क्त—**प्रेम्णा शरीरार्धहरा हरस्य** (कुमार० १.५०)। भगवान् पिङ्गलनागोऽपि—**स्वरा अर्धं चार्यार्धम्** (४.१४)

२. **अर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ**—(रघु० ६.७३) ।

३. **तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृता स्निग्धजनाशिषोऽपि**—(कुमार० ७.२८)

अर्थः—सप्तम्यन्त सुँबन्त, शौण्ड आदि सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—सप्तमी ।१।१। शौण्डैः ।३।३। **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः** - ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'शौण्डैः' में बहुवचननिर्देश के कारण शौण्डादिगणपठित शब्दों का ग्रहण होता है । **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** परिभाषा से तदन्तविधि हो कर 'सप्तम्यन्तं सुँबन्तम्' यह उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(सप्तमी = सप्तम्यन्तम्) सप्तम्यन्त (सुँप् = सुँबन्तम्) सुँबन्त (शौण्डैः) शौण्ड आदि (सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः (पासों के खेलने में चतुर) । अलौकिकविग्रह—अक्ष सुप् + शौण्ड सुँ । यहां 'अक्ष सुप्' इस सप्तम्यन्त सुँबन्त का **सप्तमी शौण्डैः** (९३४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'शौण्ड सुँ' सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधायक इस सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद 'सप्तमी' है, अतः तद्बोध्य 'अक्ष सुप्' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है । अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा उस के अवयव सुँपो (सुँप् और सुँ) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् कर 'अक्षशौण्ड' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है । **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार अवयव सुँपों का लुक् हो जाने पर भी प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर परवल्लिङ्गता (९६२) के कारण पुंलिङ्ग में सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'अक्षशौण्डः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

(१) पाने शौण्डः—पानशौण्डः (शराब पीने में चतुर) ।
(२) अक्षेषु कितवः—अक्षकितवः ।
(३) वाचि चपलः—वाक्चपलः ।
(४) स्त्रीषु धूर्त्तः—स्त्रीधूर्त्तः ।
(५) संगीते प्रवीणः—संगीतप्रवीणः
(६) शास्त्रे पण्डितः—शास्त्रपण्डितः ।
(७) तर्के कुशलः—तर्ककुशलः ।
(८) काव्येषु निपुणः—काव्यनिपुणः ।
(९) व्यापारे पटुः—व्यापारपटुः ।
(१०) गुहायां संवीतः—गुहासंवीतः (गुफा में छुपा हुआ) ।
(११) गृहे अन्तः—गृहान्तः (घर के मध्य में)[1] ।

---

१. 'अन्तर्' यह अव्यय अधिकरणप्रधान है । इस का अर्थ है—मध्य में । इस अव्यय के योग में गृह आदि अवयवी से आधारविवक्षा में सप्तमी हो जाती है, यथा—

(१२) ईश्वरे अधि—ईश्वराधीनः (ईश्वर के अधीन)[1] ।

(१३) राजनि अधि—राजाधीनः (राजा के अधीन) ।

शौण्डादिगण यथा—

शौण्ड, धूर्त्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत, अन्तर्, अधि, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण—इति शौण्डादयः ।

सप्तमीतत्पुरुषसमासविषयक कुछ अन्य उपयोगी सरल सूत्रों का हम यहां सार्थ सोदाहरण संग्रह दे रहे हैं । आशा है प्रबुद्ध विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि में यह सहायक सिद्ध होगा—

[१] **सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैश्च** ।२।१।४०।।

अर्थः—सप्तम्यन्त सुँबन्त का सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास होता है । उदाहरण यथा—

रसे सिद्धाः—रससिद्धाः (रस में सिद्ध) ।[2]

आतपे शुष्कः—आतपशुष्कः (धूप में सूखा हुआ) ।

स्थाल्यां पक्वः—स्थालीपक्वः (बटलोई में पकाया हुआ) ।

चक्रे बन्धः—चक्रबन्धः (चक्र में बन्धन), काराबन्धः ।

[२] **ध्वाङ्क्षेण क्षेपे** ।२।१।४१।।

अर्थः—निन्दा गम्यमान होने पर ध्वाङ्क्ष (कौवा) वाचक सुँबन्तों के साथ सप्तम्यन्त सुँबन्त तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है । उदाहरण यथा—

'वृक्षे शाखा' । गृहे अन्तर्—गृहान्तर्वसति (घर के अन्दर रहता है) । जब 'अन्तर्' केवल अधिकरण अर्थ में वर्त्तमान रहता है तब विभक्त्यर्थ में **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्र से नित्य अव्ययीभावसमास ही होता है। यथा—वने इत्यन्तर्वणम् (वन में) । यहां **प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽस-ञ्ज्ञायामपि** (८.४.५) सूत्र से वन के नकार को णकार आदेश हो जाता है ।

१ **अधिरीश्वरे** (१.४.९६) सूत्र से 'अधि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी** (२.३.९) सूत्रद्वारा **'ईश्वर'** शब्द में सप्तमीविभक्ति हो जाती है । अब इस सप्तम्यन्त के साथ 'अधि' का समास होता है। समास में सुँब्लुक् हो कर **अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालम्पुरुषाऽध्युत्तरपदात् खः** (५.४.७) सूत्र से स्वार्थ में नित्य 'ख' प्रत्यय तथा 'ख' के आदि खकार को **आय-नेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से ईन् आदेश करने पर 'ईश्वराधीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः**—(रघु० १.७२) । अधिशब्दोऽत्र गणे आधेयप्रधानो बोध्यः । अधिकरणमात्रवृत्तौ तु अव्ययीभाव एव, यथा—स्त्रियामित्यधिस्त्रि ।

२. **जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः**—(नीतिशतक २०)

तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव—तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थे काक इव—तीर्थकाकः । तीर्थे वायस इव—तीर्थवायसः[1] । जैसे तीर्थ में पहुँच कर कौवा बहुत देर तक नहीं ठहरता वैसे जो विद्यार्थी गुरुकुल आदि में देर तक न ठहरे उसे 'तीर्थध्वाङ्क्षः' आदि कहा जाता है । इस से विद्यार्थी की अस्थिरताजन्य निन्दा व्यक्त होती है ।

[३] **कृत्यैर्ऋणे** ।२।१।४२॥

अर्थः—सप्तम्यन्त सुँबन्त, कृत्यप्रत्ययान्त सुँबन्तों के साथ तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है अवश्यम्भाविता गम्य हो तो । उदाहरण यथा—

मासे देयम्[2] (ऋणम्)—मासदेयम् (एक महीने के बाद अवश्य चुका दिये जाने वाला ऋण) । संवत्सरे देयम्—संवत्सरदेयम् (एक वर्ष के बाद अवश्य चुका दिये जाने वाला ऋण) । पूर्वाह्णे गेयम्—पूर्वाह्णेगेयम् (साम) । यहां **तत्पुरुषे कृति बहुलम्** (६.३.१३) सूत्र से सप्तमी का अलुक् हुआ है । यह समास कृत्यसंज्ञक यत् प्रत्यय तक ही सीमित है । तव्यत् आदि में इस की प्रवृत्ति नहीं होती—मासे दातव्यम् ऋणम् ।

[४] **क्तेनाऽहोरात्रावयवाः** ।२।१।४४॥

अर्थः—दिन या रात्रि के अवयववाची सप्तम्यन्तों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

पूर्वाह्णे कृतम्—पूर्वाह्णकृतम् ।
अपराह्णे कृतम्—अपराह्णकृतम् ।
पूर्वरात्रे कृतम्—पूर्वरात्रकृतम् ।
अपररात्रे कृतम्—अपररात्रकृतम् ।

[५] **क्षेपे** ।२।१।४६॥

अर्थः—क्षेप अर्थात् निन्दा गम्य हो तो सप्तम्यन्त सुँबन्त का क्तान्त सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतत् (यह तेरा कार्य तपे हुए स्थान पर नकुल के ठहरने जैसा है । जैसे तपे हुए स्थल पर नकुल देर तक नहीं ठहरता उछल कर दूर भाग जाता है वैसे तेरा कार्य भी अस्थायी या अव्यवस्थित है) । यहां 'अवतप्ते' इस सप्तम्यन्त का 'नकुलस्थितम्' इस क्तान्त के साथ समास हुआ है[3] । सप्तमी का **तत्पुरुषे कृति बहुलम्**

---

१. समासे ध्वाङ्क्षादयः स्वसदृशे वर्त्तन्ते ।

२. औपश्लेषिकेऽधिकरणेऽत्र सप्तमी बोध्या । मासे ह्यतीते योऽन्तरो दिवसः स मासं प्रत्युपश्लिष्टो भवति । मासाव्यवहितोत्तरकाले प्रत्यर्पणीयमृणमित्यर्थः ।

३. 'स्थितम्' इति भावे क्तः । नकुलेन स्थितम्—नकुलस्थितम्, **कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) इति समासः । **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** इति परिभाषया नकुलस्थितशब्दोऽपि क्तान्तः ।

(६.३.१३) से अलुक् हुआ है। इसीप्रकार—भस्मनिहुतम् (राख में हवन करने जैसा अर्थात् व्यर्थ या निष्फल) आदि समझने चाहियें।

[६] **पात्रे-समितादयश्च** ।२।१।४७।।[1]

अर्थः—क्षेप अर्थात् निन्दा गम्य हो तो पात्रेसमित आदि शब्द तत्पुरुषसमास में निपातित किये जाते हैं। उदाहरण यथा—

पात्रेसमिताः (भोजनपात्र पर इकट्ठे होने वाले परन्तु कार्य के समय दिखाई न देने वाले, भोजनभट्ट)। गेहेशूरः (घर में शूर न कि युद्ध में)। गेहेनर्दी, गेहेक्ष्वेडी (घर में ही गर्जन-तर्जन करने वाला न कि बाहर)। गेहेमेही (घर में ही मूतने वाला, डर के मारे मूतने के लिये भी घर से बाहर न निकलने वाला, डरपोक)। गोष्ठेपण्डितः (ग्वालों में पण्डित, विद्याविहीन या मूर्ख)। कर्णेटिट्टिभः (कान में टरटर करने वाला)। इन में सप्तमी का अलुक् है। कूपमण्डूकः (कूएं का मेंढक, स्वल्पज्ञानी, मूर्ख)। नगरकाकः (नगर में कौवे की तरह कांय कांय करने वाला, बातूनी) इत्यादियों में सप्तमी का लुक् हुआ है।

शिष्टप्रयोगों में कई स्थानों पर द्वितीयातत्पुरुष, तृतीयातत्पुरुष, चतुर्थीतत्पुरुष, पञ्चमीतत्पुरुष और सप्तमीतत्पुरुष समासों के ऐसे प्रयोग मिलते हैं जिन का पाणिनीयसूत्रों से समर्थन नहीं किया जा सकता, तो क्या वे सब अशुद्ध या अपशब्द हैं? या उन के समाधान का कोई अन्य मार्ग है? इस शङ्का का समाधान करते हुए लघुसिद्धान्तकौमुदीकार श्रीवरदराज इस प्रकार लिखते हैं—

[**लघु०**] द्वितीया-तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादिविभक्तीनां[2] प्रयोगवशात् समासो ज्ञेयः॥

अर्थः—**द्वितीया श्रितातीत०** (९२४), **तृतीया तत्कृतार्थेन०** (९२५), **चतुर्थी तदर्थार्थ०** (९२७), **पञ्चमी भयेन** (९२८), **सप्तमी शौण्डैः** (९३४)—इन योगों (सूत्रों) के विभाग अर्थात् दो भाग कर देने से अन्यत्र अर्थात् जहां सूत्रोंद्वारा समास की प्राप्ति नहीं ऐसे शिष्टप्रयोगों में भी द्वितीयातत्पुरुष आदि समास समझ लेने चाहियें।

व्याख्या—शिष्टप्रयोगों में जहां ऐसे तत्पुरुषसमास देखे जायें जिन की सिद्धि **द्वितीया श्रितातीत०** (९२४) आदि पूर्वोक्त सूत्रों से न हो सकती हो तो वहां उन उन योगों (सूत्रों) का विभाग (दो फाड़) कर उन प्रयोगों की सिद्धि कर लेनी चाहिये। यथा—**द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः** (९२४) इस योग का विभाग कर दो योग (सूत्र) बन जायेंगे। (१) **द्वितीया**। इस सूत्र का अर्थ होगा—द्वितीयान्त

१. सूत्र में 'समित' पाठ है 'सम्मित' नहीं। सम्पूर्वक **इण् गतौ** (अदा० परस्मै०) धातु से **गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्रद्वारा कर्त्ता में क्तप्रत्यय करने पर 'समित' शब्द बना है। अतएव शेखरकार ने कहा है—समितेति निरनुस्वारम्।

२. अत्र प्रायेण मुद्रितपुस्तकेषु **तृतीयादिविभक्तीनाम्** इत्युपलभ्यमानः पाठः प्रमादजो बोध्यः।

सुँबन्त, समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है। इस सूत्र से उन सब शिष्टप्रयोगों में समास सिद्ध हो जायेगा[1]। तब आयेगा सूत्र का दूसरा अंश—(२) **श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः**। इस में 'द्वितीया' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आ कर—'द्वितीयान्त सुँबन्त श्रितादिप्रकृतिक सुँबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास को प्राप्त हो' ऐसा अर्थ हो जाने से 'कृष्णश्रितः' आदि पूर्वोक्त सब उदाहरण सिद्ध हो जायेंगे। इसी प्रकार—**तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (९२५) का योगविभाग होगा—(१) **तृतीया**, (२) **तत्कृतार्थेन गुणवचनेन**। **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** (९२७) का योगविभाग होगा—(१) चतुर्थी, (२) **तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः**। **पञ्चमी भयेन** (९२८) का योगविभाग होगा—(१) **पञ्चमी**, (२) **भयेन**। **सप्तमी शौण्डैः** (९३४) का योगविभाग होगा—(१) **सप्तमी**, (२) **शौण्डैः**। सब जगह योगविभाग के प्रथमांश से ही अनुक्त समासों की सिद्धि की जाती है। द्वितीयांश से पूर्वप्रदर्शित प्रयोगों की यथावत् सिद्धि बनी रहती है।

अब नीचे कुछ अनुक्त समासों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, इन की सिद्धि योगविभाग के द्वारा की जाती है।

द्वितीयातत्पुरुष—

(१) विशेषं विद्वान्—विशेषविद्वान्।[2]

(२) वेदं विद्वान्—वेदविद्वान्।[3]

(३) गुरुं शुश्रूषुः—गुरुशुश्रूषुः (हैमबृहद्वृत्तिन्यास ३.१.६२)।

(४) पापम् अनु—पापानु।[4]

तृतीयातत्पुरुष—

(५) छायया द्वितीयः—छायाद्वितीयः (अपनी छाया से दूसरा, अकेला)

(६) जनुषा अन्धः—जनुषान्धः (जन्म से अन्धा)।[5]

---

१. योगविभाग के इस अंश से मनमाने प्रयोग सिद्ध नहीं किये जाते। केवल शिष्टप्रयोगों तक ही इस की प्रवृत्ति होती है। अत एव कहा भी गया है—**योगविभागादिष्टसिद्धिः** (परिभाषेन्दु० १२३) अर्थात् योगविभाग से इष्ट रूपों की ही सिद्धि की जाती है अनिष्टों की नहीं। शिष्टों के प्रयोग ही इष्ट होते हैं। **शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी**।

२. **विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः**—(माघ० २.७५)।

३. विप्राय वेदविदुषे—(भाषावृत्ति २.१.२४)।

४. **पापान्ववसितं सीता रावणं प्राब्रवीद्वचः**—(भट्टि० ८.८५)। **तृतीयार्थे** (१.४.८४) इत्यनेन अनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (२.३.८) इति पापशब्दाद् द्वितीया। ततः द्वितीयेतियोगविभागात्समासः।

५. जनुषा (जन्मना) हेतुना अन्धः—जनुषान्धः। तृतीयेतियोगविभागात्समासः। **पुंसानुजो जनुषान्ध इति च वक्तव्यम्** इत्यलुक्। (काशिका ६.३.३)

(७) पुंसा अनुजः— पुंसानुजः (जिस का बड़ा भाई हो वह व्यक्ति) ।[1]
(८) मदेन अन्धः—मदान्धः ।[2]
(९) कामेन अन्धः—कामान्धः । जात्यन्धः ।[3]
(१०) अर्धेन चतस्रः—अर्धचतस्रो मात्राः (साढ़े तीन मात्राएं) ।[4]

चतुर्थीतत्पुरुष—

(११) धर्माय नियमः—धर्मनियमः ।[5]
(१२) वृत्तये समवायः—वृत्तिसमवायः ।[6]
(१३) आत्मने पदम्—आत्मनेपदम् ।
(१४) परस्मै पदम्—परस्मैपदम् ।[7]

पञ्चमीतत्पुरुष—

(१५) अध्यवसायाद् भीरुः—अध्यवसायभीरुः ।[8]
(१६) अधर्माद् जगुप्सुः—अधर्मजुगुप्सुः ।
(१७) वामाद् इतरः—वामेतरः ।[9]
(१८) ग्रामाद् निर्गतः—ग्रामनिर्गतः ।
(१९) भोगेभ्य उपरतः—भोगोपरतः ।

सप्तमीतत्पुरुष[10]—

(२०) नगेन्द्रे सक्ता—नगेन्द्रसक्ता[11] ।
(२१) भुवने विदितः—भुवनविदितः[12] ।

---

१. पुंसा हेतुना अनुजः—पुंसानुजः, पूर्ववदलुक् । (काशिका ६.३.३)
२. **यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्**—(नीतिशतक ७) ।
३. **नैव पश्यति जात्यन्धो कामान्धो नैव पश्यति**—(चाणक्यनीतिदर्पण ६.७)
४. लण्सूत्रे महाभाष्ये प्रयोगोऽयमुपलभ्यते ।
५. महाभाष्ये पस्पशाह्निके ।
६. महाभाष्ये पस्पशाह्निके ।
७. आत्मनेपदम् और परस्मैपदम् इन दोनों स्थानों पर तादर्थ्य में चतुर्थी हुई है । **वैयाकरणाख्यायां चातुर्थ्याः, परस्य च** (६.३. ७-८) इति चतुर्थ्या अलुक् ।
८. **न स्वल्पमप्यध्वसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि**—(हितोप० १.१७२) ।
९. **वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्त्रे ।**
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ (रघु० २.३१)
१०. योगविभागजन्य षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं हुआ करता, क्योंकि **षष्ठी** (९३१) सूत्र में एक ही पद है ।
११. **रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम्** । (रघु० २.२८)
१२. **जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानाम्** । (मेघदूत ६)

(२२) आपाते रमणीयः—आपातरमणीयः[1] ।

(२३) परिणामे रमणीयः—परिणामरमणीयः[2] ।

(२४) आस्ये प्रयत्नः—आस्यप्रयत्नः[3] ।

(२५) शब्दे सञ्ज्ञा—शब्दसञ्ज्ञा[4] ।

(२६) भुवि देवः (देव इव)—भूदेवः[5] ।

विशेष वक्तव्य—अनेक वैयाकरण **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) में बहुलग्रहण के सामर्थ्य से इन समासों को उपपन्न किया करते हैं। कुछ वैयाकरण इन की सिद्धि सुँप्सुँपासमास (९०६) से ही मानते हैं। इन का संग्रह यथा—

इहानुक्तं समासार्थं द्वितीयेत्यादि खण्डचताम् ।
कृता बहुलमित्येतद् बाहुल्यं वा विजृम्भताम् ॥ (प्रक्रिया-सर्वस्वे)
सुप्सुपेति समासो वा बोध्यः शिष्टप्रयुक्तिषु ।
शब्दाः शिष्टैः प्रयुक्तास्तु साधवः सर्वथा मताः ॥

अभ्यास [३]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक समुचित उत्तर दीजिये—

[क] **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** सूत्र में 'बहुलम्' क्यों कहा गया है ?

[ख] 'ग्रामस्यार्धो ग्रामार्धः' यहां **अर्धं नपुंसकम्** सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

[ग] 'तत्पुरुष' इस नामकरण का क्या आधार है ?

[घ] श्रितादिप्रकृतिक सुँबन्तों से क्या अभिप्राय है ?

[ङ] द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा क्यों की जाती है ?

[च] 'अश्वघासः' आदि में चतुर्थीतत्पुरुष क्यों नहीं होता ?

[छ] प्रकृतिविकृतिभाव से क्या अभिप्रेत है ?

[ज] अर्धशब्द कब नित्यनपुंसक हुआ करता है ?

[झ] 'पूर्वं कायस्य' में कायशब्द से दिग्योगपञ्चमी क्यों नहीं हुई ?

[ञ] 'स्तोकान्मुक्तः' में समास मानने का क्या प्रयोजन है ?

(२) सहेतुक अशुद्धि-शोधन कीजिये—

[क] मनसो विकारः—मनस्विकारः ।

[ख] कृच्छ्राल्लब्धः—कृच्छ्रलब्धः ।

---

१. **आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।**
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ (हितोप० ४.७५)

२. **प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।** (शाकुन्तल)

३. महाभाष्य (१.१.९) ।

४. काशिकाव्याख्या पदमञ्जरी (१.१.६८) ।

५. **भूदेवो वाडवो विप्रो द्व्यग्राभ्यां जातिजन्मजाः**—इति हैमकोषः ।

[ग] पात्रे समितः—पात्रसमितः ।

[घ] स्वामिनः सेवा—स्वामिन्सेवा ।

[ङ] राज्ञः पुरुषः—राजन्पुरुषः ।

(३) निम्नस्थ समासों में विभक्ति का लुक् क्यों नहीं हुआ—आत्मनेपदम्, दूरादागतः, पुंसानुजः, गेहेशूरः, अवतप्तेनकुलस्थितम्, पूर्वाह्णेगेयम् ।

(४) एकदेशिसमास क्या होता है ? उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें ।

(५) तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का विधान किस सूत्र से होता है ?

(६) निम्नस्थों में समास क्यों नहीं होता ?

परशुना छिन्नवान् । वृकेभ्यस्त्रासः । रन्धनाय स्थाली । काकस्य कार्ष्ण्यम् । राज्ञां मतः । अक्ष्णा काणः । अर्धं पिप्पलीनाम् । कष्टं परमश्रितः । भिक्षाभिरुषितः । छात्राणां द्वितीयः । गोभिर्वपावान् । पूर्वश्छात्राणाम् । एषाम् आशितम् । काष्ठैः पचतितराम् । ओदनस्य पाचकः । पाणिनेः सूत्रकारस्य ।

(७) निम्नस्थ सूत्र आदियों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन । २. कर्तृकरणे कृता बहुलम् । ३. चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः । ४. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे । ५. स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन । ६. अर्धं नपुंसकम् । ७. कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् । ८. तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः । ९. अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् । १०. सप्तमी शौण्डैः । ११. षष्ठी । १२. याजकादिभिश्च ।

(८) द्विविध विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ समासों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. कृष्णश्रितः । २. शङ्कुलाखण्डः । ३. धान्यार्थः । ४. हरित्रातः । ५. नखनिर्भिन्नः । ६. यूपदारु । ७. द्विजार्था (यवागूः) । ८. भूतबलिः । ९. गोहितम् । १०. चोरभयम् । ११. अन्तिकादागतः । १२. राजपुरुषः । १३. पूर्वकायः । १४. अक्षशौण्डः । १५. अर्धपिप्पली । १६. मातृसदृशः । १७. पादोनम् । १८. तीर्थध्वाङ्क्षः । १९. आतपशुष्कः । २०. गेहेनर्दी । २१. देवपूजकः । २२. पात्रेसमितः । २३. चोरभीतिः । २४. त्वदर्थम् । २५. मासावरः । २६. राजाधीनः । २७. पूर्वाह्णः । २८. मदान्धः ।

(९) 'शरीरार्धम्' प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध ? विवेचन कीजिये ।

(१०) एकदेशिसमास के अभावपक्ष में षष्ठीतत्पुरुष क्यों नहीं होता ?

(११) **स्तोकान्तिकदूरार्थ०** सूत्र में 'अर्थ' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(१२) 'अर्धपिप्पली' में उपसर्जनह्रस्व की प्राप्ति दर्शा कर उस का परिहार करें ।

(१३) योगविभाग किसे कहते हैं ? इस की क्या उपयोगिता है ? सोदाहरण समझा कर स्पष्ट करें ।

——:o:——

यहां तक व्यधिकरणतत्पुरुषसमास का वर्णन किया गया। अब समानाधिकरण-तत्पुरुषसमास[1] का विधान करते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(६३५) **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** ।२।१।४६॥

सञ्ज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न—उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः॥

अर्थः—दिशावाची और संख्यावाची सुँबन्त, समानाधिकरण सुँबन्त के साथ सञ्ज्ञा गम्य होने पर ही तत्पुरुष समास को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—दिक्सङ्ख्ये ।१।२। संज्ञायाम् ।७।१। समानाधिकरणेन ।३।१। (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** सूत्र से)। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'विभाषा' भी पीछे से अधिकृत है परन्तु संज्ञा को वाक्य (लौकिकविग्रह) द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता अतः इस समास को नित्य-समास मान कर 'विभाषा' पद को यहां सम्बद्ध नहीं किया जाता। दिक् च संख्या च दिक्संख्ये, इतरेतरद्वन्द्वः। दिशा और संख्या से यहां दिशावाची और संख्यावाची सुँबन्तों का ही ग्रहण अभीष्ट है। अर्थः—(दिक्संख्ये) दिशावाची और संख्यावाची (सुँबन्ते) सुँबन्त (समानाधिकरणेन) समानाधिकरण (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (सञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञा गम्य होने पर (समासौ=समस्येते) समास को प्राप्त होते है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

चाहे सञ्ज्ञा गम्य हो या न हो, दिशा और संख्यावाची सुँबन्तों का समानाधि-करण के साथ समास तो **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) सूत्र से सिद्ध है ही, पुनः यहां समास का विधान क्यों किया जा रहा है? इस का उत्तर यह है कि **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** (सिद्ध होने पर भी यदि कोई कार्य करने को पुनः कहा जाये तो वह कार्य नियमार्थ होता है) इस न्याय से यह सूत्र नियम के लिये बनाया गया है। नियम का स्वरूप यह है—दिशा और संख्यावाची सुँबन्त यदि समानाधिकरण के साथ तत्पुरुष-समास को प्राप्त हों तो वे संज्ञा में ही हों अन्यत्र नहीं[2]।

दिशावाची का उदाहरण यथा—

---

१. व्यधिकरण समास वह होता है जहां समस्यमान दोनों पद भिन्न भिन्न अधिकरणों (वाच्यार्थों) को कहते हैं। यथा—कृष्णं श्रितः—**कृष्णश्रितः** इत्यादि। पर समानाधिकरण समास में दोनों एक ही अर्थ (वाच्य) को कहते हैं। यथा—नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम् आदि। किञ्च व्यधिकरण में दोनों पदों की विभक्तियां भिन्न भिन्न किन्तु समानाधिकरण में एक सी होती हैं।

२. यह नियम **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) सूत्रद्वारा प्राप्त तत्पुरुषसमास तक ही सीमित है। अतः 'पञ्च गावो यस्य स पञ्चगुः' इत्यादि बहुव्रीहिसमास में यह नियम लागू नहीं होता। वहां संज्ञा के विना भी समास की प्रवृत्ति हो जाती है।

पूर्वा चासौ इषुकामशमी—पूर्वेषुकामशमी[1] (इस नाम का प्राचीन कोई ग्राम)। अलौकिकविग्रह—पूर्वा सुँ+इषुकामशमी सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'पूर्वा सुँ' इस दिशावाची सुँबन्त का 'इषुकामशमी सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृत **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** (९३५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट दिशावाची की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाने के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् तथा **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव के द्वारा 'पूर्व' करने पर 'पूर्व+इषुकामशमी' हुआ। अब **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा उस का लोप कर देने से 'पूर्वेषुकामशमी' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—अपरेषुकामशमी[2], उत्तरपाञ्चालाः, दक्षिणपाञ्चालाः, उत्तरकोसलाः, दक्षिणकोसलाः आदि समझने चाहियें।

संख्यावाची का उदाहरण यथा—

सप्त च ते ऋषयः—सप्तऋषयः सप्तर्षयो वा (विश्वामित्र आदि सात ऋषियों का नाम)[3]। अलौकिकविग्रह—सप्तन् जस्+ऋषि जस्। यहां अलौकिकविग्रह में 'सप्तन् जस्' इस संख्यावाचक सुँबन्त का 'ऋषि जस्' इस समानाधिकरण सुँबन्त के साथ प्रकृत **दिक्संख्ये सञ्ज्ञायाम्** (९३५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (जस् और जस्) का लुक् करने पर—सप्तन्+ऋषि। अब लुप्त हुई अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को प्रत्ययलक्षणद्वारा मान कर पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से सप्तन् के नकार का लोप हो **ऋत्यकः** (६१) से वैकल्पिक ह्रस्वमूलक प्रकृतिभाव एवं प्रकृतिभाव के अभाव में **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण करने से—'सप्तऋषि, सप्तर्षि' ये दो रूप बने। अब इन से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय ला कर **जसि च** (१६८) से इकार को एकार गुण, अयादेश तथा सकार को

---

१. इसे लौकिकविग्रह नहीं समझना चाहिये। संज्ञा को वाक्य (लौकिकविग्रह) के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। यह तो अज्ञों के लिये समास के अन्तर्गत पूर्वपद और उत्तरपद को समझाने के लिये लिखा गया साधारण वाक्य है। न्यासकार ने भी यही कहा है—"मन्दधियां पूर्वोत्तरपदविभागमात्रप्रदर्शनार्थं वाक्यं कृतम्। न ह्यत्र वाक्येन भवितव्यम्। नहि वाक्येन संज्ञाऽवगम्यते।" (न्यास २.१.५०)

२. यहां समास में 'अपरा' शब्द पश्चिमदिशा का वाचक है। जैसाकि कालिदास ने प्रयोग किया है—**पूर्वाऽपरौ तोयनिधी वगाह्य** (कुमार० १.१)।

३. **विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।**
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते च सप्तर्षयः।। (आप्टे-कोष)

ह्रत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'सप्तऋषयः' तथा 'सप्तर्षयः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

इसीप्रकार—नवग्रहाः[1], पञ्चकोशाः[2], पञ्चसूनाः[3], पञ्चमहायज्ञाः[4], त्रिपुष्कराणि[5] आदि प्रयोग जानने चाहियें ।

सञ्ज्ञायामिति किम् ? उत्तरा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः ।

दिशा और संख्या के वाचकों का समानाधिकरण के साथ यह समास संज्ञा में ही प्रवृत्त होता है । संज्ञा के अभाव में इस की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—उत्तरा वृक्षाः (उत्तरदिशा वाले पेड़) । पञ्च ब्राह्मणाः (पाञ्च ब्राह्मण) । ये संज्ञाएं नहीं हैं अतः प्रथम में दिशावाची का और दूसरे में संख्यावाची का समानाधिकरण के साथ समास नहीं हुआ । अत एव—'उत्तरवृक्षान् सिञ्चतु भवान्, पञ्चब्राह्मणेभ्यो देहि भोजनम्' इत्यादि प्रयोग अशुद्ध हैं । इन के स्थान पर 'उत्तरान् वृक्षान् सिञ्चतु भवान्, पञ्चभ्यो ब्राह्मणेभ्यो देहि भोजनम्' इत्यादि प्रकारेण व्यस्तप्रयोग होने चाहियें ।

पूर्वसूत्रम्, उत्तरसूत्रम्, पूर्वमासः, उत्तरमासः—इत्यादियों में पूर्व आदि शब्द दिशावाची नहीं अपितु कालवाची हैं, अतः प्रकृतनियम से समास का निषेध नहीं होता । **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) से समास हो जाता है ।

शङ्का—'त्रिलोकनाथः' शब्द लोक में बहुत प्रचलित है[6] । इस का 'त्रयश्च ते लोकाः—त्रिलोकाः, तेषां नाथः—त्रिलोकनाथः' इस प्रकार का विग्रह है । तो भला 'त्रिलोकाः' में सञ्ज्ञा न होने पर भी कैसे समास हो जाता है ? प्रकृतनियम से समास का निषेध क्यों नहीं होता ?

समाधान—यहां पर आप का कहा हुआ विग्रह और समास नहीं है । अपितु 'लोक' शब्द यहां लोकसमूह अर्थ में लाक्षणिक है । अतः 'त्र्यवयवो लोकः—त्रिलोकस्तस्य

---

१. **सूर्यश्चन्द्रो मङ्गलश्च बुधश्चापि बृहस्पतिः ।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहा नव ।।**

२. अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश—ये पांच 'पञ्चकोश' कहाते हैं ।

३. **पञ्च-सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।** (मनु० ३.६८)

४. **देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च ।
ब्रह्मयज्ञो नृयज्ञश्च पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिताः ।।**

५. **त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप**—(रघु० १८.३१)।

६. **त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषः**—(रघु० ३.४५) ।
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः—(कुमार० ५.७७) ।

नाथः—त्रिलोकनाथः' इस प्रकार का विग्रह समझना चाहिए[1]। यहां 'त्रिलोकः' में 'शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः' की तरह **शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) द्वारा मध्यमपदलोपिसमास हुआ है। इस समास का विवेचन इसी प्रकरण में आगे किया जायेगा।

अब दिशा और संख्या के वाचक सुँबन्तों का असञ्ज्ञा में समानाधिकरण सुँबन्त के साथ त्रिविध समास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३६) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च। २।१।५०॥

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः—'पूर्वाशाला'[2] इति समासे जाते—

अर्थः—(१) तद्धितप्रत्यय के अर्थ का विषय होने पर, (२) या उत्तरपद परे होने पर, (३) अथवा समाहार=समूह वाच्य होने पर—इन तीनों में से किसी एक दशा में दिशा और संख्या के वाचक सुँबन्त, समानाधिकरण सुँबन्त के साथ मिल कर समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

पूर्वस्याम्०—'पूर्वस्यां शालायां भवः' इस विग्रह में तद्धित के विषय में 'पूर्वाशाला' इस प्रकार समास हो जाने पर अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

व्याख्या—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे।७।१। च इत्यव्ययपदम्। दिक्-संख्ये।१।२। (**दिक्संख्ये संज्ञायाम्** से)। समानाधिकरणेन।३।१। (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** से)। समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। तद्धितस्य अर्थः—तद्धितार्थः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्चेति तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारम्, तस्मिन्=तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे, समाहारद्वन्द्वसमासः। तद्धितार्थे, उत्तरपदे समाहारे चेत्यर्थः। एकाऽपि सप्तमी विषयभेदादत्र भिद्यते। यहां तीनों में एक ही सप्तमी विषय के भेद से भिन्न-भिन्न है। 'तद्धितार्थे' में सप्तमी वैषयिक अधिकरण में हुई है अतः 'तद्धितार्थ के विषय में' यह अर्थ होता है। 'उत्तरपदे' में परसप्तमी है अतः 'उत्तरपद परे होने पर' यह अर्थ होता है। 'समाहारे' में यह सप्तमी वाच्याधिकरण मे हुई है अतः 'समाहार की वाच्यता में' यह अर्थ होता है। अर्थः—(तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे) तद्धितप्रत्यय के अर्थ का विषय हो अथवा उत्तरपद परे हो या समूह अर्थ

---

१. यहां 'त्रयाणां लोकानां समाहारः' इस प्रकार का विग्रह कर समाहार अर्थ में द्विगुसमास नहीं माना जा सकता। अन्यथा **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) वार्त्तिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **द्विगोः** (१२५७) द्वारा **ङीप्** का प्रसङ्ग होने लगेगा, जैसाकि नैषधकार ने किया है—**यदि त्रिलोकी** गणनापरा स्यात् (नैषध० ३.४०)।

२. अत्र '**पूर्वशाल**' इति बहुत्र मुद्रितः पाठोऽपपाठ एवावसेयः।

वाच्य हो तो (दिक्संख्ये) दिशावाची और संख्यावाची (सुँबन्ते) सुँबन्त (समानाधि-करणेन सुँबन्तेन) समानाधिकरण सुँबन्त के साथ (समासौ=समस्येते) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

(१) तद्धितप्रत्यय के अर्थ के विषय में—

जब किसी तद्धित प्रत्यय का अर्थ विवक्षित हो तो उस के विषय में तद्धितप्रत्यय लाने से पूर्व ही यह समास हो जाता है। इस समास के हो चुकने के बाद ही तद्धित-प्रत्यय लाया जाता है। तात्पर्य यह है कि जब समासार्थ के साथ ही किसी तद्धितप्रत्यय के अर्थ को भी कहना हो तो प्रथम यह समास प्रवृत्त हो कर बाद में तद्धित प्रत्यय किया जाना चाहिये। उदाहरण यथा—

पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः (पूर्व दिशा वाली शाला में होने वाला)। यहां **तत्र भवः** (१०६२) के अर्थ में वक्ष्यमाण **दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः** (६३७) सूत्र से तद्धितप्रत्यय 'ञ' करना है अतः उस की विवक्षामात्र में ही प्रकृत **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (६३६) सूत्र से दिशावाची 'पूर्वा ङि' का समानाधिकरण 'शाला ङि' के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर **सुँपो धातुप्राति-पदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (ङि और ङि) का लुक् करने पर 'पूर्वाशाला' इस स्थिति में अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(५५) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ॥

अर्थः—समास आदि वृत्तिमात्र में सर्वनाम के स्थान पर पुंलिङ्ग की तरह रूप हो जाता है।

व्याख्या—वृत्तियों का पीछे **सह सुँपा** (९०६) सूत्र पर विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। समास, तद्धित आदि वृत्तियां हैं। इन वृत्तियों के अलौकिकविग्रह में स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम शब्दों के पुंलिङ्गवत् रूप हो जाते हैं—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

प्रकृत में 'पूर्वाशाला' यहां **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा तत्पु-रुषसमास किया गया है। अतः प्रकृतवार्त्तिक से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव से 'पूर्व' हो कर 'पूर्वशाला' बना। अब इस से तद्धितार्थ के अनुरूप सप्तमी का एकवचन 'ङि' प्रत्यय ला कर 'पूर्वशाला+ङि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्रद्वारा **तत्र भवः** (१०६२) के अर्थ में तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३७) दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ।

४।२।१०६॥

अस्माद् भवाद्यर्थे ञः स्यादसञ्ज्ञायाम् ॥

अर्थः—दिशावाचक शब्द जिस का पूर्वपद हो ऐसे प्रातिपदिक से परे भव आदि अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'ञ' प्रत्यय हो जाता है असञ्ज्ञा में।

व्याख्या—दिक्पूर्वपदात् ।५।१। असंज्ञायाम् ।७।१। ञ: ।१।१। शेषे ।७।१। (**शेषे** से) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः**—ये सब पूर्वत: अधिकृत हैं । दिक् =दिग्वाचकं पूर्वपदं यस्य तद्—दिक्पूर्वपदम्, तस्मात्=दिक्पूर्वपदात् । बहुव्रीहि-समासः । न सञ्ज्ञा असञ्ज्ञा, तस्याम्=असञ्ज्ञायाम् । नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(दिक्पूर्व-पदात्) दिशावाचक शब्द जिस का पूर्वपद हो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (शेषे) भव आदि शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ञ: प्रत्ययः) 'ञ' प्रत्यय हो जाता है (असञ्ज्ञायाम्) असंज्ञा में[1] । शैषिक अर्थों का विवेचन आगे **शेषे** (१०६८) सूत्र पर किया जायेगा । **तत्र भवः** (उस में होने वाला—१०९२) यह एक शैषिक अर्थ है । सुँबन्तों से ही तद्धित की उत्पत्ति होती है—यह नियम है ।

'पूर्वशाला ङि' यहां 'पूर्वशाला' प्रातिपदिक है इस का पूर्वपद (पूर्व) दिशा-वाचक है अत: प्रकृत **दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञ:** (९३७) सूत्रद्वारा 'पूर्वशाला ङि' इस सुँबन्त से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में 'ञ' यह तद्धितप्रत्यय हो कर—पूर्व-शाला ङि ञ । **चुटू** ((१२९) द्वारा ञप्रत्यय का आदि ञकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—पूर्वशाला ङि अ । तद्धितान्त होने से समग्र समुदाय की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (ङि) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—पूर्वशाला अ । अब अग्रिमसूत्र से आदिवृद्धि का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३८) तद्धितेष्वचामादेः ।७।२।११७।।

ञिति णिति च तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च (२३६)। पौर्वशालः ।।

अर्थः—जिस तद्धित प्रत्यय के ञकार या णकार की इत्संज्ञा हुई हो उस तद्धित-प्रत्यय के परे रहते अङ्ग के अचों में जो आदि (प्रथम) अच्, उस के स्थान पर वृद्धि आदेश हो ।

व्याख्या—तद्धितेषु ।७।३। अचाम् ।६।३। आदेः ।६।१। अचः ।६।१। ञ्णिति ।७।१। (**अचो ञ्णिति** से) । वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधि-कृत है) । ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य सः=ञ्णित्, तस्मिन्=ञ्णिति, द्वन्द्व-गर्भबहुव्रीहिसमासः । 'ञ्णिति' के कारण 'तद्धितेषु' को भी एकवचनान्त कर लिया जाता है । 'अचाम्' में निर्धारणषष्ठी है । इस का अर्थ है—अचों के मध्य में । अर्थः—

---

१. असंज्ञायामिति किम् ? सञ्ज्ञाभूतायाः प्रकृतेर्मा भूत् । 'असंज्ञायाम्' इसलिये कहा है कि संज्ञा होने पर प्रातिपदिक से 'ञ' प्रत्यय नहीं होता बल्कि **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होता है । यथा—पूर्वेषुकामशम्यां भवः—पूर्वेषुकामशमः । यहां अण् हो कर **प्राचां ग्रामनगराणाम्** (७.३.१४) से उत्तरपद (इषुकामशमी) के आदि अच् इकार को ऐकार वृद्धि हुई है ।

(ञ्णिति तद्धिते) ञित् या णित् तद्धित के परे रहते (अङ्गस्य) जो अङ्ग, उस के (अचाम्) अचों के मध्य (आदेः) जो आदि (अचः) अच् उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'पूर्वशाला अ' यहां 'अ' यह ञित् तद्धित परे है अतः इस के परे रहते 'पूर्वशाला' इस अङ्ग के चार अचों के मध्य पहले अच् पकारोत्तर ऊकार के स्थान पर **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा औकार वृद्धि हो कर 'पौर्वशाला अ' हुआ। अब **यचि भम्** (१६५) से असर्वनामस्थान अजादि स्वादि प्रत्यय 'अ' (ञ) के परे रहते पूर्व की भसञ्ज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप हो जाता है—पौर्वशाल् अ =पौर्वशाल। तद्धितान्त होने से 'पौर्वशाल' की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से परे स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पौर्वशालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अपरस्यां शालायां भवः—आपरशालः। दक्षिणस्यां शालायां भवः—दाक्षिणशालः। इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

संख्यावाचकों का तद्धितार्थ के विषय में समास यथा—पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम्—पाञ्चनापितिः (पाञ्च नाइयों की सन्तति)[1]। षण्णां मातॄणाम् अपत्यम्—षाण्मातुरः (छः माताओं की सन्तान, कार्त्तिकेय)[2]। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—

---

१. **तस्यापत्यम्** (१००४ उस की सन्तान) इस तद्धितार्थ के विवक्षित होने पर 'पञ्चन् आम्+नापित आम्' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र (९३६) से समास, सुँब्लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्यावाचक की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रय लेकर पदत्व के कारण 'पञ्चन्' के नकार का लोप करने पर—पञ्चनापित। अब षष्ठयन्त बना कर इस से अपत्यार्थ में **अत इञ्** (१०१४) सूत्रद्वारा तद्धित इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि (९३८) एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाञ्चनापितिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

२. यहां पर भी **तस्यापत्यम्** (१००४) इस तद्धितार्थ के विवक्षित होने पर 'षष् आम्+मातृ आम्' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र (९३६) से समास, सुँब्लुक्, संख्यावाचक का पूर्वनिपात एवं सन्धिकार्य [जश्त्व से षकार को डकार तथा **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से डकार को अनुनासिक णकार] करने पर बना—षण्मातृ। अब षष्ठयन्त 'षण्मातृ' शब्द से **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्रद्वारा अपत्यार्थ में अण्प्रत्यय तथा मातृशब्द के ऋकार को उकार, रपर, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'षाण्मातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

—पञ्चकपालः पुरोडाशः (पाञ्च सकोरों में पकाया गया पुरोडाश=हवि)[1] इत्यादि।

(२) उत्तरपद परे होने पर उदाहरण यथा—

[लघु०] पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ—

व्याख्या—पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः (पाञ्च गौएं या बैल जिस का धन हैं ऐसा व्यक्ति)। यहां त्रिपदबहुव्रीहिसमास के 'पञ्चन् जस्+गो जस्+धन सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास हो कर **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से उस की प्रातिपदिकसंज्ञा करने पर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (जस्, जस् और सुँ) का लुक् हो जाता है—पञ्चन्+गो+धन। अब यहां उत्तरपद 'धन' परे है अतः **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) इस प्रकृतसूत्र से बहुव्रीहि के अन्दर 'पञ्चन्' इस संख्यावाची पद का समानाधिकरण 'गो' पद के साथ अवान्तर तत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'पञ्चन्' का पूर्वनिपात हो जाता है। परन्तु यह अवान्तर तत्पुरुष वैकल्पिक है क्योंकि यह महाविभाषा के अधिकार में पढ़ा गया है। इस के वैकल्पिक होने से समासाभावपक्ष में टच् न हो सकेगा, इस से 'पञ्चगोधनः' ऐसा अनिष्ट रूप भी पक्ष में प्रसक्त होगा। अतः इस दोष की निवृत्ति के लिये इस अवान्तरसमास की नित्यता का अग्रिमवार्त्तिक से प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(५६) **द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्** ॥

अर्थः—उत्तरपद परे रहते अवान्तर द्वन्द्व या तत्पुरुषसमास की नित्यता कहनी चाहिये[2]।

---

१. यहां 'संस्कृतं भक्षाः' (पका हुआ भक्ष्य) इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् सुप्+कपाल सुप्' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र (९३६) से समास, संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा पदत्व के कारण पञ्चन् के नकार का लोप करने पर —पञ्चकपाल। अब **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) सूत्रद्वारा सप्तम्यन्त पञ्चकपाल से तद्धित अण्प्रत्यय करने पर द्विगुसंज्ञा हो कर **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४.१.८८) से अण्-प्रत्यय का लुक्, पुनः सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'पञ्चकपालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि अण् का लुक् हो जाने के कारण **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध हो जाने से अण्निमित्तक आदिवृद्धि (९३८) नहीं होती।

२. उत्तरपद परे रहते द्वन्द्वसमास की नित्यता के उदाहरण यथा—(१) वाक् च त्वक् च प्रिये यस्य स वाक्त्वचप्रियः। (२) वाक् च दृषत् च प्रिये यस्य स वाक्दृषदप्रियः। (३) छत्रं च उपानत् च प्रिये यस्य स छत्रोपानहप्रियः। इन सब त्रिपद-बहुव्रीहिसमासों में उत्तरपद के परे रहते प्रथम दो पदों में होने वाला द्वन्द्वसमास नित्य होता है वैकल्पिक नहीं, अतः इन द्वन्द्वसमासों से **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** (९९२) से नित्य समासान्त टच् हो जाता है।

व्याख्या—'पञ्चन्+गो+धन' यहां उत्तरपद 'धन' परे विद्यमान है अतः 'पञ्चन्+गो' का अवान्तर तत्पुरुषसमास नित्य होगा वैकल्पिक नहीं। अब लुप्त हुई अन्तर्वर्तिनी विभक्ति के आश्रय से पदत्व के कारण 'पञ्चन्' के नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप हो 'पञ्च+गो+धन' इस स्थिति में अवान्तर-तत्पुरुष 'पञ्चगो' से समासान्त टच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३९) गोरतद्धितलुकि ।५।४।९२।।

गोऽन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि । **पञ्चगवधनः** ।।

अर्थः—तद्धित का लुक् न हुआ हो तो गोशब्द जिस के अन्त में हो ऐसे तत्पुरुष-समास से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो तथा वह तद्धितसंज्ञक भी हो।

व्याख्या—गोः ।५।१। अतद्धितलुकि ।७।१। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से)। तत्पुरुषात् ।५।१। (**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। तद्धितस्य लुक्—तद्धितलुक्, षष्ठीतत्पुरुषः। न तद्धितलुक्—अतद्धितलुक्, तस्मिन्=अतद्धितलुकि, नञ्तत्पुरुषः। 'गोः' यह 'तत्पुरुषात्' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'गोऽन्तात्तत्पुरुषात्' बन जाता है। अर्थः—(अतद्धितलुकि) तद्धितप्रत्यय का लुक् न हुआ हो तो (गोः=गोशब्दान्तात्) गोशब्दान्त (तत्पुरुषात्) तत्पुरुषसमास से परे (टच्) टच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव तथा (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक भी होता है।

'पञ्चगो+धन' इस त्रिपद बहुव्रीहि के अन्तर्गत 'पञ्चगो' में अवान्तर तत्पुरुषसमास किया गया है। यहां किसी तद्धित का लुक् नहीं हुआ, इस के अन्त में गोशब्द भी है अतः प्रकृत **गोरतद्धितलुकि** (९३९) सूत्र से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से गकारोत्तर ओकार को अव् आदेश करने से 'पञ्चगवधन' बना। अब इस त्रिपद बहुव्रीहि के प्रातिपदिकत्व के कारण स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से '**पञ्चगवधनः**'[1] प्रयोग सिद्ध हो

---

[1] 'पञ्चगवधनः' में 'पञ्चगव' यह अवान्तरतत्पुरुषसमास है। **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से इस की द्विगुसंज्ञा भी है। इस से परे भी अन्य समासों की तरह यद्यपि सुँप् की उत्पत्ति होती है तथापि बहुव्रीहि के अन्तर्गत आने से अन्य सुँपों की तरह उस का भी **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है। अतः अवान्तर समास से विभक्ति का श्रवण नहीं होता।

जाता है । इसीप्रकार—दशगवधनः, पञ्चगवप्रियः आदि जानने चाहियें[1] ।

उत्तरपद के परे रहते दिशावाचकों का समानाधिकरण के साथ समास यथा—पूर्वा शाला प्रिया यस्य स पूर्वशालाप्रियः । अपरशालाप्रियः । यहां 'प्रिया' उत्तरपद के परे रहते पूर्व के दोनों पदों में नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है । इस समास के कारण **समासस्य** (६.१.२१७) सूत्रद्वारा तत्पुरुष का अन्त्य स्वर उदात्त हो जाता है ।

(३) समाहार वाच्य होने पर संख्यावाचकों का समानाधिकरण के साथ समास दर्शाने से पूर्व एतत्प्रकरणोपयोगी चार सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् (९४०) **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ।** १।२।४२॥

अर्थः—समानाधिकरण तत्पुरुष समास कर्मधारयसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—तत्पुरुषः ।१।१। समानाधिकरणः ।१।१। कर्मधारयः ।१।१। समानम् =एकम् अधिकरणम्=वाच्यं ययोस्ते समानाधिकरणे (पदे), बहुव्रीहिसमासः, समानाधिकरणे (पदे) स्तोऽस्येति समानाधिकरणः (समानाधिकरणपदकः), मत्वर्थीयोऽर्श-आद्यच् । अर्थः—(समानाधिकरणः=समानाधिकरणपदकः) समान अधिकरण=वाच्य वाले पद जिस में हों ऐसा (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसमास (कर्मधारयः) कर्मधारयसंज्ञक होता है । तात्पर्य यह है कि जब तत्पुरुषसमास में पूर्वपद और उत्तरपद एकसमान विभक्त्यन्त होते हुए एक ही वाच्य को कहते हैं तो वह समास कर्मधारयसंज्ञक होता है । यथा—कृष्णा चतुर्दशी कृष्णचतुर्दशी । यहां तत्पुरुषसमास में पूर्वपद और उत्तरपद दोनों समानाधिकरण हैं अतः यह कर्मधारयसंज्ञक हुआ । कर्मधारयसंज्ञा के कारण **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) सूत्रद्वारा[2] 'कृष्णा' को पुंवद्भाव के कारण 'कृष्ण' हो जाता है । ध्यान रहे कि कर्मधारयसंज्ञा के साथ-साथ इस की तत्पुरुषसंज्ञा भी बनी रहती है । इसीलिये तो यह सूत्र **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) के अधिकार में पढ़ा नहीं गया, अन्यथा एकसंज्ञाधिकार के कारण कर्मधारयसंज्ञा से तत्पुरुषसंज्ञा का बाध हो जाता । हमें यहां तत्पुरुषसञ्ज्ञा रखनी भी अभीष्ट है, अतएव तत्पुरुषमूलक समासान्त प्रत्यय तथा स्वर आदि कर्मधारय से भी हो जाते हैं । यथा—उत्तमो गौः—उत्तमगवः

---

१. **गोरतद्धितलुकि** (९३९) के अन्य उदाहरण यथा—
परमश्चासौ गौः—परमगवः । उत्तमश्चासौ गौः—उत्तमगवः । इत्यादि जानने चाहियें । तद्धितप्रत्यय का लुक् होने पर यह समासान्त नहीं होता । यथा—पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः—पञ्चगुः । दशभिर्गोभिः क्रीतः—दशगुः । यहां **तेन क्रीतम्** (११४४) से लाये गये ठक् का **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** (५.१.२८) से लुक् हो गया है अतः समासान्त टच् नहीं हुआ ।

२. इस सूत्र का अर्थ है—कर्मधारयसमास में अथवा जातीय और देशीय प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवत् हो जाता है ।

समानाधिकरण i. समान विभक्ति
ii. वाच्यार्थ भिन्न
iii. तात्पर्यार्थ एक

(श्रेष्ठ बैल)। यहां कर्मधारय से भी **गोरतद्धितलुकि** (९३९) सूत्रद्वारा तत्पुरुषमूलक समासान्त टच् हो जाता है।

अब द्विगुसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९४१) सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः ।२।१।५१।।

तद्धितार्थ० (९३६) इत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।।

अर्थः—**तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) इस सूत्र में जो त्रिविध समास कहा गया है यदि उस का पूर्व (पूर्वपद) संख्यावाचक हो तो वह समास द्विगुसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सङ्ख्यापूर्वः ।१।१। द्विगुः ।१।१। सङ्ख्या पूर्वः (पूर्वावयवः) यस्य स संख्यापूर्वः, बहुव्रीहिसमासः। **तद्धितार्थ०** (९३६) इस पूर्वसूत्र में उक्त त्रिविध समास ही यहां बहुव्रीहि का अन्यपदार्थ है। अर्थः—**तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) इस पूर्वसूत्र में जो त्रिविध समास कहा गया है उस में (संख्यापूर्वः) पूर्वपद यदि संख्यावाची हो तो वह समास (द्विगुः) द्विगुसंज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि **तद्धितार्थोत्तर०** (९३६) सूत्रद्वारा तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे होने पर, या समाहार अर्थ में जो त्रिविध समास कहा गया है उस समास में संख्यावाची पूर्वपद हो तो उस की द्विगु-संज्ञा हो जाती है। यथा—

तद्धितार्थ के विषय में—पाञ्चनापितिः, पञ्चकपालः आदि द्विगु हैं।

उत्तरपद परे रहते—पञ्चगवधनः आदि द्विगु हैं।

समाहार में—पञ्चगवम् आदि द्विगु हैं।

यहां यह ध्यातव्य है कि इस द्विगुसंज्ञा से तत्पुरुषसंज्ञा का बाध नहीं होता। **द्विगुश्च** (९२३) सूत्र में चकारग्रहण के कारण दोनों का समावेश हो जाता है—यह पीछे उसी सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है।

द्विगुसञ्ज्ञा हो जाने से समास में एकवचन तथा नपुंसक लिङ्ग की प्राप्ति होती है—यह अग्रिम दो सूत्रों में स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४२) द्विगुरेकवचनम् ।२।४।१।।

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात् ।।

अर्थः—द्विगु समास का अर्थ समाहार एकत्व का प्रतिपादक हो।

व्याख्या—द्विगुः ।१।१। एकवचनम् ।१।१। समाहारे ।७।१। (**समाहारग्रहणं कर्त्तव्यम्** इस वार्त्तिक के कारण)। वक्तीति वचनम्, **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) इति बाहुलकात्कर्त्तरि ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। एकस्य वचनम् एकवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। एकस्य (अर्थस्य) प्रतिपादक इत्यर्थः। अर्थः—(समाहारे) समाहार अर्थ में जो (द्विगुः) द्विगुसमास वह (एकस्य वचनः) एक अर्थ का प्रतिपादक होता है। समाहार (समूह) यद्यपि एक होता है, उस में एकवचन स्वतः सिद्ध है ही तथापि समूह में उद्भूतावयव-

विवक्षा से कहीं द्वित्व और बहुत्व न हो जायें इसलिये यहां पुनः एकत्व का प्रतिपादन किया गया है ।

यह सूत्र समाहारार्थक द्विगु के ही एकत्व का प्रतिपादन करता है तद्धितार्थ-विषयक द्विगु का नहीं । अतः उस में यथेष्ट वचन हो सकते हैं । यथा—पञ्चसु कपालेषु संस्कृताः पञ्चकपालाः (पुरोडाशाः) । पञ्चभिर्गोभिः क्रीताः पञ्चगवः पटाः । उत्तर-पद के परे रहते द्विगु का चाहे जो वचन हो उस का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है, इस तरह कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा समाहारद्विगु तथा समाहारद्वन्द्व का नपुंसकत्व विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४३) **स नपुंसकम्** ।२।४।१७।।

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः—**पञ्चगवम्** ।।

अर्थः—समाहार अर्थ में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक हों ।

व्याख्या—सः ।१।१। नपुंसकम् ।१।१। 'सः' से यहां समाहार अर्थ में हुए द्विगु तथा समाहारद्वन्द्व दोनों का ग्रहण अभीष्ट है । अर्थः—(सः) समाहार अर्थ में द्विगु और द्वन्द्व (नपुंसकम्) नपुंसक होता है । द्विगुसमास तत्पुरुषसमास का ही एक अवान्तर भेद है अतः **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) द्वारा द्विगु और द्वन्द्व दोनों में प्राप्त परव-ल्लिङ्गता का यह अपवाद है । समाहारद्वन्द्व के उदाहरण 'सञ्ज्ञा च परिभाषा च सञ्ज्ञापरिभाषम्' इत्यादि आगे द्वन्द्वसमास के प्रकरण में स्पष्ट होंगे । समाहारद्विगु का अब यहां उदाहरण दिया जा रहा है—

लौकिकविग्रह—पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् (पाञ्च गौओं या बैलों का समूह) । अलौकिकविग्रह—पञ्चन् आम् + गो आम् । यहां अलौकिकविग्रह में समाहार अर्थ में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३९) सूत्रद्वारा 'पञ्चन् आम्' इस संख्यावाचक सुँबन्त का 'गो आम्' इस समानाधिकरण सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है । **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) सूत्र से इस समास की द्विगुसञ्ज्ञा भी रहती है । समासविधायक सूत्र में **दिक्संख्ये** यह पद अनुवर्तित होता है जो प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'पञ्चन् आम्' की उपसर्जनसंज्ञा हो **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्व-निपात हो जाता है—पञ्चन् आम् + गो आम् । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समग्र समाससमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'आम्' प्रत्ययों) का लुक् तथा पञ्चन् के आगे लुप्त हुई आम् विभक्ति को प्रत्ययलक्षणद्वारा मान पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पञ्चन् के नकार का लोप हो कर 'पञ्चगो' इस स्थिति में **गोरतद्धितलुकि** (९३९) से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से 'गो' के ओकार को अव् आदेश करने से—पञ्चगव । **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय के अनु-

सार प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के निर्बाध रहने से 'पञ्चगव' के आगे स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमाविभक्ति की विवक्षा में **द्विगुरेकवचनम्** (९४२) से एकवचन तथा **स नपुंसकम्** (९४३) से नपुंसकलिङ्ग होने के कारण सुँ प्रत्यय ला कर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश एवम् **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पञ्चगवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—पञ्चानां पात्राणां समाहारः—पञ्चपात्रम्। त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम्। चतुर्णां युगानां समाहारः—चतुर्युगम्। पञ्चानां कुमारीणां समाहारः—पञ्चकुमारि[1]। पञ्चानां धेनूनां समाहारः—पञ्चधेनु। त्रयाणां कटूनां समाहारः—त्रिकटु[2]।

विशेष वक्तव्य—स नपुंसकम् (९४३) इस प्रकृतसूत्र का प्रसिद्ध अपवाद यह वार्त्तिक है—**अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) अर्थात् जिस द्विगु का उत्तरपद अकारान्त हो वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिङ्ग में द्विगु से **द्विगोः** (१२५७) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है। यथा—त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी। पञ्चानां पूलानां समाहारः—पञ्चपूली। अष्टानामध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी। इस वार्त्तिक का अपवाद है—**पात्राद्यन्तस्य न** (वा०) अर्थात् पात्र आदि अकारान्त शब्द जिस द्विगु के अन्त में हों वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त नहीं होता। यथा—पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम्, चतुर्युगम्, त्र्यूषणम् आदि। पात्रादि आकृतिगण माना जाता है।

समाहार अर्थ में दिशावाचकों के समास का अनभिधान (अप्रयोग) आकरग्रन्थों में कहा गया है।

तद्धितार्थोत्तरपद० (९३६) सूत्र के उदाहरणों का कोष्ठक यथा—

समासविषयाः	**दिग्वाचकानां समासाः**	**संख्यावाचकानां समासाः**
तद्धितार्थे→	पौर्वशालः, आपरशालः, दाक्षिण-शालः।	पञ्चकपालः, पाञ्चनापितिः, षाण्मातुरः।
उत्तरपदे→	पूर्वशालाप्रियः।	पञ्चगवधनः, दशगवधनः।
समाहारे→	समासो नास्ति।	पञ्चगवम्, त्रिभुवनम्, चतुर्युगम्, पञ्चकुमारि, त्रिकटु, त्रिलोकी, पञ्चपात्रम्, अष्टाध्यायी।

---

१. समाहारे द्विगौ **स नपुंसकम्** (९४३) इति नपुंसकत्वेन **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) इति ह्रस्वत्वे **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) इति सोर्लुक्।

२. **पिप्पली मरिचं शुण्ठी त्रयमेतद्विमिश्रितम्।**
त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषं कटुत्रिकमथोच्यते॥ (भैषज्यरत्नावली)

अब तत्पुरुषसमासान्तर्गत कर्मधारयसमास में विशेषण-विशेष्य-समास के विधायक प्रमुखसूत्र का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४४) **विशेषणं विशेष्येण बहुलम् । २।१।५६॥**

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत् । नीलम् उत्पलम्— नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्— कृष्णसर्पः । क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः ॥

अर्थः—भेदक (विशेषण) सुँबन्त, समानाधिकरण भेद्य (विशेष्य) सुँबन्त के साथ बहुल कर समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है। **बहुलग्रहणात्**—सूत्र में 'बहुलम्' कथन के कारण यह समास कहीं तो नित्य होता है (यथा—कृष्णसर्पः) और कहीं होता ही नहीं (यथा—रामो जामदग्न्यः)।

व्याख्या—विशेषणम् ।१।१। विशेष्येण ।३।१। बहुलम् ।१।१। समानाधिकरणेन ।३।१ (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** से)। समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः—ये सब पीछे से अधिकृत हैं। अर्थः—(विशेषणम्) विशेषण (सुँबन्तम्) सुँबन्त (समानाधिकरणेन) समानाधिकरण (विशेष्येण) विशेष्य (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (बहुलम्) बहुल से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (९४०) सूत्र से इस समास की कर्मधारयसंज्ञा भी होती है।

विशिष्यतेऽनेनेति विशेषणम् । जिस के द्वारा कोई वस्तु विशिष्ट की जाती है या दूसरों से अलग कर पहचान में लाई जाती है उसे विशेषण कहते हैं। दूसरे शब्दों में भेदक या व्यावर्त्तक को विशेषण कहा जाता है। विशेषण जिसे दूसरे से अलग कर विशिष्ट करता है उसे विशेष्य भेद्य या व्यावर्त्य कहते हैं[1]। जैसे 'नीलम् उत्पलम्' यहां 'नीलम्' पद 'उत्पलम्' को दूसरे उत्पलों से अलग कर नीले कमल के रूप में विशिष्ट करता है तो यह 'नीलम्' पद विशेषण तथा 'उत्पलम्' (कमल) विशेष्य हुआ। इसीप्रकार 'रक्तम् उत्पलम्' में 'रक्तम्' पद विशेषण तथा 'उत्पलम्' पद विशेष्य है। 'सितम् अम्भोजम्' में 'सितम्' पद विशेषण तथा 'अम्भोजम्' (कमल) पद विशेष्य है। सुँबन्त विशेषण का समानाधिकरण सुँबन्त विशेष्य के साथ बहुल से समास होता है। 'बहुलम्' कथन के कारण कहीं तो यह समास नित्य होगा, कहीं विकल्प से, और कहीं समास होगा ही नहीं[2]। इसीलिये तो पीछे से आ रहे 'विभाषा' पद का आश्रय छोड़ यहां 'बहुलम्' पद का ग्रहण किया गया है।

---

१. **भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम् । प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम् ॥**

२. 'बहुलम्' की व्याख्या (७७२) सूत्रस्थ इस कारिका पर देखें—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम्[1] (नीला कमल)। अलौकिक-विग्रह—नील सुँ+उत्पल सुँ। यहां 'नील सुँ' इस विशेषण का 'उत्पल सुँ' इस विशेष्य के साथ प्रकृत **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) सूत्रद्वारा समास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में 'विशेषणम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'नील सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—नील सुँ+उत्पल सुँ। अब समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिक-संज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव दोनों सुँप् प्रत्ययों (सुँ और सुँ) का लुक् एवम् **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश करने पर 'नीलोत्पल' बना। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार यहां परपद अर्थात् 'उत्पल' के अनुसार समास का लिङ्ग होना चाहिये। 'उत्पल' नपुंसक है अतः समास का लिङ्ग भी नपुंसक होगा। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'नीलोत्पलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. कर्मधारयसमास में सामानाधिकरण्य को प्रकट करने के लिये लौकिकविग्रह प्रायः दो प्रकार से किया जाता है—

[१] समस्यमान पदों के द्वारा। यथा—वृद्धो व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः। सर्वाः कलाः—सर्वकलाः। नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम् इत्यादि।

[२] चकार से युक्त अदस्, तद्, यद् आदि शब्द लगा कर। यथा—

वृद्धश्चासौ व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः।
वृद्धश्च स व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः।
वृद्धश्च यो व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः।
सर्वाश्चामूः कलाः—सर्वकलाः।
सर्वाश्च ताः कलाः—सर्वकलाः।
सर्वाश्च याः कलाः—सर्वकलाः।
नीलञ्चाद उत्पलम्—नीलोत्पलम्।
नीलञ्च तद् उत्पलम्—नीलोत्पलम्।
नीलञ्च यद् उत्पलम्—नीलोत्पलम्।

कई लोग उत्तरपद के अन्त में भी 'च' का प्रयोग करते हैं। यथा—वृद्धश्चासौ व्याघ्रश्चेति वृद्धव्याघ्रः। अदस्, तद्, यद् आदि शब्दों का लिङ्ग प्रायः विशेष्या-नुसार लगाया जाता है।

इसीप्रकार—

(१) पुण्यं च तत् तीर्थम्—पुण्यतीर्थम् ।[1]
(२) सन्तप्तं च तद् अयः—सन्तप्तायः (गरम लोहा) ।[2]
(३) वृद्धश्चासौ व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः ।[3]
(४) विद्वांश्चासौ जनः—विद्वज्जनः ।[4] (२६२, ६२)
(५) निर्मलाश्च ते गुणाः—निर्मलगुणाः ।[5]
(६) सकलाश्च ताः कलाः—सकलकलाः ।[6]
(७) पूर्वञ्च तद् अर्धम्—पूर्वार्धम् ।[7]
(८) परञ्च तद् अर्धम्—परार्धम् ।[8]
(९) नवश्चासौ अवतारः—नवावतारः ।[9]
(१०) सन्तश्च ते पुरुषाः—सत्पुरुषाः ।[10]
(११) महांश्चासौ वृक्षः—महावृक्षः ।[11]
(१२) रक्तञ्च तदुत्पलम्—रक्तोत्पलम् ।
(१३) सितञ्च तद् अम्भोजम्—सिताम्भोजम् ।
(१४) अखिलानि भूषणानि—अखिलभूषणानि ।[12]
(१५) कृष्णा चासौ चतुर्दशी—कृष्णचतुर्दशी ।
(१६) पूर्वे च ते वैयाकरणाः—पूर्ववैयाकरणाः ।
(१७) सर्वे शैलाः—सर्वशैलाः ।[13]

---

१. **पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।**
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ (हितोप० प्रस्ताविका)

२. **सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते**—(पञ्चतन्त्र १.२७३)

३. **वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा**—(हितोप० १.५) ।

४. **यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि**—(हितोप० १.६९) ।

५. **एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः**—(नीतिशतक ५१) ।

६. **सकलकलापारंगतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव**—(पञ्चतन्त्रारम्भे) । **पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः ।

७-८. **दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्** (नीतिशतक ४९) ।

९. **मा भूत् परीवादनवावतारः**—(रघु० ५.२४) ।

१०. **एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये**—(नीतिशतक ६४) ।

११. **आन्महतः समानाधिकरण०** (९५९) इति तकारस्यात्वे सवर्णदीर्घः ।
सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः—(हितोप० ३.१०) ।

१२. **क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्**—(नीतिशतक १५) ।

१३. **यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।**
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ (कुमार० १.२)

(१८) जठराश्च ते नैयायिकाः—जठरनैयायिकाः (प्राचीन नैयायिक)।
(१९) क्षुद्राश्च ते जन्तवः—क्षुद्रजन्तवः।[1]
(२०) मत्तश्चासौ इभः—मत्तेभः (मदोन्मत्त हाथी)।[2]

सूत्र में 'बहुलम्' कहा गया है अतः क्वचित् इस की केवल प्रवृत्तिमात्र होने से समास नित्य ही रहेगा। क्वचित् अप्रवृत्ति रहने से समास का नितान्त अभाव भी रहेगा। इन दोनों के अतिरिक्त प्रायः अन्य स्थलों में इस की वैकल्पिक प्रवृत्ति ही होगी। नीलोत्पलम् आदि उपरिनिर्दिष्ट उदाहरण विकल्प के हैं अतः समास के अभाव में 'नीलम् उत्पलम्' आदि वाक्य भी प्रयुक्त होते हैं। कृष्णसर्पः, लोहितशालिः—ये नित्य समास के उदाहरण हैं, इन में नित्यसमास होने से स्वपद-विग्रह नहीं पाया जाता। 'कृष्णसर्पः' यह विषधर सर्पजातिविशेष की संज्ञा है। हर एक कृष्णरंग वाले सर्प को 'कृष्णसर्पः' नहीं कहा जाता। इसी तरह 'लोहितशालिः' भी शालि की विशेष जाति का नाम है। केवल लोहितरंग वाले शालि को लोहितशालि नहीं कहा जाता अतः ये अविग्रह समास समझने चाहियें[3]।

रामो जामदग्न्यः (जमदग्नि का पुत्र राम अर्थात् परशुराम), व्यासः पाराशर्यः (पराशर का पुत्र व्यास अर्थात् वेदव्यास), अर्जुनः कार्त्तवीर्यः (कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन अर्थात् सहस्रार्जुन)। ये सब समास की अप्रवृत्ति के उदाहरण हैं। इन में समास न हो कर केवल वाक्य ही रहता है।[4]

विशेष वक्तव्य—विशेष्य और विशेषण का निर्णय दुष्कर कार्य है, जिसे आप विशेषण मानते हैं वह विशेष्य भी माना जा सकता है; इसीप्रकार जिसे आप विशेष्य

---

१. **जीवन्ति च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।**
अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥ (हितोप० ३.१०१)

२. **मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति धीराः**—(शृङ्गारशतक ७३)।

३. कर्मधारय-समास में अस्वपदविग्रह नित्यसमास के कुछ अन्य उदाहरण यथा—गुरुचरणाः (पूज्या गुरवः)। आर्यमिश्राः (पूज्यास्त्रैवर्णिकाः)। इत्यादि।

४. ऐसा क्यों होता है ? सर्वत्र सूत्र की प्रवृत्ति एक जैसी क्यों नहीं होती ? इस का उत्तर यह है कि भाषा पहले हुआ करती है और उस का व्याकरण बाद में बना करता है। व्याकरण का प्रयोजन भाषा में प्रचलित उन उन प्रयोगों का अन्वाख्यान करना ही होता है न कि नये नये अप्रचलित प्रयोगों का घड़ना। अतः शिष्टसम्मत संस्कृतभाषा में जिस प्रकार के प्रयोग प्रचलित थे, आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण के द्वारा उन का प्रतिपादनमात्र ही प्रस्तुत किया है कोई नवीन बात अपनी ओर से नहीं जोड़ी। यहां 'बहुलम्' के ग्रहण से भाषागत तीन कार्यों का एक साथ साधना उन के परम नैपुण्य का परिचायक है। अतएव अष्टाध्यायी के विषय में यह प्रचलित है—**शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी**।

कहते हैं वह विशेषण भी बन सकता है। यथा प्रकृत में 'नील' को विशेषण तथा 'उत्पल' को विशेष्य माना गया है, परन्तु इस से विपरीत भी माना जा सकता है। कैसा नीला? उत्पल जातिवाला, इस तरह मानने से 'नील' विशेष्य (भेद्य) और 'उत्पल' विशेषण (भेदक) प्रतीत होने लगता है। विशेषण का यहां पूर्वनिपात होना है क्योंकि वह प्रथमानिर्दिष्ट होने से उपसर्जन है। जब विशेषण का ही निश्चय न होगा तो पूर्वनिपात में अनियम रहेगा, कभी 'नीलोत्पलम्' बनेगा और कभी 'उत्पल-नीलम्' भी प्रसक्त होने लगेगा। इस पर व्याख्याकारों का कथन है कि जब जाति-वाचक या संज्ञावाचक के साथ गुणवाचक या क्रियावाचक शब्द का समभिव्याहार हो तो जातिवाचक और सञ्ज्ञावाचक को विशेष्य तथा गुण और क्रिया के वाचकों को विशेषण ही माना जाता है। यथा—'नीलम् उत्पलम्' में जातिवाचक 'उत्पलम्' के साथ गुणवाचक 'नीलम्' का समभिव्याहार है, तो गुणवाचक 'नीलम्' विशेषण तथा जातिवाचक 'उत्पलम्' विशेष्य होगा। इसीप्रकार 'पाचको ब्राह्मणः—पाचकब्राह्मणः' में क्रियावाचक 'पाचकः' विशेषण तथा जातिवाचक 'ब्राह्मणः' विशेष्य होगा। जब दो गुणवाचकों का समभिव्याहार हो तो विशेष्य-विशेषण का कोई नियम नहीं होता, किसी को भी विशेष्य और दूसरे को विशेषण माना जा सकता है। यथा—खञ्जः कुब्जः—खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्जो वा। दो क्रियाशब्दों या गुण और क्रियाशब्दों के समभिव्याहार में भी इसी तरह अनियम रहता है। यथा—पाचकः पाठकः—पाचक-पाठकः पाठकपाचको वा। खञ्जः पाचकः—खञ्जपाचकः पाचकखञ्जो वा। कैलासाद्रिः, विन्ध्याद्रिः, मन्दराद्रिः, अयोध्यानगरी, काशीनगरी इत्यादियों में सञ्ज्ञाविशेषवाचक विशेषण होते हैं। सामान्यजाति और विशेषजाति के समभिव्याहार में विशेषजाति-वाचक शब्द को विशेषण माना जाता है। यथा—शिंशपावृक्षः, आम्रवृक्षः, जम्बूपादपः आदि। सूत्रकार ने कई जगह सूत्र बना कर कर्मधारयसमास में कुछ शब्दों के पूर्व-निपात को नियमित करने का भी प्रयत्न किया है। इन के अनुसार सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल, पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर, सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट आदि शब्दों का पूर्वनिपात ही होता है परनिपात नहीं।[1] विस्तार के लिये काशिका या सिद्धान्तकौमुदी का अवलोकन करें।

नोट—वृत्तिविषय में संख्यावाचक शब्द पूरणप्रत्ययों के विना भी पूरणप्रत्य-यान्तों के अर्थ की प्रतीति कराया करते हैं। यथा—षष्ठो भागः—षड्भागः। **तपः-षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः**—(शाकुन्तल० २.१४)। तृतीयो भागः—त्रिभागः। **त्रिभागशेषासु क्षपासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत** (कुमार० ५.५७)। शततमोऽशः—शतांशः। **अर्थार्थी जीवलोकोऽयं यानि कष्टानि सेवते। शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेद् मोक्षमाप्नुयात्** (पञ्चतन्त्र २.१२५)।

---

१. **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः**०, **पूर्वाऽपर-प्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीराश्च** (२.१.४८-५७)। **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०)।

अब उपमानपूर्वपदक कर्मधारयसमास का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४५) **उपमानानि सामान्यवचनैः ।** २।१।५४।

(उपमानवाचकानि सुँबन्तानि समानाधिकरणैः सामान्यवचनैः सुँबन्तैः सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति)। घन इव श्यामः—घनश्यामः ॥

अर्थः—उपमानवाचक सुँबन्त, समानधर्म को कह चुके हुए समानाधिकरण सुँबन्तों के साथ समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—उपमानानि ।१।३। सामान्यवचनैः ।३।३। समानाधिकरणैः ।३।३। (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। उपमीयते सदृशतया परिच्छिद्यते यैस्तानि उपमानानि, करणे ल्युट्। जिन के द्वारा किसी वस्त्वन्तर की तुल्यता या समानता दर्शाई जाती है उन को उपमान कहते हैं। घन (बादल), चन्द्र, कमल आदि लोकप्रसिद्ध उपमान हैं क्योंकि इन से उपमेयों की समता दर्शाई जाती है। समानस्य भावः सामान्यम्, साधारणो धर्म इत्यर्थः। सामान्यम् उक्तवन्त इति सामान्यवचनाः, तैः=सामान्यवचनैः। भूते कर्त्तरि बाहुलकाल्ल्युट्। ये शब्दाः पूर्वं साधारणधर्ममुक्त्वाऽधुना तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते ते सामान्यवचना इत्युच्यन्ते। उपमान और उपमेय में रहने वाली समानता (समानधर्म) को 'सामान्य' कहते हैं। जो शब्द पहले सामान्य (समानधर्म) को कह कर पुनः मत्वर्थीय अच् प्रत्यय[1] के बल से या उपचार के कारण उस सामान्य धर्म से युक्त द्रव्य को कहने लगे तो उसे 'सामान्यवचन' कहते हैं। यथा—घन इव श्यामः (श्रीकृष्णः)। श्रीकृष्ण बादल की तरह श्यामवर्ण वाला है। यहां 'घन' (बादल) उपमान है। श्रीकृष्ण उपमेय है। उपमान और उपमेय में सामान्य श्यामत्व है। श्यामशब्द पहले तो श्यामगुण का वाचक होता है परन्तु बाद में श्यामगुणोऽस्त्यस्येति श्यामः (मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः) इस प्रकार श्यामगुण वाले पदार्थ (श्रीकृष्ण) को कहने लग जाता है, तो अब यह श्यामशब्द सामान्यवचन हुआ। इसी तरह गौर, धवल आदि शब्दों को सामान्यवचन समझना चाहिये। अर्थः—(उपमानानि) उपमानवाचक (सुँबन्तानि) सुँबन्त (समानाधिकरणैः) समान अधिकरण=वाच्य वाले (सामान्यवचनैः) सामान्यवचन (सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (समासाः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (९४०) से इस की कर्मधारयसञ्ज्ञा भी होती है। उदाहरण यथा—

---

१. **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५)।

लौकिकविग्रह—घन इव श्यामः—घनश्यामः[1] (बादल की तरह श्यामवर्ण वाला श्रीकृष्ण)। अलौकिकविग्रह—घन सुँ + श्याम सुँ। यहां 'घन सुँ' उपमानवाची सुँबन्त है। इस का अपने समानाधिकरण[2] 'श्याम सुँ' इस सामान्यवचन सुँबन्त के साथ प्रकृत **उपमानानि सामान्यवचनैः** (९४५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास-सूत्र में 'उपमानानि' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य '**घन** सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—घन सुँ + श्याम सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव दोनों सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् हो जाता है—घनश्याम। पुनः प्रातिपदिकत्वात् सुँबुत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर उकार अनुबन्ध का लोप तथा सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'घनश्यामः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

नीरद इव श्यामः—नीरदश्यामः (बादल की तरह श्यामवर्ण)।
कर्पूर इव गौरः—कर्पूरगौरः (कपूर की तरह गौरवर्ण)।
दुग्धमिव धवलम्—दुग्धधवलं वस्त्रम् (दूध की तरह श्वेत वस्त्र)।
सुधाकर इव मनोहरम्—सुधाकरमनोहरम् मुखम्[3] (चन्द्रवत् सुन्दर मुख)।
शङ्ख इव पाण्डरः—शङ्खपाण्डरः (शङ्ख की तरह श्वेतवर्ण)।

---

१. यहां वृत्ति या अलौकिकविग्रह में पूर्वपद का लाक्षणिक अर्थ 'तत्सदृश' हुआ करता है अतः लौकिकविग्रह में इसे प्रकट करने के लिये 'इव' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

२. भला 'घन' और 'श्याम' का यहां सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव हो सकता है? 'घन' का वाच्य है बादल, और 'श्याम' शब्द श्यामगुणविशिष्ट श्रीकृष्ण आदि को कह रहा है? इस का उत्तर यह है कि यहां समास में पूर्वपद 'घन' की घनसदृश अर्थ में लक्षणा है। इस तरह वह श्रीकृष्ण आदि में रहता है और इधर श्याम-शब्द भी इसी की ओर निर्देश कर रहा है। इत्थं दोनों का अधिकरण समान = एक हो जाने से समास सिद्ध हो जाता है कोई दोष नहीं आता। अत एव 'मृगीव चपला—मृगचपला' इत्यादियों में समानाधिकरण के परे रहते **पुंवत् कर्मधारय-जातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) सूत्र से पूर्वपद को पुंवद्भाव सिद्ध हो जाता है। **शङ्का**—यदि ऐसा मानेंगे तो पूर्वपद उपमान नहीं रहेगा। **समाधान**—पूर्वपद की उपमानता भूतपूर्वगति से समझ ली जाती है। पूर्वपद समास में यद्यपि 'घनसदृश' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथापि पहले तो वह उपमान था अतः उसी नाते अब भी वह उपमान समझा जायेगा।

३. **वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्।**
कदलीसुन्दरावूरू मृणालमृदुलौ भुजौ॥ (साहित्यदर्पणे)

शिरीषमिव मृद्वी—शिरीषमृद्वी (शिरीष पुष्प की तरह कोमला)[1]।

नवनीतमिव कोमला—नवनीतकोमला (मक्खन की तरह कोमला)।

तडिदिव पिशङ्गी—तडित्पिशङ्गी (बिजली की तरह पीली)।

मृगीव चपला—मृगचपला (हरिणी की तरह चञ्चला)[2]।

हंसीव गद्गदा—हंसगद्गदा (हंसनी की तरह गद्गदस्वरा)।

गज इव स्थूल:—गजस्थूल: (हाथी की तरह स्थूल)।

इसी रीति से—हेमरुचिरा, कुमुदश्येनी, शस्त्रीश्यामा, कुन्देन्दुतुषारहारधवला आदियों में समास समझना चाहिये।

अब कर्मधारयसमास के अन्तर्गत मध्यमपदलोपिसमास (अपरनाम शाकपार्थिवादिसमास) का निरूपण करते हैं—

[लघु०] वा०—(५७) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम् ॥

शाकप्रिय: पार्थिव:—शाकपार्थिव:। देवपूजको ब्राह्मण:—देवब्राह्मण: ॥

अर्थ:—शाकपार्थिव आदि शब्दों की सिद्धि के लिये (पूर्वपद में स्थित) उत्तरपद के लोप का उपसंख्यान करना चाहिये।

व्याख्या—**वर्णो वर्णेन** (२.१.६८) सूत्रस्थ महाभाष्य में यह वार्तिक **समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च** इस रूप में पढ़ा गया है। शाकपार्थिव आदि शब्दों की सिद्धि दो बार समास करने से होती है। पहले दो पदों में समास कर एक पद बना लिया जाता है। पुन: इस एक पद का अन्य समानाधिकरण पद के साथ कर्मधारयसमास किया जाता है। इस कर्मधारयसमास में पूर्व समस्त हुए पद के अन्तर्गत उत्तरपद का प्रकृतवार्त्तिक से लोप किया जाता है। यथा—'शाक' और 'प्रिय' पदों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो कर 'शाक: प्रियो यस्य स: =शाकप्रिय:' यह एकपद बन जाता है। अब इस का 'पार्थिव:' के साथ कर्मधारयसमास करने में पूर्वसमस्तपद (शाकप्रिय) के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो कर 'शाकपार्थिव:' प्रयोग बन जाता है। कर्मधारयसमास की प्रक्रिया यथा—

लौकिकविग्रह—शाकप्रिय: पार्थिव: शाकपार्थिव:[3] (शाकभक्षण का प्रेमी राजा)।

---

१. **शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दु:खशतानि सीता।**
तदा तदाऽस्या: सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु राम: ॥ (साहित्यदर्पणे)

२. **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भाव:।

३. महाभाष्य में 'शाकभोजी पार्थिव:—शाकपार्थिव:' इस प्रकार का विग्रह दर्शाया गया है। काशिका में 'शाकप्रधान: पार्थिव:—शाकपार्थिव:' इस तरह का विग्रह पाया जाता है। भाष्योक्तविग्रह में 'भोजिन्' उत्तरपद का एवं काशिकोक्तविग्रह में 'प्रधान' उत्तरपद का लोप हो जाता है।

अलौकिकविग्रह—शाकप्रिय सुँ+पार्थिव सुँ । यहां 'शाकप्रिय सुँ' इस विशेषण का 'पार्थिव सुँ' इस विशेष्य के साथ **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) सूत्रद्वारा समास हो, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर 'शाकप्रियपार्थिव' इस स्थिति में **शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) इस प्रकृत-वार्त्तिक से 'शाकप्रिय' शब्द के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप कर विभक्ति लाने से 'शाकपार्थिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय उदाहरण में 'देवानां पूजकः—देवपूजकः'[1] इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष-समास कर पुनः इस का 'ब्राह्मणः' के साथ कर्मधारयसमास किया जाता है । तथाहि—

लौकिकविग्रह—देवपूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः (देवताओं की पूजा करने वाला ब्राह्मण) । अलौकिकविग्रह—देवपूजक सुँ+ब्राह्मण सुँ । यहां 'देवपूजक सुँ' इस विशेषण का 'ब्राह्मण सुँ' इस विशेष्य के साथ **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) सूत्र-द्वारा समास हो विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर, 'देवपूजकब्राह्मण' इस स्थिति में **शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) इस प्रकृतवार्त्तिक से 'देवपूजक' शब्द के उत्तरपद 'पूजक' का लोप कर विभक्ति लाने से 'देवब्राह्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृतवार्त्तिक में 'शाकपार्थिवादीनाम्' इस प्रकार बहुवचन का निर्देश होने से 'शाकपार्थिव' आदियों को आकृतिगण माना जाता है । इस से इस तरह के अन्य शब्दों को भी यहां संगृहीत समझना चाहिये । इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) छायाप्रधानः तरुः—छायातरुः[2] ।
(२) अश्वयुक्तो रथः—अश्वरथः ।
(३) पर्णनिर्मिता शाला—पर्णशाला ।
(४) तिलमिश्रम् उदकम्—तिलोदकम् ।
(५) गुडमिश्राः धानाः—गुडधानाः ।
(६) परशुप्रहरणो रामः—परशुरामः ।
(७) सहस्रबाहुरर्जुनः—सहस्रार्जुनः ।
(८) घृतपूर्णो घटः—घृतघटः ।
(९) दध्युपसिक्त ओदनः—दध्योदनः ।

---

१. यहां **षष्ठी** (६३१) सूत्रद्वारा प्राप्त समास का **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** (२.२.१५) से निषेध हो जाता है । परन्तु याजकादिगण में 'पूजक' शब्द के पाठ के कारण **याजकादिभिश्च** (२.२.९) द्वारा पुनः षष्ठीसमास हो जाता है ।

२. **पूर्वाह्णे च पराह्णे च तलं यस्य न मुञ्चति ।**
अत्यन्तशीतलच्छाया स छायातरुरुच्यते ॥

(१०) शाखाप्रसक्तो मृगः— शाखामृगः (वानर)।

(११) द्व्यधिकाः दश—द्वादश[1]।

(१२) अलाश्रयो विधिः—अल्विधिः।

(१३) सिंहोपलक्षितमासनम्—सिंहासनम्।

(१४) त्र्यवयवः सर्गः—त्रिसर्गः[2]।

(१५) त्र्यवयवो लोकः—त्रिलोकः[3]।

(१६) दण्डप्रधानो माणवः—दण्डमाणवः[4]।

(१७) दण्डाकारो माथः—दण्डमाथः (सीधा रास्ता)[5]।

(१८) एकाधिकाः दश—एकादश[6]।

नोट—इस समास में यद्यपि पूर्वपद के अन्तर्गत उत्तरपद का ही लोप होता है तथापि समुदितरूप से देखने पर मध्यमपद का लोप होने से इस समास को मध्यमपद-लोपितत्पुरुष कहा जाता है।

अब नञ्तत्पुरुषसमास का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४६) नञ् ।२।२।६॥

नञ् सुँपा सह समस्यते॥

अर्थः—'नञ्' यह अव्यय, सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—नञ् ।१।१। सुँपा ।३।१। (**सह सुँपा** से)। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से)। तत्पुरुषः ।१।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** (प०) परिभाषा के अनुसार 'सुँपा' से तदन्तविधि हो कर 'सुँबन्तेन' बन जाता है। अर्थः—(नञ्) 'नञ्' यह (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। 'नञ्' से यहां सुप्रसिद्ध अव्यय का ही ग्रहण किया जाता है, **स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा विहित

---

१. **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र से द्विशब्द के इकार को आकार आदेश हो जाता है। इस की विस्तृत-सिद्धि (९६०) सूत्रस्थ इसी व्याख्या में देखें।

२. **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा**—(श्रीमद्भागवत १.१.१)।

३. त्रिलोकस्य नाथः—त्रिलोकनाथः। तथा च कालिदासः—

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा (रघु० ३.४५)।

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः (कुमार० ५.७७)।

४. **न दण्डमाणवान्तेवासिषु** (४.३.१३०)।

५. **माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति** (४.४.३७)। दाण्डमाथिकः।

६. अत्र **आन्महतः०** (९५९) इत्यत्र 'आत्' इति योगविभागादात्त्वम्।

नञ् प्रत्यय का नहीं । 'नञ्' अव्यय के ञकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है, प्रयोग मे 'न' ही आता है नञ् नहीं । इसे ञित् करने का प्रयोजन आगे दर्शाया गया है ।

इस सूत्र के उदाहरण दर्शाने से पूर्व नञ्समास की प्रक्रिया में सर्वत्र व्याप्त अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् –(९४७) न लोपो नञः ।६।३।७२।।

नञो नस्य लोप उत्तरपदे । न ब्राह्मणः— अब्राह्मणः ।।

अर्थः—उत्तरपद के परे होने पर नञ् के नकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—न इति लुप्तषष्ठ्येकवचनान्तम्पदम्[1] । लोपः ।१।१। नञः ।६।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से) । अर्थः—(नञः) नञ् के (न=नस्य) न् वर्ण का (लोपः) लोप हो जाता है (उत्तरपदे) उत्तरपद परे हो तो । समास के चरमावयव को ही उत्तरपद कहते हैं । अतः इस सूत्र की प्रवृत्ति समास में ही होती है ।

दोनों सूत्रों का संयुक्त उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः (ब्राह्मण से भिन्न पर तत्सदृश क्षत्रिय आदि) । अलौकिकविग्रह—न + ब्राह्मण सुँ । यहां 'न' यह नञ् अव्यय विद्यमान है, इस का 'ब्राह्मण सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृत **नञ्** (९४६) सूत्र से तत्पुरुषसमास, नञ् की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् करने पर 'न ब्राह्मण' बना । अब 'ब्राह्मण' इस उत्तरपद के परे रहते **न लोपो नञः** (९४७) सूत्रद्वारा 'न' के आदि न् वर्ण का लोप करने से---अब्राह्मण । प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'अब्राह्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

न ज्ञः—अज्ञः (मूर्ख)[2] । न सर्वः—असर्वः । न साधुः—असाधुः[3] । न रोगी—

---

१. 'न लोपः' को एकपद मान कर 'नस्य लोपः—नलोपः' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं माना जा सकता, कारण कि 'नस्य' का सम्बन्ध 'नञः' के साथ है अतः असामर्थ्य के कारण यह समास उपपन्न नहीं होगा जैसा कि **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र में नहीं होता । अतः 'न' को लुप्तषष्ठ्येकवचनान्त पृथक् पद माना गया है ।

२. अज्ञः सुखमाराध्यः—(नीतिशतक २) ।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः—(मनु० २.१५३) ।

३. **असाधुः साधुर्वा भवति खलु जात्यैव पुरुषः**—(सुभाषित०) ।

अरोगी । न पण्डितः — अपण्डितः[1] । न पापः — अपापः । न धर्मः — अधर्मः[2] । न सारः — असारः । न कृपा — अकृपा । न विवेकः — अविवेकः[3] । इत्यादियों में समास समझना चाहिये ।

अब अजादि उत्तरपद के परे रहते नञ्समास में विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — **(९४८) तस्मान्नुँडचि ।६।३।७३।।**

लुप्तनकाराद्[4] नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुँडागमः स्यात् । अनश्वः ।।

अर्थः—जिस के नकार का लोप हो चुका है ऐसे नञ् से परे अजादि उत्तरपद को नुँट् का आगम हो ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। नुँट् ।१।१। अचि ।७।१। नञः ।५।१। (**न लोपो नञः** से) । उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से) । 'अचि' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) परिभाषा के अनुसार तदादिविधि होकर 'अजादौ उत्तरपदे' बन जाता है । 'तस्मात्' के तद्शब्द से **न लोपो नञः** (९४७) इस पूर्व-सूत्रोक्त लुप्तनकार नञ् की ओर संकेत किया गया है । 'तस्मात्' यह पञ्चम्यन्त है । **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) के अनुसार लुप्तनकार नञ् से अव्यवहित पर का अवयव नुँट् होना चाहिए । परन्तु 'अचि' यह सप्तम्यन्त है अतः **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१६)** के अनुसार अजादि उत्तरपद से अव्यवहित पूर्व का अवयव नुँट् होना चाहिये । तो नुँट् किस का अवयव हो ? यह शङ्का उत्पन्न होती है । इस का समाधान यह है—**उभय-निर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** (प०) अर्थात् जहां पञ्चमी और सप्तमी दोनों से निर्देश किये गये हों वहां पञ्चमीनिर्देश ही बलवान् होता है । इसके अनुसार 'तस्मात् नञः' यह निर्देश ही बलवान् हुआ । अतः लुप्तनकार नञ् से परे अजादि उत्तरपद को ही नुँट् का आगम होगा । इस तरह 'अजादौ उत्तरपदे' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो कर 'अजादेरुत्तरपदस्य' बन जायेगा । अर्थः—(तस्मात्=लुप्तनकारात्) उस लुप्त हुए नकार वाले (नञः) नञ् से परे (अजादेरुत्तरपदस्य) अजादि उत्तरपद का अवयव (नुँट्) नुँट् हो जाता है । नुँट् में उकार और टकार इत्सञ्ज्ञक हैं, 'न्' मात्र शेष रहता है। टित् करने का प्रयोजन **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) सूत्रद्वारा इसे अजादि उत्तरपद का आद्यवयव बनाना है । यदि इसे नुँक् करते तो यह उत्तरपद का अन्तावयव बनता ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—न अश्वः—अनश्वः (अश्व से भिन्न पर अश्वसदृश गधा खच्चर

---

१. **पुत्रः शत्रुरपण्डितः**—(हितोपदेशप्रस्तावना) ।

२. **नाऽधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव**—(मनु० ४.१७२) ।

३. **अविवेकः परमापदां पदम्**—(किरात० २.३०) ।

४. लुप्तो नकारो यस्य स लुप्तनकारः, तस्मात् । बहुव्रीहिसमासः ।

आदि)। अलौकिकविग्रह—न+अश्व सुँ। यहां **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा नञ् अव्यय का 'अश्व सुँ' इस सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास, नञ् की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप्=सुँ का लुक् हो जाता है—न अश्व। अब 'अश्व' उत्तरपद के परे रहते **न लोपो नञः** (९४७) से नञ् के न् वर्ण का लोप हो 'अ अश्व' इस स्थिति में **तस्मा-न्नुँडचि** (९४८) सूत्रद्वारा अजादि उत्तरपद 'अश्व' को नुँट् का आगम करने से—अ नुँट्अश्व=अ न् अश्व=अनश्व। एकदेशविकृतन्याय से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'अनश्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह नुँट् का आगम अजादि उत्तरपद को ही होता है हलादि उत्तरपद को नहीं। यथा—न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः, न ज्ञः—अज्ञः इत्यादियों में ब्राह्मण आदि हलादि उत्तरपदों को नुँट् का आगम नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—न अद्यतनम्—अनद्यतनम्। न आत्मा—अनात्मा। न आर्यः—अनार्यः। न आशा—अनाशा। न ईश्वरः—अनीश्वरः। न ईहा—अनीहा। न उत्साहः—अनुत्साहः। न एकः—अनेकः। न ऐक्यम्—अनैक्यम्। न औत्सुक्यम्—अनौत्सुक्यम्। न ऋणी—अनृणी। न उक्त्वा—अनुक्त्वा[1]। न आगत्य—अनागत्य[2]। न आहूय—अनाहूय। इत्यादि।

मोटे रूप में यदि कहें तो यह कह सकते हैं कि नञ् का अजादि शब्द के साथ जब समास होता है तो नञ् का 'न' उलट कर 'अन्' कर लिया जाता है।[3]

पीछे अर्थाभाव अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का **अव्ययं विभक्ति॰** (९०८) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास विधान किया गया है। यथा—मक्षिकाणामभावो निर्मक्षि-कम्। परन्तु जब अर्थाभाव अर्थ में नञ् अव्यय वर्त्तमान हो तो उस का सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो या अव्ययीभाव? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। जहां तक साव-काशता का प्रश्न है दोनों समास लब्धावकाश हैं; अव्ययीभावसमास 'निर्मक्षिकम्' आदि में

---

१. **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) में 'अनञ्पूर्वे' कथन के कारण समास में क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं होता।

२. यहां पहले आङ् उपसर्ग के साथ समास में क्त्वा को ल्यप् हो कर 'आगत्य' बन जाता है। बाद में 'न आगत्य—अनागत्य' इस प्रकार नञ्तत्पुरुषसमास किया जाता है। इसी प्रकार 'अनाहूय' में समझना चाहिये।

३. परन्तु यदि आचार्य अजादि उत्तरपद के परे रहते 'नञ्' को 'अन्' आदेश कर देते तो **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्** (८६) सूत्रद्वारा ङमुँट् (नुँट्) प्राप्त होता जो स्पष्टतः अनिष्ट था। अतः आचार्यप्रदर्शित पूर्वोक्त प्रक्रिया ही युक्त है।

तथा नञ्तत्पुरुष 'अब्राह्मण:' आदि में सावकाश है । इस प्रकार विप्रतिषेध के प्रसङ्ग में **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) सूत्रद्वारा परत्व के कारण नञ्तत्पुरुषसमास ही प्राप्त होता है । परन्तु महाभाष्य के मर्मज्ञ विद्वानों का कहना है कि भाष्य तथा वार्त्तिकपाठ में दोनों प्रकार के समासों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं[1] अत: यहां तत्पुरुषसमास के साथ अव्ययीभावसमास को भी इष्ट समझना चाहिये। तत्पुरुष के उदाहरण यथा—न सन्देह:—असन्देह: (सन्देह का अभाव), न उपलब्धि:—अनुपलब्धि:[2] (उपलब्धि का अभाव), न विवाद:—अविवाद: (विवाद का अभाव)। अव्ययीभाव के उदाहरण यथा—विघ्नानामभावोऽविघ्नम्[3], सन्देहस्याभाव: असन्देहम् । अव्ययीभावसमास नित्य होता है अत: उस का लौकिकविग्रह अस्वपद हुआ करता है ।

'न एकधा—नैकधा'[4] इत्यादि कई स्थानों पर समास में **न लोपो नञ:** (९४७) द्वारा न् वर्ण का लोप नहीं देखा जाता, इस का क्या कारण है ? इस का समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं—

[लघु०] नैकधा इत्यादौ तु नशब्देन सह सुँप्सुँपेति (९०६) समास: ।।

अर्थ:—'न एकधा—नैकधा' इत्यादि प्रयोगों में 'न' अव्यय के साथ 'एकधा' आदि का **सह सुँपा** (९०६) सूत्र से समास हुआ है (यह नञ्तत्पुरुष नहीं अत: न् वर्ण का लोप नहीं हुआ) ।

व्याख्या—'न एकधा—नैकधा' इत्यादि स्थलों पर उत्तरपद का निषेध होने से समास तो है ही, परन्तु वह **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा विहित नञ्तत्पुरुष नहीं अपितु नञ् के समान निषेधार्थक एक अन्य अव्यय 'न' के साथ **सह सुँपा** (९०६) से किया गया समास है । अत: नञ् के न होने से **न लोपो नञ:** (९४७) सूत्रद्वारा न् वर्ण का लोप नहीं होता । नञ् और न दो पृथक्-पृथक् अव्यय हैं, इन का विवेचन इस व्याख्या के अव्ययप्रकरण में पीछे विस्तार से किया जा चुका है । 'न' अव्यय के साथ समास के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

न चिरम्—नचिरम् । न चिरेण—नचिरेण । न चिरात्—नचिरात् । न एक:—नैक:[5] । न अन्तरीयम्—नान्तरीयम् (अविनाभावि) । न एकभेदम्—नैकभेदम् (**उच्चा-**

---

१. **रक्षोहागमलघ्वसन्देहा: प्रयोजनम्** (महाभाष्य पस्पशा०) । **अद्रुतायामसंहितम्**—(महाभाष्य वा० १.४.१०८) ।

२. **नास्ति घटोऽनुपलब्धे:** (तर्कशास्त्र का सुप्रसिद्ध वचन) ।

३. **अविघ्नमस्तु ते स्थेया: पितेव धुरि पुत्रिणाम्**—(रघु० १.९१) ।

४. **अधुनीत खग: स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्**—(नैषध० २.२) ।

५. **सा ददर्श नगान् नैकान् नैकाश्च सरितस्तथा**—(नैषध० १२.८१) ।

वचं नैकभेदम्—इत्यमरः)। न सुकरम्—नसुकरम्।[1] न संहताः—नसंहताः। न भिन्न-वृत्तयः—नभिन्नवृत्तयः[2] इत्यादि। नञ् के साथ समास होने पर अनेकधा, अचिरम् आदि भी बनते हैं।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि नञ्तत्पुरुष को महाभाष्य में उत्तरपदप्रधान माना गया है। इस में प्रयुक्त नञ् उत्तरपद को विशिष्ट करता है। इस का विवेचन व्याकरण के दार्शनिकग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। उन के अनुसार 'अब्राह्मणः' में नञ् अव्ययद्वारा उत्तरपद का आरोपितत्व (काल्पनिकत्व) द्योतित किया जाता है वह आरोपितत्व ब्राह्मणत्व के द्वारा ब्राह्मण में अन्वित होता है, 'आरोपितब्राह्मणत्ववान्' ऐसा बोध होता है। तात्पर्य तो वही रहता है जो ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं, परन्तु इस तरह मानने से उत्तरपद की प्रधानता स्पष्ट रहती है। अतः 'न सः—असः, तस्मै = अतस्मै' इत्यादियों में तद् की प्रधानता के कारण सर्वनामकार्य निर्बाध हो जाते हैं। यदि पूर्वपद की प्रधानता होती तो उत्तरपद के गौण हो जाने से **सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः**[3] द्वारा उन में सर्वनामकार्य न हो सकते।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि नञ्द्वारा प्रतिपाद्य निषेध दो प्रकार का होता है। पर्युदासप्रतिषेध तथा प्रसज्यप्रतिषेध। पर्युदासप्रतिषेध कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः समासयुक्त मिलता है। इन में उत्तरपद के प्रतिषेध के साथ-साथ तत्सदृश आदि अन्य अर्थों की भी प्रतीति होती है अत एव **पर्युदासः सदृग्ग्राही** कहा जाता है। परन्तु प्रसज्यप्रतिषेध सीधा क्रिया के साथ सम्बद्ध होने से उस का ही निषेध करता है, अत एव (कुछ अपवादों को छोड़) यह समास को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सुँबन्त के साथ ही समास का विधान है तिङन्त के साथ नहीं। कहा भी गया है—**प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्**। इन दोनों प्रतिषेधों का विवेचन इस व्याख्या के प्रथम भाग में **अनचि च** (१८) सूत्र पर सोदाहरण किया जा चुका है वहीं देखें। नञ् के अर्थों के विषय में निम्नस्थ एक प्राचीन श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

तत्सादृश्यम् अभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

इस कारिका में प्रयुक्त 'तद्' शब्द से नञ् अव्यय के साथ आने वाले शब्द का ग्रहण होता है। नञ् के छः अर्थ होते हैं—

(१) **तत्सादृश्यम्**—नञ् के साथ प्रयुक्त पदार्थ से भिन्न पर तत्सदृश। यथा—अब्राह्मणम् आनय। यहां ब्राह्मण से भिन्न पर तत्सदृश क्षत्रियादि मनुष्य को लाया जाता है, लोष्ठ आदि को नहीं।

---

१. **कृत्वा नसुकरं कर्म गता वैवस्वतक्षयम्** (महाभारत कर्ण०)। वैवस्वतक्षयम् = यमसदनम्।

२. **नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः**—(किरात० १.१९)।

३. अर्थात् यदि सर्वादि किसी की संज्ञा हों या गौण हों तो उन को सर्वादि समझ कर सर्वनामकार्य नहीं होते।

(२) **अभाव:**- नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ का अभाव । यथा— अविघ्न-मस्तु (विघ्नों का अभाव हो) । अपापमस्तु (पापों का अभाव हो) ।

(३) **तदन्यत्वम्**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ से इतर का ग्रहण । यथा—अनश्वं प्राणिनम् आनय (घोड़े से भिन्न प्राणी को लाओ) । यहां अश्व से भिन्न प्राणी गर्दभ आदि लाया जाता है ।

(४) **तदल्पता**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ की अल्पता । यथा—अनुदरा कन्या (उदररहित कन्या) । उदर तो हर एक का हुआ ही करता है अतः यहां उदर के निषेध से उस की अल्पता व्यक्त होती है ।

(५) **अप्राशस्त्यम्**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ का प्रशस्त न होना । यथा—**अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति** (महाभाष्ये २.१.६)—जो ब्राह्मण खड़ा-खड़ा मूतता है वह अब्राह्मण अर्थात् निन्दित ब्राह्मण होता है । इसीप्रकार—**अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः** (तैत्तिरीयब्राह्मण)—गौओं और घोड़ों से भिन्न अन्य पशु तो अपशु अर्थात् अप्रशस्त पशु होते हैं ।

(६) **विरोध**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ का विरोधी होना । यथा—अधर्मः (धर्मविरुद्ध), असुरः (देवों से विरुद्ध—राक्षस) ।

नवीन वैयाकरण इन को नञ् का अर्थ न मान कर प्रयोगोपाधि मानते हैं ।

अब सुप्रसिद्ध गतिसमास तथा प्रादिसमास का विवेचन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् **(६४६) कु-गति-प्रादयः ।२।२।१८।।**

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः—कुपुरुषः ।।

अर्थः—'कु' शब्द, गतिसंज्ञक शब्द तथा 'प्र' आदि शब्द—ये समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—कु-गति-प्रादयः ।१।३। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रिया-विशेषणम् (नित्यं क्रीडाजीविकयोः से) । **समर्थः पदविधिः, समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पीछे से आ रहे हैं । प्र आदिर्येषान्ते प्रादयः । कुश्च गतिश्च प्रादयश्च कु-गति-प्रादयः । बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्वसमासः । गति और प्रादि निपातों के साहचर्य के कारण 'कु' यह भी कुत्सितवाचक निपात (अव्यय) ही लिया जाता है पृथ्वीवाचक स्त्रीलिङ्ग 'कु' शब्द नहीं । अर्थः—(कु-गति-प्रादयः) 'कु' यह अव्यय, गतिसञ्ज्ञक शब्द और प्र आदि शब्द—ये (समर्थेन) समर्थ (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ मिलकर (नित्यम्) नित्य (समासाः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है । यह समास नित्य होता है अतः इस का लौकिकविग्रह स्वपदों से नहीं दर्शाया जा सकता । पूर्वपद की जगह कोई पर्याय रख कर लौकिकविग्रह दर्शाते हैं ।

'कु' का समर्थ सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—कुत्सितः पुरुषः—कुपुरुषः (निन्दित, दुष्ट, पापी या ओछा

पुरुष)। अलौकिकविग्रह—कु + पुरुष सुँ। यहां 'कु' इस अव्यय का 'पुरुष सुँ' इस सुँबन्त के साथ **कुगतिप्रादयः** (६४६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'कु' की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् करने पर—कुपुरुष। अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'कुपुरुषः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसी प्रकार—

कुत्सितः पुत्रः—कुपुत्रः[2]।

कुत्सिता माता—कुमाता।

कुत्सिताः परीक्षकाः—कुपरीक्षकाः[3]।

कुत्सिता दृष्टिः—कुदृष्टिः।

इस समास का सुन्दर उदाहरण पञ्चतन्त्र (५.१) का श्लोक है—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम्॥

अजादि उत्तरपद परे होने पर तत्पुरुषसमास में 'कु' के स्थान पर 'कद्' आदेश हो जाता है[4]। यथा—कुत्सितम् अन्नम्—कदन्नम्। कुत्सितोऽश्वः—कदश्वः। रथ, वद और त्रि के परे रहते भी कद् आदेश हो जाता है।[5] यथा—कुत्सितो रथः—कद्रथः। कुत्सितो वदः—कद्वदः। कुत्सितास्त्रयः—कत्त्रयः।

'कु' का ईषद् (थोड़ा) अर्थ भी हुआ करता है। इस अर्थ में वर्त्तमान 'कु' को 'का' आदेश हो जाता है उत्तरपद परे रहते[6]। यथा—ईषद् मधुरम्—कामधुरम्। ईषद् अम्लम्—काम्लम्। ईषद् लवणम्—कालवणम्। उष्णशब्द के परे होने पर तत्पुरुषसमास में ईषद्वाचक 'कु' को कव, का और कद् आदेश हो जाते हैं[7]। यथा—ईषदुष्णम्—कवोष्णं कोष्णं कदुष्णं वा (थोड़ा गरम)।

---

१. पुरुषशब्द के परे रहते तत्पुरुषसमास में **विभाषा पुरुषे** (६.३.१०५) सूत्रद्वारा 'कु' के स्थान पर 'का' आदेश विकल्प से हो जाता है। कापुरुषः, कुपुरुषः। साहित्यगत प्रयोग यथा—

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति—(पञ्चतन्त्रे)

२. **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**—(देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रे)

३. **कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका न मणयो यैरर्घतः पातिताः**—(नीतिशतक ११)

४. **कोः कत् तत्पुरुषेऽचि** (६.३.१००)।

५. **रथवदयोश्च** (६.३.१०१)। **त्रौ च** (वा०)।

६. **ईषदर्थे** (६.३.१०४)।

७. **कवञ्चोष्णे** (६.३.१०६)।

'कु' के समास के बाद गति के समास का नम्बर आता है। गतिसमास के उदाहरणों से पूर्व गतिसंज्ञा को कुछ समझ लेना चाहिये।

क्रिया के योग में प्र आदियों की **उपसर्गाः क्रियायोगे** (३५) सूत्रद्वारा उपसर्ग-सञ्ज्ञा तथा **गतिश्च** (२०१) सूत्र से गतिसंज्ञा कही जा चुकी है। इस के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रों से क्रिया के योग में कई शब्दों की गतिसंज्ञा विहित की गई है। उन में प्रसिद्ध एक सूत्र का यहां अवतरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् —(९५०) ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च ।१।४।६०।।

ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सुपुरुषः ।।

अर्थः—ऊरी-आदिगण में पढ़े गये शब्द, च्विँप्रत्ययान्त शब्द तथा डाच्प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ऊर्यादि-च्विँ-डाचः ।१।३। च इत्यव्ययपदम्। क्रियायोगे ।७।१। (**उपसर्गाः क्रिया-योगे** से)। गतयः ।१।३। (**गतिश्च** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। ऊरीशब्द आदिर्येषां ते ऊर्यादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। ऊर्यादयश्च च्विँश्च डाच् च ऊर्यादि-च्विँ-डाचः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। ऊर्यादि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है। इस में ऊरी, उररी आदि कई शब्द पढ़े गये हैं। च्विँ और डाच् तद्धित-प्रकरण (१२४२,१२४७) में पढ़े गये प्रत्यय हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** (प०) के अनुसार च्विँ से च्विँप्रत्ययान्तों तथा डाच् से डाच्प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है[1]। **अर्थः**—(ऊर्यादि-च्विँ-डाचः) ऊर्यादिगणपठितशब्द, च्विँप्रत्ययान्तशब्द तथा डाच्प्रत्ययान्त शब्द (क्रिया-योगे) क्रिया के साथ योग होने पर (गतयः) गतिसञ्ज्ञक (च)[2] भी होते हैं। **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) से इन की निपातसञ्ज्ञा हो कर **स्वरादिनिपात-मव्ययम्** (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा भी होगी। च्विँ और डाच् प्रत्ययों का कृ, भू और अस् धातुओं के योग में ही विधान है अतः तत्साहचर्य से ऊरी आदियों की भी इन धातुओं के योग में ही गतिसंज्ञा समझनी चाहिये।

ऊर्यादियों का उदाहरण यथा—

---

१. **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) में अन्तग्रहण से ज्ञापित होने वाली **सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति** इस परिभाषा की यहां प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि यहां पीछे से 'क्रियायोगे' का अनुवर्त्तन हो रहा है। केवल प्रत्ययों का क्रिया के साथ योग सम्भव नहीं वह तो प्रत्ययान्तों का ही हो सकता है अतः यहां तदन्तविधि निर्बाध हो जाती है।

२. एकसञ्ज्ञाधिकारे निपातसंज्ञासमावेशार्थं सूत्रे चकारः।

ऊरीशब्द अङ्गीकार या स्वीकार अर्थ में प्रसिद्ध है । इस का ऊर्यादिगण में पाठ हैं । इस का क्त्वाप्रत्ययान्त कृ धातु अर्थात् 'कृत्वा' के साथ जब योग करते हैं तो **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) सूत्र से इस की गतिसञ्ज्ञा (निपातसंज्ञा, तथा अव्ययसंज्ञा भी) हो जाती है । गतिसञ्ज्ञक होने से इस का 'कृत्वा' सुँबन्त के साथ **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्रद्वारा नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट होने से गति की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात हो जाता है । इस समास में सुँब्लुक् का प्रसङ्ग ही नहीं उठता क्योंकि पूर्वपद और उत्तरपद दोनों अव्यय हैं इन से परे औत्सर्गिक सुँ का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से पहले ही लुक् हो चुका है । 'ऊरीकृत्वा' इस प्रकार समास हो जाने पर **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) सूत्र से 'कृत्वा' के अन्त में क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश तथा **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) सूत्रद्वारा 'कृ' को तुँक् (त्) का आगम करने पर—ऊरीकृत्य । अब क्त्वा के स्थान पर हुए ल्यप् को स्थानिवद्भाव के कारण क्त्वा मान कर समस्त शब्द की **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से अव्ययसंज्ञा हो जाती है । अतः इस से परे समासत्वात् लाये गये सुँ प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर 'ऊरीकृत्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'ऊरीकृत्य' का अर्थ है—स्वीकृत्य वा अङ्गीकृत्य (स्वीकार या अङ्गीकार कर के) । यहां गतिसंज्ञा करने का फल **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से समास करना तथा समास का फल क्त्वा को ल्यप् आदेश करना जानना चाहिये । ऊरीकृत्य का साहित्यगत प्रयोग यथा—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ (माघ० २.३०)

इसीप्रकार—उररीकृत्य (स्वीकार कर के), सजूःकृत्य (साथ कर के)[1], आविर्भूय (प्रकट हो कर) आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि गति का सुँबन्त के साथ ही समास होता है, तिङन्त क्रियावाचक के साथ नहीं । क्तान्त, क्तवत्वन्त, तुमुँन्नन्त, क्त्वान्त, शत्रन्त आदि क्रियाएं सुँबन्त होती हैं अतः इन के साथ ही समास होता है । अन्यथा केवल गतिसञ्ज्ञा ही होती है समास नहीं होता । यथा—ऊरी करोति, उररी करोति आदि । असमास दशा में भी गतिवाचकों का **ते प्राग्धातोः** (४१९) के अनुसार क्रिया से पूर्व ही प्रयोग होता है ।

---

१. **नोदकण्ठिष्यतात्यर्थं त्वामैक्षिष्यत चेत् स्मरः ।**
खेलायन्ननिशं नापि सजूःकृत्य रतिं वसेत् ॥ (भट्टि० ५.७२)

रावण सीता को कह रहा है—यदि कामदेव ने तुझे देखा होता तो वह अपनी पत्नी (रति) के लिये कभी भी उत्कण्ठित न हुआ होता और न ही उस को सहचरी बना कर सदा उस के साथ खेलता हुआ रहता । सजुस्+कृ+क्त्वा=सजूःकृत्य । 'सजुस्' शब्द की पदान्त-प्रक्रिया हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में लिख चुके हैं वही यहां पर समझनी चाहिये ।

च्विँप्रत्ययान्तों की गतिसंज्ञा तथा गतिसमास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं कृत्वेति शुक्लीकृत्य (अशुक्ल को शुक्ल कर के)। क्त्वान्त कृ धातु (कृ+क्त्वा) के योग में अभूततद्भाव[1] अर्थ में 'शुक्ल अम्' इस सुँबन्त से **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** (१२४२) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक च्विँ प्रत्यय लाने पर चकार की **चुटू** (१२९) तथा इकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञा हो कर लोप एवम् अवशिष्ट वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप करने पर—शुक्ल अम् (कृ+क्त्वा)। पुनः च्विँप्रत्ययान्त की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् हो जाता है—शुक्ल (कृ+क्त्वा)। अब प्रत्ययलक्षण से च्विँ को मान कर **अस्य च्वौ** (१२४३) से च्विँ के परे रहते अकार को ईकार करने पर —शुक्ली+कृत्वा। यहां 'शुक्ली' शब्द च्विँप्रत्ययान्त है अतः **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) से इस की गतिसञ्ज्ञा (साथ ही निपातसञ्ज्ञा तथा तन्निमित्तक अव्ययसंज्ञा) हो कर सुँ का लुक् हो जाता है। इस स्थिति में गतिसंज्ञक 'शुक्ली' का 'कृत्वा' इस कृदन्त सुँबन्त के साथ **कुगतिप्रादयः** (९४९) से नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। इस समास में प्रथमा-निर्दिष्ट गतिसञ्ज्ञक च्विँप्रत्ययान्त की उपसर्जनसंज्ञा, **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात तथा **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से क्त्वा को ल्यप्, अनुबन्धलोप एवं **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) द्वारा तुँक् का आगम करने पर 'शुक्लीकृत्य' प्रयोग सिद्ध होता है।[2]

यह समास सुँबन्त के साथ ही विहित है तिङन्त के साथ नहीं। 'शुक्ली करोति' में 'शुक्ली' की गतिसञ्ज्ञा तो है पर समास नहीं होता अतः व्यस्त प्रयोग लिखा जाता है।

इसीप्रकार—शुक्लीभूय, कृष्णीकृत्य, कृष्णीभूय आदि च्विँप्रत्ययान्त गतिसमास के उदाहरण समझने चाहियें। इन का साहित्यगत उदाहरण यथा—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति॥ (हितोप० १.१८३)

डाच्प्रत्ययान्तों की गतिसञ्ज्ञा तथा गतिसमास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—'पटत्' एवं शब्दं कृत्वेति पटपटाकृत्य (पटत् इस प्रकार का

---

१. पहले वैसा न हो कर बाद में वैसा हो जाना इसे मोटे शब्दों में अभूततद्भाव कहते हैं। विस्तार के लिये **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य०** (१२४२) सूत्र पर इस व्याख्या का अवलोकन करें।

२. इस 'शुक्लीकृत्य' समास से परे लाई गई विभक्ति (सुँ) का भी **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। क्योंकि ल्यप् को स्थानिवद्भाव के कारण क्त्वा मान कर **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७) से 'शुक्लीकृत्य' भी अव्ययसंज्ञक है।

शब्द कर के)। यहां क्त्वान्त कृधातु (कृ+क्त्वा) के योग में अव्यक्तशब्द के अनुकरण 'पटत्' शब्द से स्वार्थ में **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (१२४७) सूत्र-द्वारा डाच् इस तद्धितप्रत्यय की विवक्षामात्र में प्रत्यय के लाने से पूर्व ही **डाचि बहुलं द्वे भवतः** (वा०) इस वार्त्तिक से 'पटत्' को द्वित्व कर बाद में डाच् प्रत्यय हो जाता है —पटत् पटत् डाच् (कृ+क्त्वा)। डाच् के डकार की **चुटू** (१२९) से तथा चकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप करने से 'आ' मात्र शेष रह जाता है—पटत् पटत् आ (कृ+क्त्वा)। इस डाच् (आ) के परे रहते **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा कर **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा डाच् से पूर्व पटत् की टि (अत्) का लोप हो जाता है—पटत् पट् आ (कृ+क्त्वा)=पटत् पटा (कृ+क्त्वा)। पुनः **तस्य परमाम्रेडितम्** (९९) से द्वितीय पटत् (अब 'पटा') की आम्रेडितसंज्ञा हो कर **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्** (वा०) इस वार्त्तिक से प्रथम 'पटत्' के तकार और उस से अगले 'पटा' के पकार इन दोनों वर्णों के स्थान पर पररूप अर्थात् 'प्' एकादेश हो जाता है—पट प् अटा (कृ+क्त्वा)=पटपटा (कृ+क्त्वा)। अब **ऊर्यादि-च्वि-डाचश्च** (९५०) से डाच्-प्रत्ययान्त 'पटपटा' की गतिसञ्ज्ञा (तथा साथ ही निपातसञ्ज्ञा और तन्मूलक अव्ययसञ्ज्ञा भी) हो कर **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से इस का 'कृ+क्त्वा' के साथ नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास में गतिसञ्ज्ञक का पूर्वनिपात हो कर **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से क्त्वा को ल्यप् आदेश, अनुबन्धलोप तथा **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) सूत्रद्वारा ह्रस्व को तुँक् का आगम करने से—पटपटाकृत्य। अन्त में प्रातिपदिकत्व के कारण समस्त समाससमुदाय से सुँ विभक्ति ला कर **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से समुदाय के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने से **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा सुँप्=सुँ का लुक् कर देने से 'पटपटाकृत्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—दमदमाकृत्य, खटखटाकृत्य आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये। पटपटा करोति, पटपटा भवति, पटपटा स्यात् इत्यादियों में डाजन्त की पूर्ववत् गतिसञ्ज्ञा तो है परन्तु 'करोति' आदियों के तिङन्त होने के कारण समास नहीं होता, अतः व्यस्त प्रयोग रहते हैं।

अब **कु-गति-प्रादयः** (९४९) के अन्तर्गत प्रादिसमास के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

प्र, परा आदि की **प्रादयः** (५४) से निपातसञ्ज्ञा कर चुके हैं। क्रिया के योग में इन की उपसर्गसंज्ञा एवं गतिसञ्ज्ञा भी हुआ करती है (३५, २०१)। परन्तु जब इन का क्रिया के साथ योग न हो तो ये न तो उपसर्गसञ्ज्ञक होते हैं और न गति-सञ्ज्ञक। तब इन का प्रकृतसूत्रद्वारा समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। यथा—

लौकिकविग्रह—शोभनः पुरुषः—सुपुरुषः (सुन्दर वा भला पुरुष)। अलौकिक-विग्रह—सु+पुरुष सुँ। यहां प्रादियों में पठित 'सु' निपात का 'पुरुष सुँ' इस समर्थ सुँबन्त के साथ **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्रद्वारा नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है।

समासविधान में **प्रादयः** प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'सु' निपात की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् करने पर—सुपुरुष। अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उकार-लोप, सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'सुपुरुषः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

शोभनो राजा—सुराजा (सुन्दर या अच्छा राजा)[1]।

दुष्टो जनः—दुर्जनः (बुरा मनुष्य)[2]।

दुराचारः पुरुषः—दुष्पुरुषः (दुराचारी पुरुष)[3]।

ईषद् उष्णम्—ओष्णम् (कुछ गरम)[4]।

समन्ताद् बद्धम्—आबद्धम् (चहुँ ओर से बान्धा हुआ)।

निन्दितं कृतम्—दुष्कृतम् (निन्दित कार्य)।

निन्दितं दिनम्—दुर्दिनम् (मेघाच्छन्न दिन)[5]।

सुष्ठु उक्तिः—सूक्तिः।

सुष्ठु भाषितम्—सुभाषितम्।

नित्यसमास होने से सर्वत्र अस्वपदविग्रह दर्शाया जाता है।

अब प्रादिसमास के विस्तृत विषय को समझाने तथा व्यवस्थित करने के लिये पाञ्च वार्त्तिकों का अवतरण करते हैं। प्रथमवार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(५८) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥

प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः ॥

---

१. **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से प्राप्त समासान्त टच् का **न पूजनात्** (९९६) से निषेध हो जाता है। इसीप्रकार—अतिराजा में समासान्त का निषेध समझना चाहिये—

अतिशयितो राजा—अतिराजा (श्रेष्ठ राजा)।

२. **दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।**
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ (हितोप० १.८९)

३. **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। एवं दुष्कृत-मित्यत्रापि बोध्यम्।

४. **ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।**
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

इत्यभियुक्तोक्तेरत्राङ् निपातः प्रयुक्तः, तेन **निपात एकाजनाङ्** (५५) इत्यत्र अनाङ् इत्युक्तेः प्रगृह्यत्वं न।

५. **मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्**—इत्यमरः।

अर्थः—गत आदि अर्थों में वर्तमान प्र आदि निपात, प्रथमान्त सुँबन्त के साथ नित्यसमास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक होने से नित्यसमास का विधान करता है। 'गत' (गया हुआ) आदि कई अर्थ है जो शिष्टसम्मत लौकिक प्रयोगों से जाने जा सकते हैं। इन अर्थों में वर्त्तमान 'प्र' आदियों का प्रथमान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य तत्पुरुषसमास होता है। समास नित्य है अतः लौकिकविग्रह स्वपदों से नहीं दर्शाया जा सकता। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः (आगे—दूर गया हुआ आचार्य अर्थात् आचार्य का गुरु, अथवा स्वविषय का पारगामी आचार्य)। अलौकिकविग्रह—प्र + आचार्य सुँ। यहां गत=विप्रकृष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्र' निपात का 'आचार्य सुँ' इस प्रथमान्त समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** (वा० ५८) वार्त्तिक से नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। 'प्रादयः' इस प्रकार प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्र' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर—प्राचार्य। अब प्रातिपदिकत्व के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'प्राचार्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—

(१) प्रगतः पितामहः—प्रपितामहः (परदादा)।
(२) प्रगतो मातामहः—प्रमातामहः (परनाना)।
(३) विप्रकृष्टो देशः—विदेशः (परदेश)।
(४) विरुद्धः पक्षः—विपक्षः (विपरीत पक्ष)।
(५) उपश्लिष्टः पतिः—उपपतिः (जार)।

---

१. बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित का कथन है कि 'प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः' आदि प्रदर्शित लौकिकविग्रहों में 'प्रगतः' में 'प्र=गतः' ऐसा समझना चाहिये अर्थात् 'गतः' के साथ 'प्र' का ग्रहण 'प्र' का अर्थ दर्शाने के लिये किया गया है, लौकिकविग्रह तो 'गत आचार्यः' इतना मात्र है। परन्तु हमारे विचार में ऐसा मानना न तो उचित है और न ही परम्परा के अनुकूल। तब 'विरुद्धः पक्षः—विपक्षः, विरुद्धा माता—विमाता, प्रतिगतो जनः—प्रतिजनः' इत्यादियों में 'रुद्धः पक्षः, रुद्धा माता, गतो जनः' इस प्रकार से लौकिकविग्रह मानना पड़ेगा जो अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। अतः 'प्रगत आचार्यः' इत्यादि को पूरा लौकिकविग्रह मानना ही युक्त है। इस से नित्यसमास के अस्वपदविग्रहत्व को भी कोई क्षति नहीं होती।

(६) प्रकृष्टो वीरः—प्रवीरः (श्रेष्ठ वीर) ।
(७) विरुद्धा माता—विमाता (सौतेली मां) ।
(८) उपोच्चारितं पदम्—उपपदम् (समीप पढ़ा पद) ।
(९) अध्यारूढो दन्तः—अधिदन्तः (दान्त पर दान्त) ।
(१०) प्रकृष्टो यत्नः—प्रयत्नः (विशेष यत्न) ।
(११) प्रततो हस्तः—प्रहस्तः (फैला हुआ हाथ) ।
(१२) अपसारितो हस्तः—अपहस्तः (फैला हुआ हाथ) ।
(१३) प्रतिकृतं प्रियम्—प्रतिप्रियम् (बदले में किया उपकार) ।
(१४) प्रतिगतो जनः—प्रतिजनः (विरोधी पुरुष) ।

द्वितीय वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(५९)—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥

'अतिक्रान्तो मालाम्' इति विग्रहे—

अर्थः—क्रान्त (पार गया हुआ, लाङ्घ चुका हुआ, पारगामी) आदि अर्थों में वर्त्तमान 'अति' आदि निपात, द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक होने से नित्यसमास का विधान करता है। क्रान्त आदि कई अर्थ हैं जो शिष्टप्रयोगों से जाने जा सकते हैं। इन अर्थों में वर्त्तमान 'अति' आदि[1] निपातों का द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्यसमास हो जाता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है । समास नित्य है अतः इस का लौकिकविग्रह अस्वपदों से ही दर्शाया जाता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अतिक्रान्तो मालाम् अथवा मालाम् अतिक्रान्तः (सौन्दर्य या सुगन्ध आदि में माला को मात दे चुका) । अलौकिकविग्रह—माला अम्+अति । यहां क्रान्त (पार कर चुका) अर्थ में वर्तमान 'अति' निपात का 'माला अम्' इस द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिकद्वारा नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है । समास-विधायक इस वार्त्तिक में 'अत्यादयः' प्रथमा-निर्दिष्ट है अतः उस के बोध्य 'अति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०)

---

१. इन वार्त्तिकों में प्रयुक्त प्रादि, अत्यादि, अवादि, पर्यादि तथा निरादि में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है अतः अत्यादियों में केवल 'अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप' इन निपातों का ही ग्रहण नहीं होता बल्कि अन्य प्रादियों का भी ग्रहण हो जाता है । अत एव इस वार्त्तिक के उदाहरणों में 'प्रगतोऽध्वानम्—प्राध्वः, अनुगतः स्वारम्—अनुस्वारः' इत्यादियों को भी दर्शाया जाता है । इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये ।

से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—अति + माला अम् । **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा कर उस के अवयव सुँप् (अम्) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से 'अतिमाला' बना। अब इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९५१) एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते । १।२।४४॥

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं[1] तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः ॥

अर्थः—विग्रह में जो नियतविभक्तिक हो अर्थात् जिस से निश्चित एक ही विभक्ति आती हो उस पद की उपसर्जनसंज्ञा हो, परन्तु उस का पूर्वनिपात न होगा।

व्याख्या—एकविभक्ति ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अपूर्वनिपाते ।७।१। समासे ।७।१। उपसर्जनम् ।१।१। (**प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** से) । एका विभक्तिर्यस्य तद् एकविभक्ति (पदम्), बहुव्रीहिसमासः । पूर्वश्चासौ निपातः पूर्वनिपातः (पूर्वप्रयोग इत्यर्थः), कर्मधारयसमासः । न पूर्वनिपातः—अपूर्वनिपातः, तस्मिन्=अपूर्वनिपाते, नञ्तत्पुरुषसमासः । पर्युदासप्रतिषेधः । पूर्वनिपातभिन्ने कार्ये कर्त्तव्य इत्यर्थः । 'समासे' से यहां समासोन्मुख विग्रहवाक्य ही अभिप्रेत है क्योंकि उस में ही विभक्तियां विद्यमान रहती हैं । अर्थः—(अपूर्वनिपाते कर्त्तव्ये) यदि पूर्वनिपात से भिन्न कोई अन्य कार्य करना हो तो (समासे) समास अर्थात् विग्रहवाक्य में (एकविभक्ति) निश्चित विभक्ति वाला पद (उपसर्जनम्) उपसर्जनसंज्ञक होता है ।

समास के विग्रह में दो पद हुआ करते हैं। इस में निश्चित विभक्ति वाला अर्थात् दूसरे पद के अन्यान्य विभक्तियों में परिणत होने पर भी जो पद अपनी विभक्ति को न छोड़ता हो वह उपसर्जनसंज्ञक होता है। परन्तु इस उपसर्जन का उपयोग **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) द्वारा विहित पूर्वनिपात के लिये नहीं होता, इस से भिन्न कार्यों की कर्त्तव्यता में ही हुआ करता है। यथा—'अतिमाला' समास के विग्रह को लीजिये—मालाम् अतिक्रान्तः—अतिमालः, मालाम् अतिक्रान्तम्—अतिमालम्, मालाम् अतिक्रान्तेन—अतिमालेन, मालाम् अतिक्रान्ताय—अतिमालाय, मालाम् अतिक्रान्तात्—अतिमालात्, मालाम् अतिक्रान्तस्य—अतिमालस्य, मालाम् अतिक्रान्ते—अतिमाले इत्यादि प्रकार से विग्रह[2] में 'माला' शब्द के आगे एक ही निश्चित विभक्ति (द्वितीया) रहती

---

१. नियता=निश्चिता=एकैव विभक्तिर्यस्य तद् नियतविभक्तिकम् (पदम्) ।

२. 'विग्रह' से यहां अलौकिकविग्रह ही अभिप्रेत है, वह ही समासोन्मुख या समास हुआ करता है। परन्तु प्रादिसमास के अलौकिकविग्रह में 'प्र' आदि निपात अव्यय होते हैं अतः उन से आगे लाई गई विभक्तियों का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा लुक् हो जाने से नियतविभक्तिक और अनियतविभक्तिक पदों को ठीक तरह से पहचा-

है परन्तु अतिक्रान्त (अति) की विभक्तियां बदलती रहती हैं, अतः विग्रह में नियत-विभक्ति 'माला' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा हो जाती है परन्तु इस उपसर्जन का **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से पूर्वनिपात नहीं होता (पूर्वनिपात तो समासविधायक वार्त्तिक में प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य उपसर्जन का ही होता है जैसाकि यहां 'अति' पद का हुआ है)। पूर्वनिपात से भिन्न कार्यों में इस का उपयोग होगा। इसी कार्य को दर्शाने के लिये अब अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५२) **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य**।१।२।४८॥

उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। अतिमालः॥

अर्थः—उपसर्जनसंज्ञक गोशब्द या उपसर्जनसंज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक के अन्त्य अच् को ह्रस्व आदेश हो।

व्याख्या—गोस्त्रियोः।६।२। उपसर्जनस्य।६।१। प्रातिपदिकस्य।६।१। ह्रस्वः।१।१। (**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से)। गौश्च स्त्री च गोस्त्रियौ, तयोः=गोस्त्रियोः, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'गो' से गोशब्द तथा 'स्त्री' से **स्त्रियाम्** (१२४८) के अधिकार में विधान किये गये टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन् इन स्त्रीप्रत्ययों का ही ग्रहण किया जाता है न कि स्त्रीशब्द का[1]। 'उपसर्जनस्य' यह 'गोस्त्रियोः' को विशिष्ट करता है। प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होने के कारण एकवचनान्त प्रयोग किया गया है—उपसर्जन-सञ्ज्ञक गोशब्द तथा उपसर्जनसञ्ज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—यह यहां अभिप्रेत है। 'गोस्त्रियोः' यह भी 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(उपसर्जनस्य) उपसर्जनसञ्ज्ञक (गोस्त्रियोः) जो गोशब्द तथा उपसर्जन-सञ्ज्ञक जो स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द तदन्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) तथा **अचश्च** (१.२.२८) परिभाषाओं के बल से प्रातिपदिक के अन्त्य अच् को ही ह्रस्व होता है। उपसर्जनगोशब्दान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व करने का उदाहरण 'चित्रगुः' है जिस की सिद्धि आगे बहुव्रीहिसमास में की जायेगी। यहां प्रकृत में उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्त का उदाहरण प्रस्तुत है—

'अतिमाला' इस समास में 'माला' शब्द की **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१)

नने में कठिनाई होती है इसलिये ठीक प्रकार से अन्तर समझाने के लिये लौकिक-विग्रह का आश्रय लिया जाता है। परन्तु इसे सदा ध्यान में रखना चाहिये कि यह अन्तर वस्तुतः अलौकिकविग्रह में ही होता है जिस की प्रतीति लौकिकविग्रह में स्पष्टतर भासित होती है।

१. इस सूत्र में स्त्रीशब्द स्वरित के चिह्न से चिह्नित है अतः **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) के अनुसार यहां स्त्र्यधिकार का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये **स्त्रियाम्** (१२४८) के अधिकार में पठित उपर्युक्त प्रत्यय ही यहां लिये जाते हैं।

सूत्र से उपसर्जनसंज्ञा की जा चुकी है । यह टाप्प्रत्ययान्त होने से स्त्रीप्रत्ययान्त भी है अतः तदन्त 'अतिमाला' प्रातिपदिक के अन्त्य अच् आकार को प्रकृत **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से ह्रस्व आदेश हो कर—अतिमाल । अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'अतिमालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] ।

इसीप्रकार—

(१) अतिक्रान्तः कोकिलाम्—अतिकोकिलः स्वरः ।

(२) उद्गतो वेलाम्—उद्वेलो नदः (तट से ऊपर आया नद) ।

(३) अतिक्रान्तं मानुषम्—अतिमानुषं चरितम् ।

(४) अतिक्रान्तोऽङ्कुशम्— अत्यङ्कुशो नागः (अङ्कुश को न मानने वाला हाथी) ।

(५) अतिक्रान्तः कशाम्—अतिकशोऽश्वः (चाबुक को न मानने वाला घोड़ा) ।

(६) प्रगतोऽध्वानम्—प्राध्वो रथः (मार्ग पर निकला रथ)[2] ।

(७) अतिक्रान्तो मायाम्—अतिमायः (माया को पार कर चुका) ।

(८) उपगत इन्द्रम्—उपेन्द्रः[3] (इन्द्र का छोटा भाई विष्णु) ।

(९) अधिष्ठितो मूर्धानम्—अधिमूर्धाऽञ्जलिः (सिर पर जुड़े दोनों हाथ)[4] ।

(१०) परिगतो हस्तम्—परिहस्तः कङ्कणः ।

(११) अभिगतो मुखम्—अभिमुखः (सामने गया हुआ)[5] ।

(१२) प्रतिगतोऽक्षम्[6]—प्रत्यक्षः (इन्द्रियों की ओर गया हुआ) ।

---

१. तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार परवल्लिङ्गता अर्थात् उत्तरपद के लिङ्ग के अनुसार लिङ्ग होना चाहिये, परन्तु वह यहां नहीं हुआ । इस का कारण **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) द्वारा गतिसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध करना है । इस निषेध के कारण गतिसमास में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग की व्यवस्था होती है । ध्यान रहे कि वार्त्तिक में गतिसमास से प्रादिसमास ही अभिप्रेत है (यह आगे उस वार्त्तिक की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा) ।

२. यहां **उपसर्गादध्वनः** (९९५) सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय करने पर **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है । इस की विस्तृत सिद्धि (९९५) सूत्र पर देखें ।

३. अदिति माता ने पहले इन्द्र को जन्म दिया और बाद में वामन (विष्णु) को, अतः विष्णु को इन्द्र का अनुज कहते हैं ।

४. **कः शक्रेण कृतं नेच्छेदधिमूर्धानमञ्जलिम्**—(भट्टि० ८.८४) ।

५. **गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत्**—(पञ्च० १.२६०) ।

६. अक्षम् = इन्द्रियम् ।

(१३) अनुगतः स्वारम्—अनुस्वारः (स्वर के पीछे जाने वाला)[1]।
(१४) अतिक्रान्तः सर्वम्—अतिसर्वः।
(१५) उपगता कनिष्ठिकाम्—उपकनिष्ठिका अनामिका[2]।
(१६) अतिक्रान्तम् अर्थम्—अत्यर्थम्।

लक्ष्मीम् अतिक्रान्तः—अतिलक्ष्मीः। यहां विग्रह में लक्ष्मी-शब्द के नियत-विभक्तिक होने से उपसर्जनसंज्ञक होने पर भी **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) द्वारा उपसर्जनह्रस्व नहीं होता, कारण कि लक्ष्मीशब्द स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं अपि तु **लक्षेर्मुट् च** (उणादि ४४०) सूत्र से ई प्रत्यय और उसे मुँट् का आगम करने से बना है। यह 'ई' प्रत्यय **स्त्रियाम्** (१२४८) के अधिकार में नहीं पढ़ा गया। इसीप्रकार—श्रियम् अतिक्रान्तः—अतिश्रीः आदि में जानना चाहिये।

तृतीय वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(६०) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥

अवक्रुष्टः कोकिलया—अवकोकिलः ॥

अर्थः—क्रुष्ट (कूजित, अवधीरित, निन्दित, आहूत) आदि अर्थों में वर्त्तमान 'अव' आदि निपात, तृतीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—**कुगतिप्रादयः** (९४६) सूत्र पर महाभाष्य में पठित यह वार्त्तिक तद्विषयक ही समझना चाहिये। 'अवादयः' में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अवक्रुष्टः कोकिलया (अथवा—कोकिलयाऽवक्रुष्टः) अवकोकिलः (कोयल से कूजित, अवधीरित या निन्दित प्रदेश आदि)। अलौकिकविग्रह—कोकिला टा + अव। यहां 'अव' निपात क्रुष्ट अर्थ में वर्त्तमान है अतः प्रकृत **अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया** (वा० ६०) वार्त्तिक से इस का 'कोकिला टा' इस तृतीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'अव' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव सुँप् का लुक् करने पर—अवकोकिला। अब विग्रहदशा में 'कोकिला' के नियतविभक्ति होने के कारण **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते**

---

१. स्वर एव स्वारः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्। अनुगतः स्वारम् अनुस्वारः। अनुस्वार सदा स्वर के बाद ही प्रयुक्त होता है। कहा भी है—**अचः परावनुस्वारविसर्गौ** (सञ्ज्ञाप्रकरणे)।

२. यहां 'उप+कनिष्ठिका अम्' इस अलौकिकविग्रह में सुँब्लुक् हो कर नियत-विभक्तिक 'कनिष्ठिका' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा तन्मूलक उपसर्जनह्रस्व करने पर विशेष्यानुसार पुनः टाप् हो जाता है।

(९५१) द्वारा उस की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से तदन्त प्रातिपदिक के अन्त्य अच्-आकार को ह्रस्व करने पर 'अवकोकिल' इस स्थिति में **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार सुँप्प्रक्रिया करने से प्रथमा के एकवचन में 'अवकोकिलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

(१) परिणद्धो वीरुद्भिः—परिवीरुत् पादपः (लताओं से घिरा पेड़) ।

(२) सन्नद्धो वर्मणा—संवर्मा शूरः (कवच से सन्नद्ध शूर) ।

(३) उपमितः पत्या—उपपतिः (जार) ।

(४) उपमितः प्रधानेन—उपप्रधानः ।

(५) नियुक्तः कंसेन—निकंसो रक्षिवर्गः ।

(६) नियुक्तो मुनिना—निमुनिः ।

(७) अनुगतम् अर्थेन—अन्वर्थं नाम (अर्थानुसारी नाम) ।

(८) सङ्गतम् अर्थेन—समर्थं पदम् ।

(९) वियुक्तम् अर्थेन—व्यर्थं वचः ।

(१०) सङ्गतम् अक्षेण—समक्षं वस्तु ।

चतुर्थ वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(६१) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥

परिग्लानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः ॥

अर्थः—ग्लान (खिन्न, दुःखी, थका हुआ, उकताया हुआ) आदि अर्थों में वर्त्तमान 'परि' आदि निपात, चतुर्थ्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक भी पूर्ववत् **कुगतिप्रादयः** (९४९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—परिग्लानोऽध्ययनाय[1] (अथवा—अध्ययनाय परिग्लानः)—पर्यध्ययनः (अध्ययन के लिये घबराया या उकताया हुआ) । अलौकिकविग्रह—अध्ययन ङे + परि । यहां 'परि' निपात परिग्लान अर्थ में वर्त्तमान है अतः इस का 'अध्ययन ङे' इस चतुर्थ्यन्त के साथ प्रकृत **पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या** (वा० ६१) वार्त्तिक से नित्यसमास हो जाता है । प्रथमानिर्दिष्ट 'परि' की उपसर्जनसंज्ञा कर उस का पूर्वनिपात किया तो बना—परि + अध्ययन ङे । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङे) का लुक् तथा **इको यणचि** (१५) से यण् और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'पर्यध्ययनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. तादर्थ्येऽत्र चतुर्थी बोध्या ।

ध्यान रहे कि यहां पर भी **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग किया जाता है।

इसीप्रकार—'उद्युक्तः संग्रामाय—उत्सङ्ग्रामः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

पञ्चम वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(६२) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ।।

निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—निष्कौशाम्बिः ।।

अर्थः—क्रान्त (निकला हुआ, बाहर गया हुआ, पार किया हुआ) आदि अर्थों में वर्त्तमान निर् आदि निपात, पञ्चम्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—यह पाञ्चवां वार्तिक भी **कुगतिप्रादयः** (९४९) सूत्र पर महाभाष्य में पठित होने से नित्यसमासविषयक ही समझना चाहिये। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी नगरी से निकला हुआ)। अलौकिकविग्रह—कौशाम्बी ङसिँ + निर्[1]। यहां 'निर्' यह निपात क्रान्त = निष्क्रान्त अर्थ में वर्त्तमान है अतः इस का 'कौशाम्बी ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त के साथ प्रकृत **निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या** (वा० ६२) वार्त्तिकद्वारा नित्यतत्पुरुष समास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'निर्' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर—निर् + कौशाम्बी ङसिँ। अब समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङसिँ) का लुक् कर—निर् + कौशाम्बी। इस समास के विग्रह में कौशाम्बी शब्द नियतविभक्तिक रहता है अतः **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) से इस की उपसर्जनसंज्ञा हो कर स्त्रीप्रत्ययान्त होने से **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अन्त्य ईकार को ह्रस्व आदेश हो जाता है—निर् + कौशाम्बि। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से निर् के रेफ को विसर्ग आदेश एवम् **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) से विसर्ग को षत्व कर विभक्ति लाने से 'निष्कौशाम्बिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां पर भी पूर्ववत् **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) निष्क्रान्तो वाराणस्याः—निर्वाराणसिः।

---

१. यहां 'निस्' निपात भी रखा जा सकता है। तब **ससजुषो रुँः** (१०५) से उस के सकार को रुँत्व (र्) करना पड़ेगा।

(२) निष्क्रान्तो लङ्कायाः—निर्लङ्कः ।
(३) निष्क्रान्ता विन्ध्यात्—निर्विन्ध्या नदी ।[1]
(४) निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः—निस्त्रिंशः खड्गः ।[2]
(५) उत्क्रान्तं सूत्रात्—उत्सूत्रं वचः ।[3]
(६) उत्क्रान्तः शृङ्खलायाः—उच्छृङ्खलः कलभः ।
(७) उत्क्रान्ता कुलात्—उत्कुला कुलटा ।
(८) उत्क्रान्तो वेलायाः—उद्वेलः समुद्रः ।
(९) अपगतः शाखाभ्यः—अपशाखो वानरः ।
(१०) अपगतं क्रमात्—अपक्रमं कार्यम् ।
(११) अपगतम् अर्थात्—अपार्थं वचः (अर्थहीन वचन) ।

अभ्यास [४]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. उपमानानि सामान्यवचनैः । २. एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते । ३. ऊर्यादिच्विडाचश्च । ४. विशेषणं विशेष्येण बहुलम् । ५. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । ६. नञ् । ७. दिक्संख्ये संज्ञायाम् । ८. तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । ९. कुगतिप्रादयः । १०. गोरतद्धितलुकि । ११. दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः । १२. तद्धितेष्वचामादेः । १३. तस्मान्नुडचि । १४. न लोपो नञः ।

(२) निम्नस्थ समासों की द्विविधविग्रहनिर्देश करते हुए ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. पौर्वशालः । २. शाकपार्थिवः । ३. घनश्यामः । ४. पञ्चगवधनः ।

---

१. **वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः**
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्त्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ (मेघ० १.२८)

२. **संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः** इति वार्त्तिकेन समासान्ते डचि टेर्लोपः । जो तीस अङ्गुलियों से निकल चुका है अर्थात् खड्ग । खड्ग (तलवार) का माप तीस अङ्गुल से अधिक ही हुआ करता है, छोटे को छुरिका कहा जाता है । तलवार की तरह क्रूर कर्म करने वाले निर्दय पुरुष को भी उपचार से 'निस्त्रिंश' कह दिया जाता है—**निस्त्रिंशो निर्घृणे खड्गे** इति हैमः । निस्त्रिंश का प्रयोग इस प्रकार भी हुआ करता है—निर्गतानि त्रिंशतोऽब्देभ्यः—निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य (देवदत्त का वय तीस वर्षों से ऊपर है) ।

३. **यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत** (महाभाष्ये पस्पशा०) । जो सूत्रविरुद्ध कहेगा उस का वचन नहीं माना जायेगा ।

५. कुपुरुषः । ६. सप्तर्षयः । ७. पटपटाकृत्य । ८. नीलोत्पलम् । ९. देव-ब्राह्मणः । १०. पूर्वेषुकामशमी । ११. अतिमालः । १२. शुक्लीकृत्य । १३. सुपुरुषः । १४. कृष्णसर्पः । १५. अनश्वः । १६. षाण्मातुरः । १७. निष्कौ-शाम्बिः । १८. नैकधा । १९. अवकोकिलः । २०. ऊरीकृत्य । २१. पञ्च-गवम् । २२. पर्यध्ययनः । २३. प्राचार्यः । २४ नवग्रहाः ।

(३) **कुगतिप्रादयः** सूत्र पर दिये गये पाञ्च वार्त्तिकों का सार्थ उल्लेख करते हुए प्रत्येक का एक-एक उदाहरण प्रदर्शित करें।

(४) निम्नस्थ वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—
 (क) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ।
 (ख) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।
 (ग) शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् ।

(५) मध्यमपदलोपिसमास किसे कहते हैं ? सोदाहरण विवेचन करें ।

(६) द्विगुसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** से लिङ्गव्यवस्था होगी या नहीं ? सप्रमाण विवेचन करें ।

(७) कर्मधारय, द्विगु, उपसर्जन और गति—इन संज्ञाओं के विधायकसूत्रों का सार्थ सोदाहरण विवेचन करें ।

(८) एकसञ्ज्ञाधिकार के प्रकरण में गति और निपात दोनों सञ्ज्ञाओं का समावेश कैसे हो जाता है ? स्पष्ट करें ।

(९) निम्नस्थ प्रश्नों का संक्षिप्त यथोचित उत्तर दीजिये—
 [क] 'रामो जामदग्न्यः' में समास क्यों नहीं होता ?
 [ख] 'नैकधा-अनेकधा' के समासों में कैसे प्रक्रियाभेद माना जाता है ?
 [ग] 'पञ्च ब्राह्मणाः' में समास क्यों नहीं होता ?
 [घ] **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** में 'बहुलम्' क्यों कहा गया है ?
 [ङ] 'अतिमालः' आदि में परवल्लिङ्गता क्यों नहीं होती ?
 [च] 'अनागत्य' में नञ्समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् कैसे हो जाता है ?
 [छ] **न लोपो नञः** में 'नलोपः' को एकपद क्यों नहीं मानते ?
 [ज] 'कापुरुषः—कुपुरुषः' इन दोनों में कौन सा रूप व्याकरणसम्मत है ?
 [झ] उपसर्जनसंज्ञा होने पर भी कहां पूर्वनिपात नहीं होता ?

(१०) अर्थाभाव अर्थ में वर्त्तमान नञ् का सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास होगा या अव्ययीभाव ? सहेतुक स्पष्ट करें ।

(११) विशेषणविशेष्यसमास में पूर्वनिपात पर प्रकाश डालें ।

(१२) अत्यादि, अवादि, निरादि—इन में आदि शब्द का क्या अभिप्राय है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१३) संज्ञा न होने पर भी 'त्रिलोक:' आदि में समास कैसे हो जाता है ?

(१४) संज्ञाविधि होते हुए भी **ऊर्यादिच्विडाचश्च** सूत्र में प्रत्ययों से तदन्तों का ग्रहण कैसे हो जाता है ? स्पष्ट करें ।

(१५) निम्नस्थ विग्रहों में समास का निर्देश करें—कुत्सितम् अन्नम् । पाचक-श्चासौ खञ्जश्च । शाकभोजी ब्राह्मण: । उत्क्रान्तं सूत्रात् । त्रयाणां लोकानां समाहार: । निर्गतो वाराणस्या: । प्रगत: पितामह: । पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम् । द्व्यधिका दश । कुत्सितो रथ: । पञ्चसु कपालेषु संस्कृत: । षण्णाम्मातॄणामपत्यम् । प्रगतोऽध्वानम् । व्यास: पाराशर्य: [?] । महान् वृक्ष: । अनुगत: स्वारम् । नीरद इव श्याम: ।

(१६) अष्टानामध्यायानां समाहार:—अष्टाध्यायी । यहां द्विगुसमास में नपुंसक का प्रयोग क्यों नहीं हुआ ?

(१७) त्रिविध द्विगुसमास का एक एक उदाहरण दीजिये ।

(१८) व्यधिकरण और समानाधिकरण तत्पुरुषों में क्या अन्तर होता है ?

(१९) कर्मधारयसमास में लौकिकविग्रहों को प्रदर्शित करने के दोनों प्रकार सोदाहरण लिखें ।

(२०) **उपमानानि सामान्यवचनैः** में सामान्यवचन का तात्पर्य अपने शब्दों में स्पष्ट करें । अथवा—उपमानवाचकों का सामान्यवचनों के साथ सामानाधिकरण्य कैसे स्थापित किया जाता है ?

(२१) **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** इस नियम के कारण प्रक्रिया में क्या अन्तर पड़ता है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(२२) उत्तरपद के परे रहते **तद्धितार्थोत्तरपद०** सूत्रद्वारा किया जाने वाला समास नित्य होगा या वैकल्पिक ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(२३) **नञर्था: षट् प्रकीर्तिता:**—इस की सोदाहरण व्याख्या करें ।

———:o o:———

अब तत्पुरुषसमास के अन्तर्गत उपपदसमास का वर्णन करने के लिये सर्वप्रथम उपपदसंज्ञा का निरूपण करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(९५३) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३।१।९२॥**

सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि' इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि, तद्वाचकं पदम् उपपदसञ्ज्ञं स्यात् (तस्मिन् सत्येव वक्ष्यमाणा: प्रत्यया: स्यु:) ॥

अर्थ:—**धातो:** (७६६) अधिकार के अन्तर्गत **कर्मण्यण्** (७९०) आदि सूत्रों में 'कर्मणि' आदि सप्तम्यन्त पदों का वाच्य जो कुम्भ आदि वस्तु, तद्वाचक पद उपपद-

सञ्ज्ञक हो (किञ्च इस उपपद के होने पर ही तत्तत्सूत्रों से वक्ष्यमाण प्रत्यय हों अन्यथा नहीं)।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम्। उपपदम्।१।१। सप्तमीस्थम्।१।१। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से अव्यवहित पूर्व **धातोः** (३.१.९१) का अधिकार चलाया जा चुका है—यहां से लेकर तृतीयाध्याय की समाप्ति तक जिन प्रत्ययों का वर्णन किया जाये वे धातु से परे हों। इसी अधिकार के अन्तर्गत यह दूसरा अधिकार चला रहे हैं—यहां से आगे इस धात्वधिकार के अन्तर्गत सूत्रों में जहां जहां सप्तम्यन्त पद प्रयुक्त मिले [यथा—**कर्मण्यण्** (७९०) में 'कर्मणि', **प्रियवशे वदः खश्** (७९८) में 'प्रियवशे', **सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये** (८०३) में 'सुँपि', **करणे यजः** (८०७) में 'करणे', **सप्तम्यां जनेर्डः** (८११) में 'सप्तम्याम्' आदि] तो उस पद से बोध्य जो अर्थ तद्वाचक पदों की उपपदसञ्ज्ञा हो। सप्तमीस्थम्—यहां 'सप्तमी' से प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा सप्तम्यन्त का ग्रहण अभीष्ट है। सप्तम्यां (सप्तम्यन्ते) तिष्ठतीति सप्तमीस्थम्। 'कर्मणि' आदि उपर्युक्त सप्तम्यन्त पद हैं। उन में रहने वाला कुम्भ आदि वाच्य वस्तु ही सप्तमीस्थ कहलायेगी। परन्तु यहां शब्दशास्त्र में वाच्य पदार्थों से कोई काम लिया नहीं जा सकता, अतः उन उन वाच्य वस्तुओं के वाचक शब्दों से ही यहां काम लेना पड़ता है। तो इस प्रकार लक्षणा से 'सप्तमीस्थम्' का अर्थ होगा—'कर्मणि' आदि पदों का वाच्य जो कर्मीभूत कुम्भ (घट) आदि वस्तु, तद्वाचक शब्द। अष्टाध्यायी के प्रकृत पाद में तीन धात्वधिकार हैं—(१) **धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा** (७०५), (२) **धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (७११), (३) **धातोः** (७६६)। इन तीन अधिकारों में से प्रत्यासत्ति (सामीप्य) न्याय के कारण तीसरा **धातोः** वाला अधिकार ही यहां गृहीत होता है। इसी अधिकार को ही उपपदसंज्ञा का क्षेत्र माना जायेगा, इस से पूर्व के दोनों अधिकारों को नहीं। उक्त **धातोः** अधिकार की अनुवृत्ति आ कर सूत्र का यह अर्थ होगा। **अर्थः**—**धातोः** अधिकार के अन्तर्गत (सप्तमीस्थम्) सप्तम्यन्त 'कर्मणि' आदि जो पद उस का वाच्य कुम्भ आदि जो वस्तु, तद्वाचक पद (उपपदम्) उपपदसञ्ज्ञक होता है और (तत्र—तस्मिन् सत्येव) उस उपपद के रहते हुए ही तत्तत्सूत्रों से अण् आदि प्रत्यय होते हैं[1]। उदाहरणार्थ **धातोः** (७६६) अधिकार के

---

१. 'तत्र' शब्द में भावसप्तमी या सतिसप्तमी के स्थान पर ही **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय हुआ है। 'तत्र' पद सूत्र में भिन्नक्रम में प्रयुक्त हुआ है। इस का अर्थ है—'उस के होने पर' अर्थात् जिस की उपपदसञ्ज्ञा की जा रही है उस उपपद के होने पर ही सूत्रद्वारा प्रत्यय का विधान होगा अन्यथा नहीं—यह यहां 'तत्र' का अभिप्राय है। 'तत्र' शब्द पूर्वोक्त अधिकार को निर्दिष्ट करने के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ वह तो अनुवृत्त्या लब्ध है ही।

अन्तर्गत **कर्मण्यण्** (७६०) सूत्र को लेते हैं। इस सूत्र में 'कर्मणि' यह सप्तम्यन्त पद है, इस 'कर्मणि' से बोध्य कर्मीभूत पदार्थों के वाचक कुम्भ आदि शब्दों की यहां उपपद सञ्ज्ञा की जाती है। इस उपपद के होने पर ही **कर्मण्यण्** (७६०) सूत्र से अण् प्रत्यय किया जायेगा, विना इस के अण् प्रत्यय न होगा। उदाहरण यथा—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः, सूत्रं करोतीति सूत्रकारः आदि। उपपदसंज्ञा करने का मुख्य प्रयोजन 'कार' आदि प्रत्ययान्त भागों के साथ 'कुम्भ' आदि उपपदों का समास करना ही प्रायः हुआ करता है जो अग्रिमसूत्रद्वारा स्पष्ट किया जायेगा।

शेखरकार आदियों ने महाभाष्यानुसार इसे अधिकारसूत्र माना है। इस अधिकार की **कर्मण्यण्** (७६०) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति जायेगी तो वहां का सप्तम्यन्त पद प्रथमान्त में परिणत हो जायेगा, क्योंकि सप्तमी लगाने का प्रयोजन तो उपपदसंज्ञा करना ही हुआ करता है। तब वहां का सूत्रार्थ इस प्रकार का हो जायेगा—कर्म की उपपदसंज्ञा है, इस उपपद के होने पर ही धातु से परे कर्त्ता अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।[1]

मोटे रूप में इस सूत्र से दो कार्य सिद्ध किये जाते हैं—

[क] **धातोः** (७६६) अधिकार के अन्तर्गत **कर्मण्यण्** (७६०) आदि सूत्रों में सप्तम्यन्त 'कर्मणि' आदि की उपपदसंज्ञा की जाती है (वस्तुतः प्रक्रियादशा में 'कर्मणि' आदि से बोध्य कुम्भ आदि पदों की ही उपपदसञ्ज्ञा हुआ करती है)।

[ख] 'तत्र' के कारण सूत्रों में कथित उपपदों के होने पर ही तत्तत्सूत्रों द्वारा अण् आदि प्रत्यय किये जाते हैं केवल निर्दिष्ट धातुओं से नहीं। यथा—**कर्मण्यण्** (७६०) द्वारा कर्म के उपपद रहते कुम्भकारः आदि में तो अण् प्रत्यय हो जाता है परन्तु

---

१. परन्तु यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इस धात्वधिकार के अन्तर्गत सूत्रों में आने वाले प्रत्येक सप्तम्यन्त पद को उपपद नहीं माना जा सकता। कई जगह मुनि ने अर्थनिर्देश के लिये भी सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग किया है। यथा—**दाम्-नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे** (८४४) सूत्र में 'करणे' पद करण अर्थ में प्रत्ययविधान के लिये है, करणोपपद के लिये नहीं। इसीप्रकार—**नपुंसके भावे क्तः** (८७०) में 'भावे' पद, **गेहे कः** (७८६) में 'गेहे' पद, **धः कर्मणि ष्ट्रन्** (३.२.१८१) में 'कर्मणि' पद, **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) में 'स्त्रियाम्' पद अर्थपरक ही हैं उपपद नहीं। इसीलिये तो मुनि ने घु, टि, भ आदि की भांति एकमात्रिक छोटी सञ्ज्ञा न बना कर 'उपपद' इतनी बड़ी सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है जिस से इस की अन्वर्थताद्वारा सप्तम्यन्त पदों के उपपदत्व का ठीक ठीक निर्णय किया जा सके। उप (समीपे) उच्चारितं पदम्—उपपदम्। जो धात्वादि के समीप लोक में उच्चारित किया जाता है उसे 'उपपद' कहते हैं। इस से शिष्टप्रयोगों को देख कर ही उपपदत्व को समझने का प्रयत्न करना चाहिये केवल सप्तम्यन्तता देख कर नहीं।

उपपद के विना 'करोतीति कारः' यह नहीं बनता।[1]

अब उपपद का अगले प्रत्ययान्त भाग के साथ समास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५४) उपपदमतिङ् ।२।२।१९।।

उपपदं सुँबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ॥

अर्थः—उपपदसञ्ज्ञक सुँबन्त, समर्थ शब्द के साथ नित्य तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है और यह समास अतिङन्त होता है।

व्याख्या—उपपदम् ।१।१। अतिङ् ।१।१। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। समर्थेन ।३।१। (**समर्थः पदविधिः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् (**नित्यं क्रीडाजीविकयोः** से)। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से)। तत्पुरुषः ।१।१। (यह अधिकृत है)। 'सुँप्' यह 'उपपदम्' का विशेषण है, प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा तदन्तविधि हो कर 'सुँबन्तम् उपपदम्' प्राप्त हो जाता है। 'अतिङ्' यह 'समास' का विशेषण है। अविद्यमानं तिङ् (तिङन्तम्) यस्मिन् सः=अतिङ्, बहुव्रीहिसमासः। तिङन्ताऽघटित इत्यर्थः। **अर्थः**— (उपपदम्) उपपदसंज्ञक (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (समर्थेन) समर्थ शब्द के साथ (नित्यम्) नित्य (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (अतिङ्=अतिङन्तः) अतिङन्त होता है अर्थात् इस में कोई तिङन्त नहीं होता। यहां 'अतिङ्' ग्रहण के कारण **सह सुँपा** (९०६) से 'सुँपा' पद का अनुवर्त्तन नहीं होता, क्योंकि यदि उस का अनुवर्त्तन होता तो सुँबन्त का सुँबन्त के साथ समास होने से यह समास अतिङन्त तो अपने आप ही होता पुनः इसे 'अतिङ्' क्यों कहते? 'अतिङ्' कथन से यहां 'सुँपा' का अनुवर्त्तन नहीं होता यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। परन्तु उपपद तो सुँबन्त ही अभीष्ट है, इस के लिये **सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** (२.१.२) से 'सुँप्' का अनुवर्त्तन होता ही है। यदि यहां भी 'सुँप्' का अनु-

---

१. कुछ लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि प्रकृतसूत्र में 'तत्र' ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है, **धातोः** (७६६) यह अधिकार तो अनुवृत्तिलब्ध है ही? इस का समाधान यह है कि 'तत्र' का ग्रहण धात्वधिकार को निर्दिष्ट करने के लिये नहीं किया गया वह तो अनुवृत्तिलब्ध है ही। इस के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जिस प्रत्यय के विधान के साथ जो उपपद लगा है उस उपपद के होने पर ही उस प्रत्यय की प्रवृत्ति हो, उपपद के विना प्रत्यय की प्रवृत्ति न हो। यदि प्रकृतसूत्र के अन्तर्गत 'तत्र' का अधिकार न चलाते तो **कर्मण्यण्** (७९०) में 'कर्मणि' पद के सप्तम्यन्त होने के कारण उपपदसंज्ञा तो होती पर प्रत्ययविधान में कर्मीभूत इस उपपद की अनिवार्यता न होती। अतः उपपद होने या न होने दोनों अवस्थाओं में अण् हो जाता जो दूसरी अवस्था में नितान्त अनिष्ट था। इसे रोकने के लिये ही 'तत्र' का अधिकार चलाया गया है।

वर्त्तन नहीं करेंगे तो उपपद में पदत्व न होने से 'चर्मकारः, राजयुध्वा' आदि में **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का लोप न हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि इस उपपदसमास में पूर्वपद तो सुँबन्त होगा परन्तु उत्तरपद केवल समर्थ शब्द ही होगा न कि सुँबन्त, इस तरह यह समास अतिङ् (अतिङन्त) होना चाहिये। दूसरे शब्दों में इस उपपदसमास का उत्तरपद कहीं तिङन्त न हो जाये इस के लिये सूत्र में 'अतिङ्' कहा गया है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (कुम्भ अर्थात् घट को बनाने वाला—कुम्हार)। यहां **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) अधिकार के अन्तर्गत 'कुम्भ' कर्म के उपपद होने पर 'कृ' (**डुकृञ् करणे** तना० उभय०) धातु से **कर्मण्यण्** (७९०) सूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में कृत्सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अचो ञ्णिति** (१८२) से ऋवर्ण को वृद्धि-रपर (आर्) करने पर 'कार' बन जाता है। 'कार' यह कृदन्त है, कृदन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) सूत्रद्वारा कर्मीभूत कुम्भशब्द से षष्ठी-विभक्ति ला कर 'कुम्भ ङस्+कार' यह अलौकिकविग्रह स्थापित होता है। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) इस प्रकृतसूत्र से 'कुम्भ ङस्' इस उपपदसंज्ञक सुँबन्त का 'कार' इस समर्थ शब्द (न कि सुँबन्त) के साथ नित्य तत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट उपपद की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुंप् (ङस्) का लुक् करने पर 'कुम्भकार' शब्द निष्पन्न होता है। पुनः प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने पर 'कुम्भकारः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) सूत्रं करोतीति सूत्रकारः।[1]

(२) गां ददातीति गोदः।[2]

(३) कुरुषु चरतीति कुरुचरः।[3]

(४) यशः करोतीति यशस्करी विद्या।[4]

(५) सोमेन इष्टवान् इति सोमयाजी।[5]

(६) पारं दृष्टवान् इति पारदृश्वा।[6]

---

१. **कर्मण्यण्** (७९०) इति अण्प्रत्ययः।

२. **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) इति कप्रत्ययः।

३. **चरेष्टः** (७९२) इति टप्रत्ययः।

४. **कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु** (७९४) इति टप्रत्ययः।

५. **करणे यजः** (८०७) इति णिनिँप्रत्ययः।

६. **दृशेः क्वनिँप्** (८०८) इति क्वनिँप् प्रत्ययः।

(७) राजानं योधितवान् इति राजयुध्वा ।[1]
(८) सरसि जातम् इति सरसिजम् ।[2]
(९) प्रियं वदतीति प्रियंवदः ।[3]
(१०) वशं वदतीति वशंवदः ।[4]
(११) भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः ।[5]
(१२) कटं प्रवते इति कटप्रूः ।[6]
(१३) मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः ।[7]
(१४) उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति उष्णभोजी ।[8]
(१५) पण्डितमात्मानं मन्यते इति पण्डितम्मन्यः ।[9]

ये सब उपपदसमास के उदाहरण हैं । इन की सिद्धि इस व्याख्या के कृदन्त-प्रकरण में तत्तत्सूत्रों की व्याख्या के प्रसङ्ग में की जा चुकी है, विशेषजिज्ञासु वहीं देखें ।

इस उपपदसमास को अतिङ् अर्थात् तिङ्रहित कहा गया है । इसे प्रत्युदाहरण-द्वारा समझाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् । माङि लुङ् (४३५) इति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम् ॥

व्याख्या—यदि **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र में उपपदसमास को अतिङ् (अविद्यमानं तिङ्=तिङन्तं यस्मिन् सोऽतिङ्) न कहते तो 'मा भवान् भूत्' (आप मत हों) यह प्रयोग उपपन्न न हो सकता । यहां **माङि लुँङ्** (४३५) सूत्रद्वारा माङ् के उपपद रहते भूधातु से लुँङ् का प्रयोग किया गया है । **न माङ्योगे** (४४१) से अट् का आगम नहीं हुआ । **माङि लुँङ्** (४३५) सूत्र में 'माङि' पद सप्तमीनिर्दिष्ट होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) द्वारा उपपदसंज्ञक है, अतः इस उपपद के होने पर ही धातु से परे लुँङ् प्रयुक्त हुआ है । परन्तु उपपद माङ् का 'भूत्' इस तिङन्त के साथ उपपदसमास

---

१. **राजनि युधि-कृञः** (८०९) इति क्वनिँप्प्रत्ययः ।
२. **सप्तम्यां जनेर्डः** (८११) इति डप्रत्ययः ।
३. **प्रियवशे वदः खच्** (७९८) इति खच्प्रत्ययः ।
४. **प्रियवशे वदः खच्** (७९८) इति खच्प्रत्ययः ।
५. **भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु च** (७९३) इति टप्रत्ययः ।
६. **क्विँब्वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च** (वा० ४८) इति क्विँप्प्रत्ययः ।
७. **मूलविभुजादिभ्यः कः** (वा० ४७) इति कप्रत्ययः ।
८. **सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये** (८०३) इति णिनिँप्रत्ययः ।
९. **आत्ममाने खश्च** (८०५) इति खशप्रत्ययः ।

नहीं हुआ, कारण कि समासविधायक **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र में 'अतिङ्' कहा गया है अर्थात् इस समास में कोई पद तिङन्त नहीं हो सकता । तभी तो दोनों के मध्य में 'भवान्' पद आ सका है वरन् समासदशा में वह मध्य में कैसे आता ? इसीप्रकार— 'मा त्वं कार्षीः, मा त्वं रोदीः, मा भवान् गमत्' आदियों में समझना चाहिये ।

कारको व्रजति (करने के लिये जाता है) । यहां 'व्रजति' इस क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते भविष्यत्कालिक 'कृ' धातु से कर्त्ता अर्थ में **तुमुँण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्** (८४९) सूत्र से ण्वुल्प्रत्यय हो कर वु को अक तथा धातु को वृद्धि करने पर 'कारक' सिद्ध हुआ है । यहां भी 'व्रजति' उपपद का 'कारक' के साथ समास नहीं होता । क्यों नहीं होता ? इसलिये नहीं कि सूत्र में 'अतिङ्' कहा गया है, बल्कि इस कारण कि उपपद सुँबन्त का ही समर्थ शब्द के साथ समास कहा गया है । यहां 'व्रजति' उपपद तो है पर सुँबन्त नहीं । अतः असुँबन्तत्व के कारण समास प्राप्त ही नहीं होता । ध्यान रहे कि यदि समास हो जाता तो 'व्रजति' उपपद ही पूर्व में प्रयुक्त होता तब 'कारको व्रजति' न हो सकता ।

उपपदमतिङ् (९५४) में 'सुँपा' की अनुवृत्ति न लाने के कारण उपपद का तिङन्त के साथ भी समास प्रसक्त होता था जो अनिष्ट था इस अनिष्ट की निवृत्ति सूत्रकार ने सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण कर के कर ली है । परन्तु इस से अच्छा तो यही होता कि 'सुँपा' की अनुवृत्ति ला कर उपपद का सुँबन्त के साथ समास विधान करते, इस से तिङन्त के साथ समास की प्रसक्ति ही न होती और न ही सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण करना पड़ता । परिणामतः इस सारे झञ्झट को करने में सूत्रकार का उद्देश्य ही क्या है ? वे उपपद का सुँबन्त के साथ समास करना क्यों नहीं चाहते ? इस तरह की शङ्काओं की निवृत्ति के लिये ग्रन्थकार एक प्राचीन परिभाषा को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः (प०) ॥

व्याघ्री । अश्वक्रीती । कच्छपी । इत्यादि ॥

अर्थः गति, कारक और उपपद—इन का कृदन्तों के साथ यदि समास करना हो तो कृदन्तों से सुँप् लाने से पूर्व ही अर्थात् असुँबन्त कृदन्तों के साथ ही समास करना चाहिये ।

व्याख्या—प्राचीन आचार्यों द्वारा परिपठित यह एक परिभाषा है । **उपपदमतिङ्** (९५४) में 'अतिङ्' का ग्रहण कर आचार्य पाणिनि भी एकदेशानुमति के द्वारा इस परिभाषा का अनुमोदन करते प्रतीत होते हैं । गति, कारक और उपपद ये पूर्वपद तो सुँबन्त होंगे ही, पर इन के साथ जुड़ने वाला उत्तरपद यदि कृदन्त होगा तो उस के आगे सुँप् (विभक्ति) लाने से पूर्व ही अर्थात् कृदन्त की असुँप्-अवस्था में ही समास हो जायेगा । समास में **सह सुँपा** (९०६) द्वारा प्रवर्तित साधारण नियम तो यह है कि पूर्वपद और उत्तरपद दोनों के सुँबन्त होने पर ही समास हुआ करता है । परन्तु यहां

गति, कारक और उपपदों का असुँबन्त कृदन्तों के साथ समस्त होना कहा गया है। इस तरह समस्त शब्दों से स्त्रीप्रत्यय करने में प्रमुख अन्तर पड़ता है जो आगे के तीन उदाहरणों में स्पष्ट है।

प्रथम उदाहरण (उपपद और गति का कृदन्त के साथ)—

लौकिकविग्रह—वि=विशेषेण आ=समन्ताद् जिघ्रतीति—व्याघ्री (जो विशेष कर चहुँ ओर सूंघती है—बाघ की मादा)। यहां आङ् उपसर्ग के उपपद रहते **आतश्चोपसर्गे** (७८८) सूत्रद्वारा **घ्रा गन्धोपादाने** (भ्वा० परस्मैं०) धातु से कृत्सञ्ज्ञक 'क' प्रत्यय कर ककार अनुबन्ध का लोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८६) से धातु के आकार का भी लोप करने से—आ+घ्र्+अ='आ+घ्र' इस अलौकिकविग्रह में उपपदसञ्ज्ञक (६५३) आङ् उपसर्ग का 'घ्र' इस कृदन्त के साथ कृदन्त से विभक्ति लाने से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (६५४) सूत्र से नित्य समास हो 'आघ्र' बन जाता है[1]। पुनः **गतिश्च** (२०१) द्वारा गतिसंज्ञक 'वि' का 'आघ्र' इस कृदन्त के साथ विभक्ति लाने से पूर्व ही **कु-गति-प्रादयः** (६४६) से नित्यसमास तथा **इको यणचि** (१५) से 'वि' के इकार को यण्=यकार करने पर—व्याघ्र। इस तरह व्याघ्रशब्द दो तरह के समास करने से निष्पन्न होता है। अब समासत्वात् प्रातिपदिकत्व के कारण इस से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में विभक्ति लाने से पूर्व ही लिङ्गव्यवस्था करनी उचित है। हमें व्याघ्र से स्त्रीत्व विवक्षित है अतः **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र से जातिलक्षण ङीष् प्रत्यय लाने पर ङीष् के अनुबन्धों (ङकार और षकार) का लोप तथा **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से ईकार के परे रहते भसंज्ञक अकार का लोप करने से—व्याघ्र्+ई=व्याघ्री। पुनः ङयन्त होने से विभक्ति की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में सुँ ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से सकार का लोप करने पर 'व्याघ्री' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'व्याघ्री' में 'घ्र' के साथ पहले आङ् का उपपदसमास (या गतिसमास) तथा बाद में 'आघ्र' के साथ 'वि' का गतिसमास किया गया है। दोनों समास प्रकृत परिभाषा के कारण कृदन्तों से सुँप् की उत्पत्ति से पूर्व ही किये गये हैं। यदि कृदन्तों से सुँबुत्पत्ति के बाद समास होता तो सुँबुत्पत्ति से पूर्व 'घ्र' कृदन्त से स्त्रीप्रत्यय करना पड़ता[2], तब 'घ्र' के जातिवाचक न होने से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) द्वारा उस से जातिलक्षण ङीष् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् ही होता। इस तरह 'व्याघ्री' न बन कर 'व्याघ्रा' ही बनता जो अनिष्ट था। इस से बचने के लिये सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही कृदन्तों के साथ गति और उपपद का समास विधान किया गया है।

---

१. अथवा—यहां **कु-गति-प्रादयः** (६४६) से ही गतिसमास हो जाता है।

२. क्योंकि विभक्ति लाने से पूर्व लिङ्ग और संख्या का निश्चित हो जाना आवश्यक हुआ करता है।

द्वितीय उदाहरण (कारक का कृदन्त के साथ) यथा—

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्र्या० उभय०) धातु से भूतकाल में कर्म में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कृत्संज्ञक क्तप्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप, इट्निषेध तथा क्त के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण (३८८) का भी **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो कर 'क्रीत' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । अब तृतीयान्त के साथ 'क्रीत' का समास करते हैं । लौकिकविग्रह—अश्वेन क्रीता अश्वक्रीती (घोड़े के द्वारा खरीदी गई भूमि, स्त्री आदि) । अलौकिकविग्रह—अश्व टा + क्रीत । 'अश्व टा' में करणकारक में तृतीया की गई है । इस करणतृतीयान्त पद का **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्रद्वारा 'क्रीत' इस कृदन्त के साथ **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुँबुत्पत्तेः** इस प्रकृत परिभाषा के अनुसार क्रीत से सुँबुत्पन्न होने से पहले ही विकल्प से तत्पुरुष-समास हो जाता है । समासपक्ष में समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (टा) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने पर 'अश्वक्रीत' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है । पुनः **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय के अनुसार समास की प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में विभक्ति लाने से पूर्व लिङ्ग की व्यवस्था करनी आवश्यक होती है । यहां हमें स्त्रीत्व विवक्षित है अतः **क्रीतात् करणपूर्वात्** (१२६४) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों (ङकार और षकार) का लोप तथा **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप करने से—अश्वक्रीत् + ई = अश्वक्रीती । अब प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप करने से 'अश्वक्रीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां समास से पूर्व कृदन्त 'क्रीत' शब्द से यदि सुँप् आते तो उस से पूर्व स्त्रीप्रत्यय अवश्य कर्त्तव्य होता, तब स्त्रीत्व की विवक्षा में 'क्रीत' शब्द से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् प्रत्यय ही होता, **क्रीतात्करणपूर्वात्** (१२६४) से ङीष् नहीं, क्योंकि तब वह अकेला 'क्रीत' था उस से पूर्व करणकारक जुड़ा नहीं था । इस प्रकार 'अश्व टा + क्रीता सुँ' इस अलौकिकविग्रह से 'अश्वक्रीता' बनता 'अश्वक्रीती' नहीं । अतः कारकों का भी कृदन्तों के साथ तभी समास हो जाता है जब कृदन्तों से अभी सुँप् की उत्पत्ति न हुई हो[1] । वरन् सुँब्विधान से पूर्व स्त्रीप्रत्ययों के अवश्यम्भावी होने से कई जगह उन के विधान में अन्तर पड़ सकता है ।

तृतीय उदाहरण (उपपद का कृदन्त के साथ) यथा—

लौकिकविग्रह—कच्छेन पिबतीति कच्छपी (कच्छ के द्वारा पीने वाली)[2] ।

---

१. परिभाषागत कारकांश में **कर्तृ-करणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण इस परिभाषा को पाणिनिसम्मत कहा जाता है ।

२. कच्छेन = मुखसम्पुटेन पिबतीति कच्छपी । यद्वा—कच्छम् आत्मनो मुखसम्पुटं

'कच्छ टा' इस सुँबन्त के उपपद रहते **पा पाने** (भ्वा० परस्मै०) धातु से **सुँपि स्थः** (३.२.४) के योगविभाग 'सुँपि' अंश के द्वारा 'क' प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) सूत्र से धातु के आकार का लोप करने से—कच्छ टा + प् अ = 'कच्छ टा + प' यह अलौकिकविग्रह स्थापित हुआ। यहां 'प' यह कृदन्त है। 'कच्छ टा' इस सुँबन्त उपपद का **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस प्रकृत परिभाषा की सहायता से कृदन्त से सुँबुत्पत्ति होने से पूर्व ही 'प' कृदन्त के साथ **उपपदमतिङ्** (९५४) द्वारा नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। समास में उपपद की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने पर 'कच्छप' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से विभक्ति लाने से पूर्व लिङ्ग की अवश्यकर्त्तव्यता में स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्रद्वारा जातिलक्षण ङीष्, अनुबन्धों (ङकार और षकार) का लोप तथा पूर्व की भसंज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप करने से 'कच्छपी' बना। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप करने से 'कच्छपी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यहां 'प' कृदन्त के साथ सुँबुत्पत्ति से पूर्व यदि समास न करते तो 'प' से विभक्ति लाने से पूर्व स्त्रीप्रत्यय लाना पड़ता। तब 'प' के जातिवाचक न होने से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) द्वारा ङीष् न होकर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होता। इस तरह 'कच्छपी' न बन कर 'कच्छपा' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अतः इसे रोकने के लिये उपपद का कृदन्त के साथ सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही समास का विधान किया है। आचार्य पाणिनि ने इसी बात को द्योतित करने के लिये **उपपदमतिङ्** (९५४) में 'अतिङ्' का ग्रहण किया है।

अब तत्पुरुषसमास के कुछ समासान्त प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९५५) तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः ।** **५।४।८६॥**

संख्याऽव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य (तत्पुरुषस्य) समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यः—निरङ्गुलम्॥

पाति = रक्षतीति कच्छपी। सा हि किञ्चिद् दृष्ट्वा स्वशरीरे एव मुखसम्पुटं प्रवेशयतीति भावः। अथवा—कच्छेन कटाहेन (पृष्ठरूपेण) इतराणि अङ्गानि पाति = रक्षतीति। शब्दस्यास्य निर्वचनं विशेषबुभुत्सुभिर्यास्कप्रणीतनिरुक्ते (४.३) द्रष्टव्यम्।

अर्थः— संख्यावाचक शब्द या अव्ययशब्द जिस के आदि में तथा अङ्गुलिशब्द जिस के अन्त में हो, ऐसे तत्पुरुषसमास का अन्तावयव अच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्पुरुषस्य ।६।१। अङ्गुलेः ।६।१। संख्याऽव्ययादेः ।६।१। अच् ।१।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः** से) । **समासान्ताः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**—ये सब पूर्व से अधिकृत हैं । 'अङ्गुलेः' यह 'तत्पुरुषस्य' का विशेषण है । **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) सूत्रद्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य' बन जाता है । 'संख्याऽव्ययादेः' यह भी 'तत्पुरुषस्य' के साथ अन्वित होता है । संख्या च अव्ययं च संख्याव्ययम्, संख्याव्ययम् आदि यस्य सः=संख्याव्ययादिः, तस्य=संख्या-व्ययादेः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(संख्याऽव्ययादेः) संख्या या अव्यय जिस का आद्यवयव हो तथा (अङ्गुलेः=अङ्गुल्यन्तस्य) अङ्गुलि शब्द जिस के अन्त में स्थित हो ऐसे (तत्पुरुषस्य) तत्पुरुष (समासस्य) समास का (अन्तः) अन्तावयव (अच्) अच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । अच् प्रत्यय का चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है । इस का चित्करण स्वरार्थ है । **प्रत्ययः** (१२०) **परश्च** (१२१) अधिकारों के कारण अच् प्रत्यय तत्पुरुष से परे होता है पर **समासान्ताः** (५.४.६८) अधिकार के कारण उस से परे होता हुआ भी यह तत्पुरुष-समास का अन्त अर्थात् अन्तावयव समझा जाता है, उस से भिन्न नहीं । किञ्च **तद्धिताः** (९१६) अधिकार के कारण यह तद्धितसञ्ज्ञक भी होता है । उदाहरण यथा—

(१) संख्यापूर्व अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से अच् यथा—

लौकिकविग्रह—द्वे[1] अङ्गुली प्रमाणमस्य—द्व्यङ्गुलं दार्वादिकम् (दो अङ्गुल प्रमाण वाली दारु=लकड़ी आदि कोई वस्तु) । यहां **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (११६८) सूत्रद्वारा 'इस परिमाण वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक मात्रच् प्रत्यय की विवक्षा में प्रत्यय करने से पूर्व ही **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से 'द्वि औ+अङ्गुलि औ' इस अलौकिकविग्रह में समास हो जाता है । प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्या-वाचक की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात हो जाता है । यह समास **तत्पुरुषः** (९२२) द्वारा तत्पुरुषसंज्ञक तथा **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से द्विगुसंज्ञक भी है । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् एवम् **इको यणचि** (१५) से इकार को यण्-यकार करने पर—द्व्यङ्गुलि । इस तत्पुरुष के आदि में संख्यावाचक 'द्वि' शब्द स्थित है तथा अन्त में 'अङ्गुलि' शब्द विद्यमान है अतः प्रकृत **तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः सङ्ख्याऽव्ययादेः** (९५५) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय करने पर 'द्व्यङ्गुलि अ' इस स्थिति में **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से तद्धित अच् प्रत्यय के परे

---

१. **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (५१) इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावेन सन्ध्यभावोऽत्र बोध्यः ।

रहते भसंज्ञक इकार का लोप हो कर द्व्यङ्गुल्+अ='द्व्यङ्गुल' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। पुनः 'सुँ' प्रत्यय ला कर इसे प्रथमान्त समर्थ बना कर इस से पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'मात्रच्' करने पर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्** (वा०) वार्त्तिक से मात्रच् का भी लुक् हो जाता है—द्व्यङ्गुल। विशेष्य (दारु) के अनुसार नपुंसक में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अतोऽम्** (२३४) द्वारा उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्व्यङ्गुलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

इसीप्रकार—तिस्रोऽङ्गुलयः प्रमाणमस्य—त्र्यङ्गुलम्। चतस्रोऽङ्गुलयः प्रमाणमस्य—चतुरङ्गुलम्। इत्यादि प्रयोग जानने चाहियें।

(२) अव्ययपूर्व अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से अच् यथा—

लौकिकविग्रह—निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः—निरङ्गुलम् (अङ्गुलियों से निकला या गिरा हुआ अङ्गुलीयक=अङ्गूठी आदि भूषण या कोई अन्य द्रव्य)। अलौकिकविग्रह—निर्+अङ्गुलि भ्यस्। यहां **निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या** (वा० ६२) इस वार्त्तिकद्वारा निष्क्रान्त अर्थ में वर्त्तमान 'निर्' निपात (अव्यय) का 'अङ्गुलि भ्यस्' इस पञ्चम्यन्त सुँबन्त के साथ नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'निर्' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (भ्यस्) का लुक् करने पर—'निरङ्गुलि' बना। इस तत्पुरुष के आदि मे अव्ययसञ्ज्ञक 'निर्' तथा अन्त में 'अङ्गुलि' शब्द स्थित है अतः प्रकृत **तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** (९५५) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय हो कर—निरङ्गुलि+अ। भसञ्ज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) से तद्धित अच् प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर—निरङ्गुल्+अ=निरङ्गुल। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता (अङ्गुलिशब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः स्त्रीलिङ्गता) प्राप्त होने पर **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गति-समासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से उस का निषेध हो कर विशेष्य (अङ्गुलीयकम् आदि) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'निरङ्गुलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अतिक्रान्तम् अङ्गुलिम्—अत्यङ्गुलम् आदि प्रयोग जानने चाहियें।

---

१. द्वयोरङ्गुल्योः समाहारः—द्व्यङ्गुलम्। इस प्रकार समाहार अर्थ में भी **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समास एवं प्रकृतसूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय करने पर यही प्रयोग सिद्ध हो सकता है। समाहारद्विगु नपुंसक तथा एकवचनान्त हुआ करता है—यह पीछे (९४२, ९४३) सूत्रों पर स्पष्ट किया जा चुका है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि तत्पुरुषसमास से ही प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त अच् का विधान किया गया है अन्य समासों से नहीं। अतएव 'पञ्च अङ्गुलयो यस्य स पञ्चाङ्गुलि:' यहां बहुव्रीहिसमास में यह समासान्त प्रत्यय नहीं होता।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा समासान्त अच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५६) **अह:सर्वैकदेश-सङ्ख्यात-पुण्याच्च रात्रे: ।५।४।८७।।**

एभ्यो रात्रेरच् स्यात्, चात् संख्याऽव्ययादे: । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।।

अर्थ:—अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात और पुण्य—इन शब्दों से परे एवं 'च' ग्रहण के कारण पूर्वसूत्रोक्त संख्यावाचक और अव्यय शब्दों से परे भी जो रात्रि-शब्द, तदन्त तत्पुरुषसमास से परे समासान्त अच् प्रत्यय हो। **अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्**—यहां 'अहन्' का ग्रहण द्वन्द्वसमास के लिये है (तत्पुरुष के लिये नहीं)।

व्याख्या—अह:सर्वैकदेश-सङ्ख्यात-पुण्यात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। रात्रे: ।६।१। तत्पुरुषस्य ।६।१। (**तत्पुरुषस्याऽङ्गुले: संख्याऽव्ययादे:** से) अच् ।१।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्न:** से)। **प्रत्यय:, परश्च, समासान्ता:**—ये सब पूर्वत: अधिकृत हैं। अहश्च सर्वश्च एकदेशश्च संख्यातश्च पुण्यश्च एषां समाहार:—अह:सर्वैकदेशसंख्यात-पुण्यम्, तस्मात् = अह:सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्यात्, समाहारद्वन्द्व:। 'च' ग्रहण के कारण पिछले सूत्र से 'सङ्ख्याऽव्ययादे:' पद का भी अनुवर्त्तन होता है। 'एकदेश' से एक-देश (अवयव) के वाचक पूर्व, पर आदि (९३२) सूत्रोक्त शब्दों का ग्रहण विवक्षित है। 'रात्रे:' यह षष्ठ्यन्त पद 'तत्पुरुषस्य' का विशेषण है, अत: विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'रात्र्यन्तस्य तत्पुरुषस्य' उपलब्ध हो जाता है। अर्थ:—(अह:सर्वैकदेशसंख्यात-पुण्यात्) अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात और पुण्य—इन शब्दों से परे (रात्रे: = रात्र्यन्तस्य) जो रात्रिशब्द, तदन्त (तत्पुरुषस्य) तत्पुरुष (समासस्य) समास का (अन्त:) अन्तावयव (अच्) अच् (प्रत्यय:) प्रत्यय हो जाता है (च) किञ्च संख्यापूर्व और अव्ययपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से भी समासान्त अच् प्रत्यय हो जाता है। इस प्रकार—'अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात, पुण्य, संख्यावाचक और अव्यय—इन से परे जो रात्रिशब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय हो जाता है' यह अर्थ यहां फलित होता है। परन्तु 'अहन्' से परे 'रात्रि' का तत्पुरुषसमास मुख्यरीत्या सम्भव नहीं अत: इस से परे 'रात्रि' के द्वन्द्वसमास में ही प्रकृतसूत्र से समासान्त हो जाता है[1], अन्यत्र तत्पुरुष में ही। अब इन के क्रमश: उदाहरण प्रदर्शित करते हैं—

---

१. परन्तु प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट यहां पर भी तत्पुरुषसमास का उदाहरण प्रदर्शित करते हैं। अह:सहिता रात्रि:—अहोरात्र:, शाकपार्थिवादित्वात् तत्पुरुष:। नागेशभट्ट आदि भाष्यमर्मविद् वैयाकरणों का कथन है कि **हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि** (२.४.२८) आदि निर्देशों के कारण यहां द्वन्द्व से ही समासान्त अच् का विधान मानना चाहिये, तत्पुरुष से नहीं।

(१) अहन्पूर्व रात्र्यन्त द्वन्द्व से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—अहश्च रात्रिश्चानयोः समाहारः—अहोरात्रः (दिन और रात का समूह)। अलौकिकविग्रह—अहन् सुँ+रात्रि सुँ। यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से समाहार अर्थ में द्वन्द्वसमास[1], **अल्पाच्तरम्** (९८९) से अल्पतर अचों वाले 'अहन्' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने से 'अहन्+रात्रि' बना। अब यहां अहन्पूर्व रात्र्यन्त द्वन्द्व होने के कारण प्रकृत **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय कर 'अहन् रात्रि अ' इस स्थिति में भसञ्ज्ञा हो अच् तद्धित के परे रहते रात्रिशब्द के भसंज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर—अहन् रात्र् अ='अहन्+रात्र'। पुनः **रूप-रात्रि-रथन्तरेषु रुँत्वं वाच्यम्** (वा०)[2] इस वार्त्तिक से अहन् के नकार को रुँ (र्) आदेश, **हशि च** (१०७) से रुँ के रेफ को उकार आदेश एवम् **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश करने से 'अहोरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। अब विभक्ति लाने से पूर्व समास के लिङ्ग का निर्णय करना आवश्यक है। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार इस की परवल्लिङ्गता अर्थात् रात्रिशब्द के समान स्त्रीलिङ्गता होनी चाहिये। परन्तु इस का बाध कर **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्र से नपुंसकत्व प्राप्त होता है। इस पर इस का भी अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५७) रात्राऽह्नाऽहाः पुंसि ।२।४।२९॥

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्च—अहोरात्रः। सर्वरात्रः। (पूर्वरात्रः)। संख्यातरात्रः। (पुण्यरात्रः)॥

अर्थः—रात्र, अह्न और अह—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसा द्वन्द्व और तत्पुरुष समास पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है (अन्य लिङ्गों में नहीं)।

व्याख्या—रात्राऽह्नाऽहाः ।१।३। पुंसि ।७।१। द्वन्द्वतत्पुरुषौ ।१।२। (**परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। रात्रश्च अह्नश्च अहश्च—रात्राह्नाहाः, इतरेतरद्वन्द्वः। यह 'द्वन्द्वतत्पुरुषौ' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर

---

१. ध्यान रहे कि यहां दिशावाची या संख्यावाची के न होने से **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समाहार अर्थ में तत्पुरुषसमास नहीं हो सकता।

२. रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे रहते अहन् के पदान्त नकार को रुँ आदेश हो—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है। यदि यह वार्त्तिक न होता तो **रोऽसुँपि** (११०) द्वारा अहन् के नकार को रेफ आदेश हो जाता। तब रुँ का रेफ न होने से **हशि च** (१०७) द्वारा उत्व न हो सकता। अतः यह वार्त्तिक बनाया गया है। यह वार्त्तिक लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में निर्दिष्ट नहीं, पर हम इस का उल्लेख इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ **रोऽसुँपि** (११०) सूत्र पर कर चुके हैं।

'रात्राऽह्नाऽहान्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ' बन जाता है । अर्थः—(रात्राऽह्नाऽहान्तौ) रात्रशब्दान्त, अह्नशब्दान्त तथा अहशब्दान्त (द्वन्द्वतत्पुरुषौ) द्वन्द्व और तत्पुरुषसमास (पुंसि) पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं । पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होने का तात्पर्य पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होने से है ।[1]

प्रकृत में 'अहोरात्र' यहां द्वन्द्वसमास के अन्त में 'रात्र' शब्द विद्यमान है अतः **रात्राह्नाहाः पुंसि** (६५७) सूत्रद्वारा इस का पुंलिङ्ग में ही प्रयोग होगा । इस तरह पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने पर 'अहोरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां **जातिरप्राणिनाम्** (२.४.६) से एकवद्भाव हुआ है । यदि इतरेतर-द्वन्द्व अभिप्रेत हो तो द्विवचन और बहुवचन भी आ सकते हैं । यथा—**षष्टिश्च ह वै**

१. इस सूत्र में प्रतिपादित रात्रशब्दान्त के उदाहरण तो आगे मूल में दिये ही गये हैं । परन्तु 'अह्न' और 'अह' शब्दान्तों के उदाहरण नहीं दिये गये । वे इस प्रकार जानने चाहियें—

अह्नशब्दान्त का उदाहरण यथा—

अह्नः पूर्वम्—पूर्वाह्णः (दिन का पूर्व भाग) । यहां **पूर्वाऽपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (९३२) सूत्रद्वारा एकदेशिसमास, सुँब्लुक्, पूर्वशब्द का पूर्वनिपात तथा **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् (अ) होकर 'पूर्व अहन्+अ' इस स्थिति में **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) से 'अहन्' के स्थान पर 'अह्न' आदेश, एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर सवर्णदीर्घ करने से **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग में 'पूर्वाह्णः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) सूत्रद्वारा णत्व होता है । इसीप्रकार—अपराह्णः, उत्तराह्णः आदि की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

अहशब्दान्त का उदाहरण यथा

द्वयोरह्नोः समाहारः—द्व्यहः (दो दिनों का समूह) । यहां **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से समाहार अर्थ में द्विगुसमास, संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् (अ) हो कर—द्वि अहन् अ । **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) से अहन् के स्थान पर 'अह्न' आदेश प्राप्त होता है परन्तु **न संख्यादेः समाहारे** (५.४.८९) से उस का निषेध हो जाता है । अब **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) इस नियम के अनुसार टच् के परे रहते अहन् की टि (अन्) का लोप हो—द्वि अह् अ । पुनः **इको यणचि** (१५) से यण् कर प्रकृत **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग में 'द्व्यहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी-प्रकार—त्रयाणाम् अह्नां समाहारः—त्र्यहः, इत्यादि प्रयोगों की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः (ऐतरेयब्राह्मण ३.१२)। रात्रान्त के पुंलिङ्ग होने का नियम है, समाहार का नहीं। अतः इतरेतरद्वन्द्व में भी पुंलिङ्ग हुआ है।[1]

अब पिछले सूत्र के अन्य उदाहरण दर्शाते हैं।

(२) सर्वपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—सर्वा चासौ रात्रिः—सर्वरात्रः (सारी रात)। अलौकिकविग्रह —सर्वा सुँ + रात्रि सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) अथवा **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** (२.१.४८) सूत्रद्वारा 'सर्वा सुँ' का 'रात्रि सुँ' इस समानाधिकरण के साथ वैकल्पिक तत्पुरुषसमास, विशेषण (सर्वा) का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) वार्त्तिकद्वारा 'सर्वा' को पुंवद्भाव से 'सर्व' करने पर 'सर्वरात्रि' बना। यहां सर्वशब्द से परे रात्र्यन्त तत्पुरुष समास है अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (६५६) सूत्र से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय करने से 'सर्वरात्रि+अ' इस स्थिति में भसञ्ज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा 'रात्रि' के भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर देने से 'सर्वरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (६६२) से प्राप्त परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (६५७) सूत्र से पुंलिङ्ग की कर्त्तव्यता में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर 'सर्वरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(३) एकदेशपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—पूर्वं रात्रेः—पूर्वरात्रः (रात्रि का पहला भाग)। अलौकिकविग्रह—पूर्व सुँ + रात्रि ङस्। यहां **पूर्वाऽपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (६३२) सूत्र से 'पूर्व सुँ' इस अवयववचन का 'रात्रि ङस्' इस अवयवी के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास में प्रथमानिर्दिष्ट पूर्वशब्द की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् करने पर 'पूर्वरात्रि' बना। इस तत्पुरुषसमास में एकदेशवाचक पूर्वशब्द से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है, अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (६५६) सूत्र से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय कर **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने से 'पूर्वरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (६५७) से इस का पुंलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। अतः प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने से 'पूर्वरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—'अपररात्रः, उत्तररात्रः' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

---

१. **हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि** (२.४.२८) सूत्रद्वारा वेद में 'अहोरात्र' शब्द में पूर्वलिङ्गता प्रतिपादित की गई है। यथा—**अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी** (ऋग्वेद १०.१९०.२)।

(४) संख्यातपूर्व राज्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—संख्याता चासौ रात्रिश्च—संख्यातरात्रः (गिनी हुई रात)। अलौकिकविग्रह—संख्याता सुँ+रात्रि सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र से अथवा **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** (२.१.४८) सूत्र से तत्पुरुषसमास (कर्मधारय भी), प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, विशेषण का पूर्वनिपात तथा **पुंवत् कर्मधारय-जातीय-देशीयेषु** (६.३.४१)[1] सूत्रद्वारा 'संख्याता' को पुंवद्भाव से 'संख्यात' करने पर 'संख्यातरात्रि' बना। यहां 'संख्यात' से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय, **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप तथा **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'संख्यातरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(५) पुण्यपूर्व राज्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—पुण्या चासौ रात्रिश्च पुण्यरात्रः (शुभ या पवित्र रात्रि)। अलौकिकविग्रह—पुण्या सुँ+रात्रि सुँ। यहां भी पूर्ववत् **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) से तत्पुरुषसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा **पुंवत्कर्मधारयजातीय-देशीयेषु** (६.३.४१) से 'पुण्या' को पुंवद्भाव से 'पुण्य' हो कर 'पुण्यरात्रि' बना। यहां पुण्य से परे रात्रिशब्द विद्यमान है, अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—पुण्यरात्र। **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर 'पुण्यरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(६) संख्यापूर्व राज्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—द्वयो[2] रात्र्योः समाहारः—द्विरात्रम् (दो रात्रियों का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—द्वि ओस्+रात्रि ओस्। यहां समाहार अर्थ में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) से तत्पुरुषसमास, संख्यावाचक 'द्वि' का पूर्वनिपात, **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से द्विगुसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा समासान्तर्गत सुँपों (दोनों ओस् प्रत्ययों) का लुक् करने पर—द्विरात्रि। यहां संख्या से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) द्वारा समासान्त अच् (अ) प्रत्यय, भसञ्ज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर—द्विरात्र् अ='द्विरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से यहां पुंस्त्व के प्राप्त होने पर नपुंसकत्व का विधान करते हैं—

---

१. अर्थः—जिस से परे ऊङ्प्रत्यय न किया गया हो ऐसे भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग पूर्वपद को पुंवत् हो जाता है कर्मधारयसमास में अथवा जातीय या देशीय प्रत्ययों के परे रहते।

२. रेफे परे सति **रो रि** (१११) इति रेफलोपोऽत्र बोध्यः।

[लघु०] संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् ॥

द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ॥

अर्थः—जिस के पूर्व में संख्यावाचक तथा अन्त में 'रात्र' शब्द हो तो वह समास नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक नहीं अपितु कौमुदीकार का स्ववचन है । महाभाष्य आदि में यह वार्त्तिकरूप से कहीं नहीं पढ़ा गया । कौमुदीकार ने पाणिनीयलिङ्गानुशासन के नपुंसकाधिकार के अन्तर्गत **संख्यापूर्वा रात्रिः** (लिङ्गानु० सूत्र १३१) इस सूत्र के आधार पर इसे लिखा है । सूत्र का अर्थ है—संख्यापूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुषसमास नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

प्रकृत में 'द्विरात्र' शब्द के पूर्व में संख्या तथा अन्त में 'रात्र' शब्द विद्यमान है । इस तरह लिङ्गानुशासनीयसूत्र के अनुसार **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से प्राप्त पुंस्त्व का बाध कर नपुंसक हो जायेगा । नपुंसक में प्रथमा के एकवचन में सुं को **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्विरात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—तिसृणां रात्रीणां समाहारः—त्रिरात्रम् । चतसृणां रात्रीणां समाहारः—चतूरात्रम्[1] । नवानां रात्रीणां समाहारः—नवरात्रम् । इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें ।

(७) अव्ययपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—रात्रिम् अतिक्रान्तः—अतिरात्रः (जो रात्रि को गुजार चुका है) । अलौकिकविग्रह—रात्रि अम्+अति । यहां **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिक से नित्य प्रादितत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अति' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् करने से 'अतिरात्रि' बना । इस तत्पुरुषसमास में अव्यय से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है, अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) द्वारा समासान्त अच् (अ) प्रत्यय, भसञ्ज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) के अनुसार पुंस्त्व में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'अतिरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. 'त्रिरात्रम्, चतूरात्रम्' में तिसृ और चतसृ शब्दों को पुंवद्भाव से 'त्रि' और 'चतुर्' हो जाते हैं । 'चतूरात्रम्' में **रो रि** (१११) से रेफलोप हो कर **ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (११२) सूत्रद्वारा पूर्व अण् (उकार) को दीर्घ हो जाता है ।

समासान्त तन

यहां पर **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) सूत्र की व्याख्या समाप्त होती है ।

अब तत्पुरुषसमास के एक अन्य सुप्रसिद्ध समासान्त टच् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५८) **राजाहःसखिभ्यष्टच्** ।५।४।९१॥

एतदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् (समासान्तः) । परमराजः ॥

अर्थः—राजन्, अहन् (दिन) और सखि (मित्र)—ये शब्द जिस के अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुषसमास से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—राजाहःसखिभ्यः ।५।३। टच् ।१।१। तत्पुरुषात् । ५।१। (**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । राजा च अहश्च सखा च राजाहःसखायः, तेभ्यः = राजाहःसखिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । यह 'तत्पुरुषात्' का विशेषण है, अतः इससे तदन्तविधि हो कर 'राजन्, अहन्, सखि—इत्येतदन्तात् तत्पुरुषात्' बन जाता है । **अर्थः**—(राजाहःसखिशब्दान्तात्) राजन्, अहन् और सखि—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे (तत्पुरुषात्) तत्पुरुषसमास से (परः) परे (टच् प्रत्ययः) टच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है । टच् प्रत्यय में टकार की **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा तथा चकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है । टकार अनुबन्ध स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय करने के लिये एवं चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है ।

राजन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् यथा—

लौकिकविग्रह—परमश्चासौ राजा—परमराजः (उत्तम या श्रेष्ठ राजा) । अलौकिकविग्रह—परम सुँ + राजन् सुँ । यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा अथवा **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर 'परम' शब्द का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों दोनों (सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर 'परमराजन्' हुआ । इस तत्पुरुष के अन्त में राजन्शब्द विद्यमान है, अतः प्रकृत **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्र से समासान्त टच् हो कर अनुबन्धों का लोप करने से—परमराजन् + अ । अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा एवं **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप हो कर—परमराज् + अ = परमराज । तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार परवल्लिङ्गता के कारण यहां राजन्शब्दवत् पुंलिङ्ग का प्रयोग होगा । प्रथमा के एकवचन में सुँप्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'परमराजः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि 'परमराज' शब्द अब अकारान्त हो गया है नकारान्त नहीं रहा, अतः इस की सुँबन्तप्रक्रिया रामशब्दवत् होती है ।

राजन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् का दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—महांश्चासौ राजा—महाराजः (महान् राजा)। अलौकिकविग्रह—महत् सुँ + राजन् सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा अथवा **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास होकर प्रथमा-निर्दिष्ट 'परम' शब्द का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर—महत् + राजन्। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५९) आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः ।६।३।४५॥

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात् समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर् (५.३.६९)—महाप्रकारो महाजातीयः॥

अर्थः—समानाधिकरण उत्तरपद परे हो या जातीयर् प्रत्यय परे हो तो महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—आत् ।१।१। महतः ।६।१। समानाधिकरणजातीययोः ।७।२। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। समानाधिकरणं च जातीयश्च समानाधिकरणजातीयौ, तयोः = समानाधिकरणजातीययोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'उत्तरपदे' का अन्वय 'समानाधिकरणे' अंश के साथ ही सम्भव है, जातीय के साथ नहीं। क्योंकि जातीय (जातीयर्) तो एक प्रत्यय है उत्तरपद नहीं। **अर्थः**—(महतः) महत् शब्द के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है (समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च) समानाधिकरण उत्तरपद परे हो या जातीयर् प्रत्यय परे हो। 'महत्' को विधान किया गया यह आकार आदेश **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा अन्त्य अल् अर्थात् महत् के तकार के स्थान पर ही होता है अन्य किसी को नहीं। उदाहरण यथा—

पूर्वोक्त 'महत् + राजन्' इस तत्पुरुषसमास में दोनों पदों का अधिकरण (वाच्य) समान है अर्थात् दोनों एक ही द्रव्य को कह रहे हैं। अतः **आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः** (९५९) इस प्रकृतसूत्र के द्वारा समानाधिकरण उत्तरपद (राजन्) शब्द के परे रहते महत् के तकार को आकार आदेश होकर—मह आ + राजन्। **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—महाराजन्। अब **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्र से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर पूर्ववत् भसंज्ञा तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप होकर—महाराज् अ = महाराज। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण पुंस्त्व में विभक्तिकार्य करने पर 'महाराजः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

---

१. उत्तरपद परे रहते कुछ अन्य उदाहरण यथा—

महांश्चासौ देवः—महादेवः। महांश्चासौ कृपणः—महाकृपणः। महान्तौ बाहू यस्य

जातीयर् प्रत्यय के परे रहते भी महत् के तकार को आकार आदेश करने का प्रकृतसूत्र में विधान है। इसे उदाहरणद्वारा समझाने के लिये सर्वप्रथम जातीयर् प्रत्यय का विधायकसूत्र निर्दिष्ट करते हैं—**प्रकारवचने जातीयर्** (५.३.६९)। प्रकारविशिष्ट प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक जातीयर् प्रत्यय हो—यह इस सूत्र का अर्थ है। जातीयर् में रेफ इत्सञ्ज्ञक है 'जातीय' ही शेष रहता है। उदाहरण यथा—मृदुप्रकारः = मृदुजातीयः (मृदुत्वविशिष्ट), पटुजातीयः (पटुत्वविशिष्ट), बालिशजातीयः (मूर्खत्व-विशिष्ट)। इसी प्रकार प्रकारविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'महत्' शब्द से स्वार्थ में जातीयर् प्रत्यय करने पर उस के परे रहते **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) इस प्रकृतसूत्रद्वारा महत् के तकार को आकार आदेश एवम् **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'महाजातीयः' (महत्त्वविशिष्ट) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यह समास नहीं तद्धितप्रत्यय का उदाहरण है, प्रसङ्गवश इसे यहां ग्रन्थकार ने निर्दिष्ट किया है।

राजाहःसखिभ्यष्टच् (९५८) सूत्रस्थ राजन्शब्दान्त तत्पुरुष के उदाहरण तो मूल में दे दिये गये हैं, अन्य दो के उदाहरण यहां दर्शा रहे हैं—

अहन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् यथा—

लौकिकविग्रह—उत्तमं च तद् अहः—उत्तमाहः (उत्तम दिन)। अलौकिकविग्रह—उत्तम सुँ+अहन् सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा अथवा **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्र से तत्पुरुषसमास, प्रथमानिर्दिष्ट उत्तमशब्द का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक्, सवर्णदीर्घ—उत्तमाहन्। पुनः अहन्शब्दान्त तत्पुरुष होने के कारण **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् हो जाता है—उत्तमाहन्+अ। अब **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५)[1] इस नियम का अनुसरण करते हुए **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप करने पर—उत्तमाह्+अ=उत्तमाह। परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) के अनुसार पुँलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने पर 'उत्तमाहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—परमञ्च तदहः—परमाहः। पुण्यञ्च तदहः—पुण्याहः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सखिशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् यथा—

लौकिकविग्रह—**राज्ञः सखा—राजसखः** (राजा का मित्र)। अलौकिकविग्रह—

स महाबाहुः। महद् धनं यस्य स महाधनः। समानाधिकरण उत्तरपद के परे होने पर ही यह आत्व होता है, समास चाहे तत्पुरुष (कर्मधारय) हो या बहुव्रीहि। समानाधिकरण न होने से यह प्रवृत्त नहीं होता। यथा—महतां सेवा महत्सेवा, यहां आत्व नहीं हुआ।

१. 'ट' अथवा 'ख' प्रत्यय के परे होने पर ही 'अहन्' की टि का लोप होता है।

राजन् ङस् + सखि सुँ। यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास, प्रथमानिर्दिष्ट षष्ठ्यन्त का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँपों का लुक्, **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच्, भसञ्ज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप एवं **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का भी लोप करने से—राजसख। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण पुंस्त्व में विभक्तिकार्य करने पर—राजसखः, राजसखौ, राजसखाः आदि रामशब्दवत् प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इसीप्रकार—कृष्णस्य सखा कृष्णसखः, विबुधानां (देवानाम्) सखा विबुधसखः[1]।

आकार अन्तादेश के प्रसङ्ग में एक अन्य उपयोगी सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६०) **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः। ६।३।४६॥**

आत् स्यात्। द्वौ च दश च द्वादश। (अष्टौ च दश च अष्टादश)। अष्टाविंशतिः॥

अर्थः—'द्वि' और 'अष्टन्' शब्दों को आकार अन्तादेश हो संख्यावाचक उत्तरपद परे हो तो। परन्तु बहुव्रीहिसमास में तथा 'अशीति' उत्तरपद परे होने पर यह कार्य न हो।

व्याख्या—द्व्यष्टनः।६।१। संख्यायाम्।७।१। अबहुव्रीहि-अशीत्योः।७।२। आत्।१।१। (**आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** से)। उत्तरपदे।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। द्विश्च अष्ट च द्व्यष्ट, तस्मात्=द्व्यष्टनः, समाहारद्वन्द्वः। बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहुव्रीह्यशीती, तयोः=बहुव्रीह्यशीत्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। न बहुव्रीह्यशीत्योः—अबहुव्रीह्यशीत्योः, नञ्तत्पुरुषः। 'उत्तरपदे' का सम्बन्ध 'संख्यायाम्' तथा 'अशीत्याम्' के साथ ही सम्भव है, 'बहुव्रीहौ' के साथ नहीं। अर्थः—(द्व्यष्टनः) 'द्वि' और 'अष्टन्' शब्दों के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है (संख्यायाम् उत्तरपदे) संख्यावाचक उत्तरपद परे हो तो। परन्तु यह कार्य (अबहुव्रीह्यशीत्योः) न तो बहुव्रीहिसमास में होता है और न ही 'अशीति' उत्तरपद परे रहते। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा के कारण यह आत्व अन्त्य अल् के स्थान पर अर्थात् 'द्वि' के इकार तथा 'अष्टन्' के नकार के स्थान पर होता है।

'द्वि' का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्वौ च दश च द्वादश (दो और दस अर्थात् बारह)। अलौकिकविग्रह—द्वि औ + दशन् जस्। यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से इतरेतरद्वन्द्वसमास

---

१. अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम्॥
(भट्टि० १.१)

प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंपों ('औ' और 'जस्') का लुक् तथा **संख्यायाः अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** (वा०) इस वार्त्तिक से छोटी संख्या 'द्वि' का पूर्वनिपात कर—द्विदशन् । यहां संख्याचक 'दशन्' शब्द उत्तरपद में है अतः प्रकृत **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्रद्वारा 'द्वि' के इकार को आकार अन्तादेश हो—द्वादशन् । अब समासत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय ला कर **ष्णान्ता षट्** (२९७) से द्वादशन् की षट्संज्ञा तथा **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से उस से परे जस् का लुक् कर **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का भी लोप कर देने से 'द्वादश' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

इसी तरह—द्वाविंशतिः (बाईस), द्वात्रिंशत् (बत्तीस) । चत्वारिंशत् से नवति तक की संख्या परे हो तो यह आत्व विकल्प से होता है[2] । यथा—द्वाचत्वारिंशत्-द्विचत्वारिंशत्, द्वापञ्चाशत्-द्विपञ्चाशत्; द्वाषष्टिः-द्विषष्टिः; द्वासप्ततिः-द्विसप्ततिः । 'अशीति' में आत्व का निषेध कहा है—द्व्यशीतिः । द्वानवतिः-द्विनवतिः । यहां यह भी स्मर्त्तव्य है कि यह आत्व **प्राक् शतादिति वक्तव्यम्** (वा०) वार्त्तिक से 'शत' से पहले पहले अर्थात् 'नवति' तक ही होता है इस से आगे नहीं । अतः द्वौ च शतं च द्विशतम् (एक सौ दो), द्वौ च सहस्रम् च द्विसहस्रम् (एक हजार दो) इत्यादियों में यह आत्व प्रवृत्त नहीं होता ।

'अष्टन्' का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अष्टौ च दश च अष्टादश (आठ और दस अर्थात् अठारह) । अलौकिकविग्रह—अष्टन् जस् + दशन् जस् । **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से इतरेतरद्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंब्लुक् तथा **संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** इस वार्त्तिक से अष्टन् का पूर्वनिपात हो कर—अष्टन्दशन् । यहां संख्यावाचक 'दशन्' शब्द उत्तरपद में विद्यमान है अतः प्रकृत **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र से अष्टन् के नकार को आकार आदेश तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से 'अष्टादश' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अष्टौ च विंशतिश्च अष्टाविंशतिः (आठ और बीस अर्थात्

---

१. द्व्यधिका दश द्वादश । इस प्रकार के विग्रह का अनुसरण कर **शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) इस वार्त्तिक के द्वारा तत्पुरुषसमास में 'अधिक' पद का लोप करने से भी यह रूप सिद्ध किया जा सकता है । इसी प्रकार—द्वाविंशतिः, अष्टादश, अष्टाविंशतिः, त्रयोदश आदि उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिये ।

२. **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) । अर्थः—द्वि और अष्टन् के आकार अन्तादेश तथा त्रि को त्रयस् आदेश—ये पूर्वोक्त कार्य चत्वारिंशत् आदि के परे रहते विकल्प से हुआ करते हैं ।

अठाईस)। अष्टौ च त्रिंशत् च अष्टात्रिंशत् (अठतीस)। **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) सूत्रद्वारा चत्वारिंशत् से लेकर नवति तक की संख्याओं के परे रहते विकल्प से आत्व होता है। यथा—अष्टाचत्वारिंशत्—अष्टचत्वारिंशत्; अष्टापञ्चाशत्—अष्टपञ्चाशत् ; अष्टाषष्टिः—अष्टषष्टिः ; अष्टासप्ततिः—अष्टसप्ततिः ; अशीति में आत्व का निषेध है, नकार का लोप हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है --अष्टाशीतिः। अष्टानवतिः—अष्टनवतिः। यहां पर भी **प्राक् शतादिति वक्तव्यम्** (वा०) यह वार्त्तिक प्रवृत्त हो जाता है—अष्टौ च शतं च अष्टशतम् (एक सौ आठ), आत्व नहीं होता।

बहुव्रीहिसमास में यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। यथा—द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (दो या तीन)। यहां **संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिक-संख्याः संख्येये** (२.२.२५) सूत्र से बहुव्रीहिसमास हुआ है, अतः 'अबहुव्रीह्यशीत्योः' कथन के कारण प्रकृतसूत्र से 'द्वि' को आत्व अन्तादेश नहीं होता। इसीप्रकार 'अशीति' परे होने पर भी यह प्रवृत्त नहीं होता—द्व्यशीतिः (बियासी)।

संख्यावाचक उत्तरपद के परे रहते आदेश के इसी प्रसङ्ग में 'त्रि' के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६१) त्रेस्त्रयः।६।३।४७॥[1]

[त्रिशब्दस्य त्रयस् इत्यादेशः स्यात् संख्यायामुत्तरपदे न तु बहुव्रीह्यशीत्योः]। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्॥

अर्थः—संख्यावाचक उत्तरपद के परे रहते 'त्रि' के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश हो। परन्तु बहुव्रीहिसमास में अथवा 'अशीति' उत्तरपद के परे रहते यह आदेश न हो।

व्याख्या—त्रेः।६।१। त्रयः।१।१।[2] संख्यायाम्।७।१। अबहुव्रीह्यशीत्योः।७।२। (**द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** से)। उत्तरपदे।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। यहां भी पदों की सङ्गति पूर्वसूत्रवत् समझनी चाहिये। **अर्थः**—(त्रेः) त्रिशब्द के स्थान पर

---

१. पहले भी **त्रेस्त्रयः** (१९२) सूत्र अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण में आ चुका है। दोनों सूत्र अष्टाध्यायी में भिन्न भिन्न स्थानों पर पढ़े गये हैं। अनुवृत्ति तथा प्रकरण की महिमा से दोनों सूत्रों का विषय तथा अर्थ भिन्न भिन्न है जो सदा ध्यान में रखना चाहिये।

२. यहां 'त्रय' शब्द नहीं अपितु 'त्रयस्' शब्द का 'तपः, मनः, यशः' आदि की तरह प्रथमैकवचनान्त प्रयोग है। 'त्रय' आदेश मानने से त्रयोविंशतिः, त्रयोदश आदि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते। आचार्य पाणिनि ने सन्धिवेलादिगण (४.३.१६) में स्वयं 'त्रयोदशी' शब्द का प्रयोग किया है, तदनुसार त्रयस् आदेश ही माना जायेगा।

(त्रयः) 'त्रयस्' यह आदेश हो जाता है (संख्यायाम् उत्तरपदे) संख्यावाची उत्तरपद परे हो तो। परन्तु यह कार्य (अबहुव्रीह्यशीत्योः) न तो बहुव्रीहिसमास में और न ही 'अशीति' उत्तरपद के परे होने पर होता है। अनेकाल् होने से यह त्रयस् आदेश **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्र द्वारा 'त्रि' के स्थान पर सर्वादेश होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—त्रयश्च दश च त्रयोदश (तीन और दस अर्थात् तेरह)। अलौकिकविग्रह—त्रि जस्+दशन् जस्। **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से इतरेतरद्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् **संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** (वा०) इस वार्त्तिक के अनुसार 'त्रि' का पूर्वनिपात करने पर—त्रिदशन्। अब यहां संख्यावाची 'दशन्' शब्द उत्तरपद में वर्त्तमान है अतः प्रकृत **त्रेस्त्रयः** (९९१) सूत्र से 'त्रि' को 'त्रयस्' सर्वादेश करने पर—त्रयस्दशन्। 'त्रि' के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव के कारण 'त्रयस्' पद है, इस का सकार पदान्त है, अतः **ससजुषो रुः** (१०५) सूत्र से इसे रुँ आदेश, उकार अनुबन्ध का लोप, **हशि च** (१०७) से इस रेफ को उकार आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से अकार+उकार को ओकार गुण करने पर—त्रयोदशन्। प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में इस से परे जस् विभक्ति लाने पर **ष्णान्ता षट्** (२९७) से षट्संज्ञा, **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से जस् का लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा अन्त्य नकार का भी लोप करने से 'त्रयोदश' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—त्रयश्च विंशतिश्च त्रयोविंशतिः (तीन और बीस अर्थात् तेईस)। त्रयश्च त्रिंशत् च त्रयस्त्रिंशत् (तीन और तीस अर्थात् तेंतीस)। यहां हश् परे नहीं अतः **हशि च** (१०७) से उत्व नहीं होता। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) सूत्र से रेफ को विसर्जनीय हो कर **विसर्जनीयस्य सः** (९६) द्वारा विसर्ग को सकार आदेश करने से 'त्रयस्त्रिंशत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्राक् शतादिति वक्तव्यम् (वा०) इस वार्त्तिक के अनुसार यह आदेश 'नवति' से आगे के संख्यावाची उत्तरपद के परे होने पर नहीं होता। यथा—त्रयश्च शतं च त्रिशतम् (एक सौ तीन)। यहां त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होता।

चत्वारिंशत् से नवति तक की संख्याओं के परे रहते **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) द्वारा त्रि को विकल्प से त्रयस् आदेश होता है, पक्ष में 'त्रि' ही रहता है। यथा—त्रयश्च चत्वारिंशत् च त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिचत्वारिंशद् वा। त्रयःपञ्चाशत्, त्रिपञ्चाशत्। त्रयःषष्टिः, त्रिषष्टिः। त्रयःसप्ततिः, त्रिसप्ततिः। त्रयोनवतिः, त्रिनवतिः। 'अशीति' में निषेध है—त्र्यशीतिः (तीन और अस्सी अर्थात् तिरासी)।

बहुव्रीहिसमास में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः (तीन या चार)। यहां **संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराधिकसंख्याः संख्येये**

(२.२.२५) से बहुव्रीहिसमास हुआ है। अतः **त्रेस्त्रयः** (६६१) से त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होता[1]।

अब तत्पुरुषसमास के लिङ्ग की व्यवस्थार्थ अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६२) परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः ।२।४।२६।।

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली ।।

अर्थः—द्वन्द्व तथा तत्पुरुषसमास का लिङ्ग उस समास के उत्तरपद के लिङ्ग के समान हो।

व्याख्या—परवत्—इत्यव्ययपदम् । लिङ्गम् ।१।१। द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ।६।२। परस्येव—परवत्, **तत्र तस्येव** (११५२) इति षष्ठ्यन्ताद्वतिँप्रत्ययः। 'पर' से तात्पर्य तत्समासगत उत्तरपद से है। परवत्=उस समास के उत्तरपद के लिङ्ग की तरह। द्वन्द्वश्च तत्पुरुषश्च—द्वन्द्वतत्पुरुषौ, तयोः=द्वन्द्वतत्पुरुषयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। यह षष्ठ्यन्त है सप्तम्यन्त नहीं। अर्थः—(द्वन्द्वतत्पुरुषयोः) द्वन्द्व और तत्पुरुष समास का (लिङ्गम्) लिङ्ग (परवत्) उत्तरपद के लिङ्ग के समान होता है। अर्थात् इन समासों में उत्तरपद का जो लिङ्ग होता है वही समास का लिङ्ग माना जाता है।

द्वन्द्व का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—कुक्कुटश्च मयूरी च—कुक्कुटमयूर्यौ (इमे), अथवा—मयूरीकुक्कुटौ (इमौ) [मुर्गा और मोरनी]। अलौकिकविग्रह—कुक्कुट सुँ+मयूरी सुँ। यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्रद्वारा इतरेतरद्वन्द्वसमास हो कर सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् हो जाता है। इस में पूर्वनिपात के नियम का अभाव है अतः कुक्कुट या मयूरी किसी का भी पूर्वनिपात हो सकता है। प्रथम कुक्कुट का पूर्वनिपात किया तो 'कुक्कुटमयूरी' इस में उत्तरपद 'मयूरी' स्त्रीलिङ्ग है अतः **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (६६२) से समग्र द्वन्द्वसमास का भी लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग माना जायेगा। प्रथमा के द्विवचन में 'औ' विभक्ति ला कर **दीर्घाज्जसि च** (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर **इको यणचि** (१५) से यण् किया तो 'कुक्कुटमयूर्यौ' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस समास के स्त्रीत्व को प्रकट करने के लिये 'इमे' यह स्त्रीलिङ्गी प्रथमाद्विवचनान्त पद साथ में जोड़ा गया है। इसी द्वन्द्व में जब 'मयूरी' का पूर्वनिपात करेंगे तो उत्तरपद में 'कुक्कुट' शब्द पुंलिङ्ग होगा, तब परवल्लिङ्गता के कारण समास भी पुंलिङ्ग हो जायेगा। इसे विशेषणद्वारा

---

१. **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३) इति समासान्तं डचं बाधित्वा **त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते** (वा०) इति वार्त्तिकेन समासान्ते अच्प्रत्यये डित्त्वाभावात् **टेः** (२४२) इति टिलोपाभावे प्रथमाबहुवचने 'त्रिचतुराः' इति साधु।

प्रकट करने के लिये 'मयूरीकुक्कुटौ इमौ' इस प्रकार 'इमौ' पुंलिङ्ग का प्रयोग किया जायेगा ।[1]

तत्पुरुषसमास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली (पिप्पली **अर्थात्** पीपर का ठीक आधा भाग)। अलौकिकविग्रह—पिप्पली ङस्+अर्ध सुँ। यहां **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्र से तत्पुरुषसमास किया जाता है। समास में प्रथमानिर्दिष्ट अर्धशब्द का पूर्वनिपात हो कर सुँब्लुक् करने से—अर्धपिप्पली। अर्धपिप्पली में उत्तरपद पिप्पली है जो स्त्रीलिङ्ग है अतः पूर्वपदप्रधान होने पर भी इस समास को **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार स्त्रीलिङ्ग माना जायेगा। इस से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा अपृक्त सकार का लोप करने से 'अर्धपिप्पली' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। इस के स्त्रीत्व के कारण ही—'इयमर्धपिप्पली गृहीता' इत्यादिप्रकारेण विशेषणों का योग हुआ करता है। इसी तरह 'कायस्य पूर्वम्—पूर्वकायः' आदि समासों में समझना चाहिये।

वक्तव्य—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, राज्ञः सेना—राजसेना, चौराद् भयम्—चौरभयम् इत्यादि तत्पुरुषसमासों में प्रायः उत्तरपद की प्रधानता हुआ करती है। उत्तरपद के प्रधान होने से उस का लिङ्ग तो समास में स्वयं सिद्ध है ही, पुनः तत्पुरुषसमास की परवल्लिङ्गता के विधान का क्या प्रयोजन ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये ग्रन्थकार तत्पुरुषसमास का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो उत्तरपदप्रधान नहीं। 'अर्धपिप्पली' में 'अर्धम्' इस पूर्वपद की प्रधानता है, जो नपुंसक है। अतः समास में इस के अनुसार लिङ्ग न हो जाये इस के लिये तत्पुरुष में परवल्लिङ्गता का विधान समझना चाहिये।

अब तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का कुछ स्थानों पर निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(६३) द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः ॥

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः पुरोडाशः ॥

अर्थः—द्विगुसमास में, एवं प्राप्त, आपन्न और अलम् पूर्ववाले तत्पुरुषसमासों में तथा गतिसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध कहना चाहिये। **अर्थात्** इन में विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है।

---

१. ध्यान रहे कि यहां द्वन्द्व का उल्लेख केवल इतरेतरद्वन्द्व के लिये ही है। समाहारद्वन्द्व में तो **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा इस का बाध हो कर नपुंसकत्व ही रहेगा।

२. इस की सविस्तर सिद्धि पीछे **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्र पर दर्शाई जा चुकी है वहीं देखें।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है, अतः यह निषेध तद्विषयक ही समझना चाहिये। इस वार्त्तिकद्वारा परवल्लिङ्गता का तीन स्थानों पर निषेध किया जाता है—

(१) द्विगुसमास यद्यपि तत्पुरुषसञ्ज्ञक है तथापि इस में परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।[1]

(२) प्राप्त, आपन्न और अलम्—इन तीनों में से कोई शब्द जब तत्पुरुषसमास का पूर्वपद हो तो परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।

(३) गतिसमास अर्थात् प्रादितत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।[2]

सर्वप्रथम द्विगुसमास की विशेष्यलिङ्गता का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः पुरोडाशः (पाञ्च सकोरों में तैयार किया गया पुरोडाश=हविर्विशेष)। यहां **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) ='उस में तैयार किया भक्ष्य' इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् सुप्+कपाल सुप्' इस अलौकिकविग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से द्विगुसमास होकर संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा पञ्चन्शब्द के पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने पर—पञ्चकपाल। अब सप्तमी का बहुवचन ला कर 'पञ्चकपाल सुप्' इस सप्तम्यन्त से **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय करने पर द्विगुसञ्ज्ञा के कारण **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४.१.८८)[3] द्वारा अण् प्रत्यय का लुक् एवं **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से पुनः सुँब्लुक् करने पर 'पञ्चकपाल' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न होता है। तद्धितान्तत्वेन या समासत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अक्षुण्ण रहने से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम लिङ्गनिर्णय कर्त्तव्य होता है। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता अर्थात् कपाल (नपुं०) शब्द के अनुसार समास से भी नपुंसकत्व प्राप्त होता है। इस पर प्रकृत **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से इस का निषेध

---

१. 'द्विगु' से यहां तद्धितार्थ के विषय में होने वाला द्विगु ही अभिप्रेत है। समाहारार्थक द्विगु **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा नपुंसक होता है, वह परवल्लिङ्गता का अपवाद है। उत्तरपद के परे रहते द्विगु में भी लिङ्ग का विवेचन निष्प्रयोजन है क्योंकि 'पञ्चगवधनः' आदि बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ का लिङ्ग ही हुआ करता है अवान्तरद्विगु का नहीं।

२. गतिसमासपदं गतेः समासो येनेति बहुव्रीहिणा **कुगतिप्रादयः** (९४६) इति सूत्रपरम्। तच्चाऽन्यत्र फलाभावात् प्रादिपरमेव। (ल० शब्देन्दु०)

३. अर्थः—द्विगुसमास का निमित्त जो अजादि अनपत्यार्थक प्राग्दीव्यतीय तद्धितप्रत्यय उस का लुक् हो जाता है।

हो कर विशेष्य (पुरोडाश:) के अनुसार पुंलिङ्ग मे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पञ्चकपाल:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब प्राप्त और आपन्न पूर्व वाले तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध दर्शाने से पूर्व इस समास के विधायकसूत्र का अवतरण करते हैं--

[लघु०] विधि-सूत्रम् --(९६३) **प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया ।२।२।४।।**

समस्येते । अकारश्चाऽनयोरन्तादेशः । प्राप्तो जीविकाम्—प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः ।।

अर्थः—प्राप्त और आपन्न सुँबन्त, द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास को प्राप्त होते हैं किञ्च इस समास में इन (प्राप्त और आपन्न) शब्दों को 'अ' यह अन्तादेश भी हो जाता है ।

व्याख्या—प्राप्ताऽऽपन्ने ।१।२। च इत्यव्ययपदम् । द्वितीयया ।३।१। अ इति-लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदं प्रश्लिष्यते । **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः आ रहे हैं। 'प्राप्ताऽऽपन्ने' को 'सुँप्' के साथ तथा 'द्वितीयया' को 'सुँपा' के साथ अन्वित किया जाता है। प्राप्तं च आपन्नं च प्राप्तापन्ने, इतरेतरद्वन्द्वः । शब्दस्वरूपा-पेक्षया नपुंसकप्रयोगः । सूत्र में 'च' का ग्रहण दो विधियों के समुच्चयार्थ है।[1] चकार-ग्रहण के बल से 'द्वितीयया+अ=द्वितीयया' इस प्रकार 'अ' का प्रश्लेष किया जाता है। यह सूत्र **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (९२४) इस द्वितीयातत्पुरुष-समास का अपवाद है। वचनसामर्थ्य से उस की भी प्रवृत्ति हो जायेगी । अर्थः—(प्राप्तापन्ने सुँबन्ते) प्राप्त और आपन्न ये सुँबन्त (द्वितीयया=द्वितीयान्तेन सुँबन्तेन) द्वितीयान्त सुँबन्त के साथ (समासौ) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। (च) किञ्च प्राप्त और आपन्न शब्दों के स्थान पर (अ) 'अ' यह आदेश भी हो जाता है। यह 'अ' आदेश **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परि-भाषाद्वारा प्राप्त और आपन्न शब्दों के अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्राप्तो जीविकाम्—प्राप्तजीविकः (जीविका को प्राप्त कर चुका पुरुष) । अलौकिकविग्रह—प्राप्त सुँ+जीविका अम् । यहां प्रकृत **प्राप्तापन्ने च द्वितीयया** (९६३) सूत्रद्वारा 'प्राप्त सुँ' इस सुँबन्त का 'जीविका अम्' इस द्वितीयान्त सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्राप्त सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा, **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात, समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (सुँ और अम्) का लुक् करने से—प्राप्तजीविका ।

---

१. प्राप्तापन्ने द्वितीयान्तेन समस्येते, अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोरिति भाष्ये ।

पुनः इसीसूत्र से 'प्राप्त' के अन्त्य अल्=अकार को अकार आदेश भी हो जाता है परन्तु इस से रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता—प्राप्तजीविका। इस समास में चाहे जैसे विग्रह किया जाये 'जीविकाम्' पद विग्रह में नियतविभक्तिक रहता है।[1] अतः **एक-विभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) से 'जीविका' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **गोस्त्रियोरुपसर्ज-नस्य** (९५२) से उसे ह्रस्व अन्तादेश हो जाता है—प्राप्तजीविक। अब प्रातिपदि-कत्व के कारण स्वाद्युत्पत्ति होने से पूर्व इस समास का लिङ्ग निश्चित करना आवश्यक है। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से समासगत उत्तर-पद 'जीविका' के अनुसार इसे स्त्रीलिङ्ग की प्रसक्ति होती है। परन्तु **द्विगु-प्राप्ताऽऽ-पन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) इस वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार पुंस्त्व में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राप्तजीविकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस के अति-रिक्त विधानसामर्थ्य से **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (९२४) सूत्र से द्वितीयातत्पुरुषसमास भी हो जाता है। परन्तु इस समास में द्वितीयान्त पद प्रथमानि-र्दिष्ट होने से उपसर्जनसंज्ञक होता है अतः उसी का पूर्वनिपात हो कर सुँपों (अम् और सुँ) का लुक् करने से—जीविकाप्राप्त। विभक्ति लाने से 'जीविकाप्राप्तः' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहाँ प्राप्तपूर्व तत्पुरुषसमास नहीं अतः प्रकृत वार्त्तिक से परवल्लि-ङ्गता का निषेध नहीं होता। किञ्च दोनों समास महाविभाषा के अधिकार में पढ़े गये हैं अतः पक्ष में वाक्य भी रहता है। इस प्रकार तीन रूप बनते हैं—(१) प्राप्त-जीविकः। (२) जीविकाप्राप्तः। (३) 'प्राप्तो जीविकाम्' अथवा 'जीविकां प्राप्तः' यह वाक्य भी।

इसीप्रकार—आपन्नो जीविकाम्—(१) आपन्नजीविकः। (२) जीविकापन्नः। (३) 'जीविकामापन्नः' या 'आपन्नो जीविकाम्' यह वाक्य भी।[2]

---

१. यथा—प्राप्तो जीविकाम्—प्राप्तजीविकः, प्राप्तं जीविकाम्—प्राप्तजीविकम्, प्राप्तेन जीविकाम्—प्राप्तजीविकेन, प्राप्ताय जीविकाम्—प्राप्तजीविकाय, प्राप्तात् जीविकाम्—प्राप्तजीविकात्, प्राप्तस्य जीविकाम्—प्राप्तजीविकस्य, प्राप्ते जीविकाम्—प्राप्तजीविके। विग्रह की इन सब अवस्थाओं में 'जीविकाम्' पद नियतविभक्तिक रहता है, प्राप्तपद ही बदलता रहता है।

२. प्राप्तजीविकः, आपन्नजीविकः—इत्यादि प्रयोग तो 'प्राप्ता जीविका येन सः=प्राप्तजीविकः, आपन्ना जीविका येन सः=आपन्नजीविकः' इत्यादिप्रकारेण बहु-व्रीहिसमास के द्वारा भी सिद्ध हो सकते हैं किञ्च बहुव्रीहि के अन्यपदप्रधान होने से विशेष्यानुसारी होने के कारण लिङ्ग का भी यहाँ कोई झञ्झट खड़ा नहीं होता, पुनः इन प्रयोगों के लिये इस नवीन सूत्र की रचना क्यों की गई है? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का उत्तर यह है कि इस सूत्र का निर्माण तत्पुरुष-समास में अन्तोदात्तस्वर की प्राप्ति के लिये किया गया है जो बहुव्रीहिसमास में सम्भव नहीं। विस्तार के लिये आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

विशेष वक्तव्य—अकार अन्तादेश का फल उपर्युक्त उदाहरणों में कुछ नहीं प्रतीत होता । परन्तु जब प्राप्त और आपन्न शब्द स्त्रीलिङ्ग में आ कर टाबन्त हो कर 'प्राप्ता' और 'आपन्ना' बन जाते हैं तब इन का लिङ्गविशिष्टपरिभाषा के अनुसार जब द्वितीयान्त के साथ समास किया जाता है उस अवस्था में अकार अन्तादेश के कारण इन के अन्त्य आकार को ह्रस्व हो जाता है—यही इन को अकार अन्तादेश करने का फल है। यथा—प्राप्ता जीविकाम्—प्राप्तजीविका (स्त्री)। यहां समास में 'प्राप्ता' पद के अन्त्य आकार को ह्रस्व हो जाता है जो अन्य किसी तरह सम्भव नहीं[1]। 'जीविका' शब्द को तो पूर्ववत् उपसर्जनह्रस्व ही होता है। इस प्रकार समास में 'प्राप्त-जीविक' बन कर पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राप्त-जीविका' (स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। भाष्य आदि आकरग्रन्थों में यहां 'अ' का प्रश्लेष **प्राप्तापन्ने च द्वितीयया** (९६३) सूत्र में 'प्राप्तापन्ने + अ = प्राप्तापन्ने' इस तरह **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र से पूर्वरूप के द्वारा आर्षत्वेन दर्शाया गया है।[2] परन्तु भट्टोजिदीक्षित की यह नई सूझ है कि प्रश्लेष में आर्षसन्धि मानने की अपेक्षा सूत्रगत 'द्वितीयया' पद में ही 'द्वितीयया + अ = द्वितीयया' इस प्रकार सवर्णदीर्घ मान कर प्रश्लेष करना अधिक सुविधाजनक है। परन्तु नागेशभट्ट भाष्योक्त प्रश्लेष के ही पक्ष-पाती हैं।

अब अलम्पूर्व तत्पुरुषसमास में तथा गतिसमास (प्रादिसमास) में परवल्लिङ्गता का प्रतिषेध दर्शाते हैं—

[**लघु०**] अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात् समासः । निष्कौशाम्बिः ॥

व्याख्या—अलम्पूर्व तत्पुरुष का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह--अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः (कुमारी के लिये योग्य युवा आदि)। अलौकिकविग्रह—अलम् + कुमारी ङे[3] । यहां 'अलम्' अव्यय का 'कुमारी ङे' के साथ तत्पुरुषसमास होता है। समासविधायकसूत्र तो कोई है नहीं, फिर कैसे समास होगा ? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं—**अत एव ज्ञापकात् समासः**—अर्थात् जब वार्त्तिककार अलम्पूर्व तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध करने को कह रहे हैं तो इस से

---

१. समानाधिकरण परे न होने के कारण पुंवद्भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती।

२. **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (५१) द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा के कारण प्रकृतिभाव हो जाने से 'प्राप्तापन्ने + अ' में पूर्वरूप दुर्लभ था अतः यहां 'आर्षत्वेन' का आश्रय लिया गया है।

३. यहां 'अलम्' के योग में **नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगाच्च** (८९८) सूत्र-द्वारा कुमारी शब्द से चतुर्थी विभक्ति हुई है। 'अलम्' अव्यय है अतः इस के आगे 'सुँ' प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हुआ समझना चाहिये।

समासविधान में उन की अनुमति अपने आप ज्ञापित हो जाती है। क्योंकि यदि यहां समास का विधान न होता तो परवल्लिङ्गता भी प्राप्त न होती और न ही उस का निषेध किया जाता। इस निषेध से यह सुतरां सिद्ध हो जाता है कि अलम्पूर्व तत्पुरुष-समास वार्त्तिककारद्वारा अनुमत है। इस तरह 'अलम्+कुमारी ङे' में उपर्युक्त ज्ञापक से तत्पुरुषसमास तथा 'अलम्' का पूर्वनिपात ये दोनों सिद्ध हो जाते हैं। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँब्लुक् कर—अलम्-कुमारी। 'कुमारी' पद विग्रह में नियतविभक्तिक है अतः **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) से उस की उपसर्जनसंज्ञा कर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) सूत्रद्वारा उसे ह्रस्व अन्तादेश हो जाता है—अलम्कुमारि। मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार तथा **वा पदान्तस्य** (८०) से अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण=ङकार करने पर—अलङ्-कुमारि। अब विभक्ति लाने से पूर्व इस के लिङ्ग का निर्धारण करना आवश्यक है। 'अलङ्कुमारि' तत्पुरुषसमास है, **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्रद्वारा इसे परव-ल्लिङ्ग अर्थात् 'कुमारी' शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग होना चाहिये। परन्तु **द्विगु-प्राप्ता-ऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिकद्वारा उस का निषेध हो विशेष्यानुसार लिङ्ग हो जाता है। यहां विशेष्य 'युवा' (पुं०) विवक्षित है, अतः पुंलिङ्ग में विभक्ति-कार्य करने पर 'अलङ्कुमारिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परसवर्ण के अभाव में 'अलंकुमारिः' भी बनेगा। अलंकुमारिरयं युवा (यह युवक कुमारी के योग्य है)।

इसीप्रकार—अलं जीविकायै—अलंजीविकः (जीविका के लिये शक्त) आदि प्रयोग समझने चाहियें।[1]

गतिसमास अर्थात् प्रादिसमास में परवल्लिङ्गता के निषेध का उदाहरण यथा —निष्कौशाम्बिः। यहां निस् या निर् का 'कौशाम्बी ङसिँ' के साथ **निरादयः क्रान्ता-द्यर्थे पञ्चम्या** (वा० ६२) वार्त्तिकद्वारा प्रादितत्पुरुषसमास हो उपसर्जनह्रस्व करने से 'निष्कौशाम्बिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है[2]। 'निष्कौशाम्बि' में परवल्लिङ्गता के कारण

---

१. प्राचीन वैयाकरण **पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या** (वा० ६१) वार्त्तिक में आदि शब्द को प्रकारार्थक मान कर 'अलम्' का चतुर्थ्यन्त के साथ समास का विधान किया करते हैं। परन्तु कौमुदीकार उन से सहमत नहीं। उन का कथन है कि यदि ऐसा माना जाये तो 'अलं कुमार्यै, अलं जीविकायै' इत्यादि प्रकारेण स्वपदविग्रह न हो सकेगा क्योंकि उस वार्त्तिक से किया जाने वाला समास नित्य होता है। नित्य-समास का स्वपद विग्रह नहीं हो सकता। महाभाष्य में इस का स्वपदविग्रह ही देखा जाता है। अतः यहां उपर्युक्त वार्त्तिक से समास न मान कर ज्ञापकसिद्ध समास मानना ही उचित है।

२. 'निष्कौशाम्बिः' की सिद्धि पीछे (वा० ६२) पर विस्तार से कर चुके हैं वहीं देखें।

स्त्रीत्व प्राप्त था जो अब **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से निषिद्ध हो गया है। इस तरह इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग होगा। अतः—निष्कौशाम्बिरयम्पुरुषः, निष्कौशाम्बिरियं युवतिः[1], निष्कौशाम्बि मन्त्रिमण्डलम् इत्यादिप्रकारेण विशेष्यानुसार लिङ्ग का प्रयोग होता है।

अब अर्धर्च आदि शब्दों से लिङ्ग का विशेष विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६४) **अर्धर्चाः पुंसि च** ।२।४।३१।।

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम्। एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहाऽङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः ।।

अर्थः—'अर्धर्च' आदि शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त हों।

व्याख्या—अर्धर्चाः ।१।३। पुंसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। नपुंसके ।७।१। (**अपथं नपुंसकम्** से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। 'अर्धर्चाः' इस बहुवचननिर्देश से अर्धर्च आदि गणपठित शब्दों का ग्रहण होता है। **अर्थः**—(अर्धर्चाः) अर्धर्च आदि शब्द (पुंसि) पुंलिङ्ग में (च) तथा (नपुंसके) नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं। यथा—

लौकिकविग्रह— ऋचोऽर्धम्—अर्धर्चम् अर्धर्चो वा (ऋग्वेद के मन्त्र का ठीक आधा भाग)। अलौकिकविग्रह—ऋच् ङस्+अर्ध सुँ। यहां **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास, प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'अर्ध सुँ' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् करने पर—अर्धऋच्। **आद् गुणः** (२७) से गुण तथा **उरण्रपरः** (२९) से रपर करने से—अर्धर्च्। **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९६३) सूत्र से समासान्त अ (अ) प्रत्यय करने पर—अर्धर्च्+अ=अर्धर्च। 'अर्धर्च' यह तत्पुरुषसमास है अतः **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार इस का लिङ्ग परपद (उत्तरपद)=ऋच् के अनुसार होना चाहिये। ऋच्शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः 'अर्धर्च' को भी स्त्रीलिङ्ग प्राप्त होता है। परन्तु प्रकृत **अर्धर्चाः पुंसि च** (९६४) सूत्र से उस का बाध कर पुंस्त्व तथा नपुंसकत्व दोनों पर्याय से हो जाते हैं। प्रथमा के एक-वचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने पर पुंलिङ्ग में **'अर्धर्चः'** तथा नपुंसक में सुँ को अम् आदेश कर पूर्वरूप करने से 'अर्धर्चम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। समासाभावपक्ष में 'ऋचोऽर्धम्' यह वाक्य भी रहता है।

---

१. **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (वा०) से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है। ङीष्पक्ष में 'निष्कौशाम्बी' भी बनेगा।

२. ध्यान रहे कि यहां **ऋत्यकः** (६१) सूत्र से वैकल्पिक ह्रस्व तथा तन्मूलक सन्ध्य-भाव भी हो सकता है। इस तरह ह्रस्वपक्ष (सन्ध्यभाव) में—'अर्धऋचम्, अर्ध-ऋचः' ये प्रयोग भी बनेंगे।

अर्धर्चादिगण में अनेक असमस्त शब्दों का भी सन्निवेश है। वे शब्द भी पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। ग्रन्थकार एतद्गणान्तर्गत कुछ शब्दो को निदर्शनार्थ प्रस्तुत करते हैं—

(१) **ध्वजः, ध्वजम्** (झण्डा, पताका)।

केतनं ध्वजमस्त्रियाम्—इत्यमरः। गणरत्नमहोदधिकार आचार्य वर्धमान ने भी इस का अर्धर्चादियों में पाठ माना है। वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में इस का पुंस्त्व में बहुधा प्रयोग पाया जाता है। यथा—

किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा॥ (पञ्च० १.२६)

(२) **तीर्थः, तीर्थम्** (निपान[1], शास्त्र, ऋषिसेवित जल, गुरु आदि)।

इस की द्विलिङ्गता का उल्लेख लिङ्गानुशासन में भी किया गया है—**तीर्थ-प्रोथ-यूथ-गाथानि नपुंसके च** (लिङ्गानु० ७२)। गणरत्नमहोदधिकार ने भी इस का अर्धर्चादियों में पाठ माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि में **घट्टस्तीर्थोऽवतारे** इस प्रकार लिख कर स्वोपज्ञव्याख्या में **तीर्थः पुंक्लीबलिङ्गः** ऐसा लिखा है। परन्तु अमरकोष में इसे नपुंसक माना गया है—**निपानागमयोस्तीर्थम् ऋषिजुष्टजले गुरौ**। चतुर्थाश्रमसेवी महात्माओं का वर्गविशेष अपने नाम के आगे भी इस शब्द का प्रयोग करता है। यथा—शुद्धबोधतीर्थः, वेदानन्दतीर्थः आदि।

(३) **शरीरः, शरीरम्** (शरीर, देह, काया)।

गणरत्नमहोदधिकार ने भी इस का अर्धर्चादियों में पाठ माना है। परन्तु यह नपुंसक में ही प्रायः प्रसिद्ध है—**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही** (गीता २.२२)। अमरकोष में भी यह नपुंसक माना गया है—**गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः**।

(४) **मण्डपः, मण्डपम्** (जनविश्रामस्थल आदि)।

अमरकोष में भी यह पुन्नपुंसक माना गया है—**अथ मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः**। गणरत्नमहोदधिकार तथा हेमचन्द्र आदियों ने भी इसे पुन्नपुंसक कहा है।

(५) **यूपः, यूपम्** (यज्ञीय पशु को बान्धने का खम्भा)।

वैजयन्तीकोष में **यूपोऽस्त्री संस्कृतस्तम्भः** इस प्रकार इसे पुन्नपुंसक कहा गया है। गणरत्नमहोदधि में इस के स्थान पर 'यूथ' पाठ पाया जाता है। अमरकोष में भी ऐसा ही पाठ पाया जाता है—**यूथं तिरश्चां पुन्नपुंसकम्**।

६. **देहः, देहम्** (शरीर)।

---

१. कूप आदि के समीप पशुओं के जल पीने के लिये बनाया गया जलाधार=**चबच्चा** 'निपान' कहाता है।

कायो देहः क्लीबपुंसोः—इत्यमरः । लोक में इस का दोनों लिङ्गों में प्रचुर प्रयोग पाया जाता है । पुंलिङ्ग में यथा—**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः**—**गीता** (२.१८) । नपुंसक में यथा—**सा च त्रिधा भवेद् देहमिन्द्रियं विषयस्तथा**—[मुक्तावली-कारिका (३७)] ।

७. **अङ्कुशः, अङ्कुशम्** (हस्तिचालन में प्रयुक्त होने वाला अंकुश) ।

अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्—इत्यमरः । लोक में बहुधा इस के प्रयोग पुं० में पाये जाते हैं । यथा—**त्यजति तु यदा मोहान्मार्गं तदा गुरुरङ्कुशः**—[मुद्राराक्षस (३.६)] । गणरत्नमहोदधि में भी इस का उल्लेख है ।

८. **पात्रः, पात्रम्** (बरतन, परिमाण-विशेष) ।

लोक में भाजन अर्थ में यह नपुंसक तथा आढक (परिमाणविशेष) अर्थ में पुंलिङ्ग देखा जाता है । **पत्र-पात्र-पवित्र-सूत्रच्छदाः पुंसि च** (लिङ्गानु० १५६) इस सूत्रद्वारा भी इसे पुन्नपुंसक माना गया है ।

९. **सूत्रः, सूत्रम्** (सूत्र, तन्तु) ।

पत्र-पात्र-पवित्र-सूत्रच्छदा पुंसि च—इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र (१५६) द्वारा इसे पुन्नपुंसक माना गया है । पुंलिङ्ग में इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

इन के अतिरिक्त—शाकः, शाकम् । ओदनः, ओदनम् । दिवसः, दिवसम् । वलयः, वलयम् । अष्टापदः, अष्टापदम् (सुवर्ण) । वासरः, वासरम् । किरीटः, किरीटम् । मोदकः, मोदकम् । जानुः, जानु । सारः, सारम् । इत्यादि दर्जनों शब्द अर्धर्चादियों में परिगणित हैं।

इन शब्दों का द्विविध लिङ्गों में प्रयोग अद्यत्वे संस्कृत-वाङ्मय में एक अन्वेष्टव्य विषय है । बहुत से शब्द अब एकतर लिङ्ग में प्रयुक्त हो रहे हैं, दूसरे लिङ्ग में इन का प्रयोग लुप्त या विरलप्राय हो चला है । कुछ शब्द अर्थविशेष में एक लिङ्ग में तथा अर्थान्तर में दूसरे लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं । प्राचीन संस्कृतवाङ्मय का अधिकांश भाग इस समय लुप्तप्राय है जिस से इन शब्दों का चयन किया गया था । यह गण अकेला ही अनुसन्धानप्रेमियों के अनुसन्धान का विषय हो सकता है । इस गण में समय-समय पर अनेक प्रक्षेप और परिवर्त्तन होते रहे हैं । सम्भवतः आचार्य पाणिनि ने इस गण का स्वयं संकलन नहीं किया, तभी तो भाष्यकार 'अर्धर्चाः' इस बहुवचननिर्देश से इस प्रकार के अन्य शब्दों का संग्रह मानते हैं । यह गण बाद में संगृहीत किया गया प्रतीत होता है ।

अब इस लिङ्गप्रकरण के प्रसङ्ग में अतीव प्रचलित एक समुचित न्याय का वार्त्तिकरूप से उल्लेख करते हैं—

[लघु०] वा०—(६४) **सामान्ये नपुंसकम्** ॥

मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ॥

अर्थः—सामान्य की विवक्षा में नपुंसकलिङ्ग प्रयुक्त होता है ।

व्याख्या—विशेष की विवक्षा न होने पर जब किसी अर्थ को सामान्यरूप से कहा जाये तब उस अर्थ के वाचक शब्द का नपुंसकलिङ्ग से निर्देश करना चाहिये—यह प्रकृत वार्त्तिक का तात्पर्य है। यह बात न्यायसंगत भी है। पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व की अविवक्षा में पारिशेष्यात् नपुंसकलिङ्ग के द्वारा ही अर्थ को प्रकट किया जा सकता है। यथा—तस्याः किं जातम्? (उस का क्या जन्मा?) यहां 'किम्' यह सामान्य में नपुंसक है। विशेष विवक्षित होने पर—तस्याः पुत्रो जातः, तस्याः पुत्री जाता—इत्यादिप्रकारेण पुंलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से निर्देश किया जाता है।

इस विषय में कुछ साहित्यिक उदाहरण यथा—

(१) **त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतुपस्तिलाः।** (मनु० ३.२३५)

श्राद्ध में तीन चीज़ें पवित्र होती हैं—दौहित्र (दोहता), कुतुप (नेपाली कम्बल) और तिल। यहां 'त्रीणि' यह सामान्योक्ति में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया गया है। वे तीन क्या हैं? बाद में यथालिङ्ग निर्दिष्ट किये गये हैं।

(२) **सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।**
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते॥ (मनु० ८.१४६)

यहां 'भुज्यमानानि' यह सामान्य में नपुंसक है। बाद में उन का यथालिङ्ग निर्देश किया गया है।

(३) **त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्।** (मनु० ३.२३५)

यहां भी 'त्रीणि' यह सामान्य में नपुंसक है।

(४) **अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।**
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २.१२१)

यहां 'चत्वारि' यह सामान्य में नपुंसक है।

(५) **द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।**
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥
(कुमार० ५.७१)

यहां 'द्वयम्' यह सामान्य में नपुंसक का प्रयोग है।

कहीं-कहीं विभिन्नलिङ्गी कुछ पदार्थों का पहले उल्लेख कर पीछे सामान्य-निर्देश में नपुंसक का प्रयोग किया जाता है। यथा—

(६) **सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम्।** (रामायण ३.६७.१५)

(७) **अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।** (महाभारत १२.६१.५२)

(८) **तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।**
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (हितोप० १.६०)

(९) **आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।**
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ (हितोप० २८)

(१०) **आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।**
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते॥ (माघ २.३०)

इन में पदार्थों का पहले अपने अपने लिङ्गों से निर्देश कर बाद में बुद्धिस्थ सामान्य की अपेक्षा से नपुंसक का प्रयोग किया गया है।

अव्ययों को अलिङ्ग माना जाता है अतः उन के समानाधिकरण विशेषणों को **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) द्वारा नपुंसकलिङ्ग से ही प्रकट किया जाता है। जैसे—प्रातः कमनीयम् (सुन्दर प्रातःकाल), सायं रम्यम् (सुन्दर सायंकाल) आदि में 'प्रातः' और 'सायम्' अव्यय हैं, अतः इन के विशेषण 'कमनीयम्' और 'रम्यम्' नपुंसक में प्रयुक्त किये गये हैं। अव्ययों के साथ संख्या का योग नहीं होता अतः उन के विशेषणों में औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग किया जाता है।

पीछे (३७३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रत्येक क्रिया के दो भाग हुआ करते हैं (१) फल और (२) व्यापार। जिस उद्देश्य से क्रिया की जाती है वह क्रिया का फल तथा उस फल की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला यत्न उस क्रिया का व्यापार कहलाता है। यथा पच् (पकाना) क्रिया में विक्लिति (तण्डुल आदि का गलना नरम हो जाना) फल तथा उस के लिये चूल्हे में आग जलाना, बटलोई आदि में कड़छी आदि के द्वारा गले-अनगले को देखते रहना और अन्त में गल जाने पर बटलोई आदि को चूल्हे से उतारना इत्यादि क्रियाएं व्यापार कहाती हैं। व्यापार फल को उत्पन्न करता है अतः फल व्यापार का कर्म होता है। यथा—'स पचति' का अर्थ है—वह तण्डुल आदियों की विक्लिति को उत्पन्न करता है। जब हम क्रिया के साथ 'मृदु पचति' इत्यादिप्रकारेण कोई विशेषण लगाते हैं तो वह विशेषण क्रिया के फलांश के साथ ही जुड़ता है और वह भी फलांश की तरह व्यापार का कर्म ही होता है अतः उस कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति आती है। परन्तु लिङ्ग की विवक्षा में **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) से उस में नपुंसक का ही प्रयोग किया जाता है। क्रिया अद्रव्यरूप होती है अतः इन विशेषणों के साथ द्विवचन और बहुवचन का योग नहीं होता औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग किया जाता है। अत एव लोक में प्रसिद्धि है—**क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबता चेष्यते**[1]। इस तरह 'मृदु पचति' का अर्थ हुआ—मृदु=कोमल=नरम=हल्की विक्लिति को उत्पन्न करता है[2]। यहां 'मृदु' शब्द नपुंसकलिङ्ग में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। इस के आगे 'अम्' विभक्ति का **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से लुक् हुआ है। इसी तरह—शोभनं पठति, तीव्रं धावति त्वरितमधीते आदियों में क्रियाविशेषणों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

---

१. देखें काशिका (२.४.१८)।

२. व्याख्याकार क्रियाविशेषणों का विवरण इस प्रकार किया करते हैं—

मृदु पचति—मृदु यथा भवति तथा पचति।

शोभनं पठति—शोभनं यथा भवति तथा पठति।

तीव्रं धावति—तीव्रं यथा भवति तथा धावति।

अभ्यास [५]

(१) निम्नस्थ वचनों की सप्रसङ्ग विशद व्याख्या करें—

[क] अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

[ख] अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् ।

[ग] अलङ्कुमारिः । अत एव ज्ञापकात्समासः ।

[घ] सामान्ये नपुंसकम् ।

[ङ] संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् ।

(२) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] अव्यय के विशेषणों का कौन सा लिङ्ग हो और क्यों ?

[ख] 'महतां सेवा' इस विग्रह में आकार अन्तादेश होगा या नहीं ?

[ग] 'द्वादश' की सिद्धि तत्पुरुष में कैसे की जायेगी ?

[घ] 'द्विरात्रम्, त्रिरात्रम्' में पुंस्त्व क्यों नहीं होता ?

[ङ] **प्राप्तापन्ने०** सूत्र में अकारप्रश्लेष कैसे और क्यों किया जाता है ?

[च] 'एकादश' में आकार अन्तादेश कैसे होता है ?

[छ] 'द्विशतम्' का 'दो सौ' अर्थ है या कुछ अन्य ?

[ज] 'अलंकुमारिः' में किस सूत्र से समास होता है ?

(३) तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता के अभाव वाले कोई से चार स्थल सप्रमाण दर्शाएं ।

(४) **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** की व्याख्या करते हुए सूत्र में 'तत्र' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(५) तद्धितार्थद्विगु और समाहारद्विगु के लिङ्गों और वचनों में क्या अन्तर होता है ? सप्रमाण टिप्पण करें ।

(६) निम्नस्थ युगलों में कौन सा रूप व्याकरणसम्मत है ? सिद्ध करें—

[क] त्रिरात्रम्, त्रिरात्रः ।

[ख] अर्धर्चः, अर्धर्चम् ।

[ग] कुक्कुटमयूर्यौ, मयूरीकुक्कुटौ ।

[घ] त्रिविंशतिः, त्रयोविंशतिः ।

[ङ] द्वाशीतिः, द्व्यशीतिः ।

[च] पुण्यरात्रः, पुण्यरात्रिः ।

[छ] निरङ्गुलिः, निरङ्गुलम् ।

[ज] धर्मराजा, धर्मराजः ।

[झ] नृपसखः, नृपसखा ।

[ञ] अष्टाचत्वारिंशत्, अष्टचत्वारिंशत् ।

[ट] महज्जातीयः, महाजातीयः ।

[ठ] धनक्रीता, धनक्रीती ।

(७) तत्पुरुषसमास दो पदों में ही होता है—इस पर टिप्पणी करें।[1]

(८) **द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** इस वार्त्तिक में 'गति-समास' से क्या अभिप्रेत है ? स्पष्ट करें।

(९) **उपपदमतिङ्** में 'अतिङ्' के ग्रहण से मुनि को क्या अभिप्रेत है ? स्पष्ट करें।

(१०) द्विविध विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें— १. सर्वरात्रः । २. द्व्यङ्गुलम् । ३. अहोरात्रः । ४. त्रयोदश । ५. द्वादश । ६. पूर्वाह्णः । ७. कुम्भकारः । ८. द्व्यहः । ९. परमराजः । १०. महाजातीयः । ११. प्राप्तजीविकः । १२. अश्वक्रीती । १३. व्याघ्री । १४. कच्छपी । १५. द्वित्राः ।

(११) **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह०** इस परिभाषा की उपयोगिता उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें।

---

१. तत्पुरुषसमास में यह बात विशेष ध्यातव्य है कि यह समास एक बार में दो ही पदों में हुआ करता है इस से अधिक पदों में नहीं। कारण यह है कि इस प्रकरण में **सुँप् सुँपा** अधिकृत है अतः एक सुँबन्त का दूसरे सुँबन्त के साथ अर्थात् दो पदों में ही समास का विधान किया गया है। अव्ययीभावसमास भी इसी तरह दो ही पदों में हुआ करता है। यदि दो से अधिक पदों में तत्पुरुषसमास करना हो तो पहले दो पदों में तत्पुरुष कर बाद में उस के साथ एक एक पद जोड़ते हुए नया नया तत्पुरुष करते जाना चाहिये। यथा— राजपुरुषगृहद्वारमध्ये (राजा के सेवक के घर के द्वार के मध्य में)। यहां पाञ्च पदों में तत्पुरुषसमास करना है। इस को इस प्रकार किया जायेगा—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, तस्य = राजपुरुषस्य। यहां तक एक तत्पुरुष हुआ। अब इस के साथ 'गृहम्' पद जोड़ कर दूसरा तत्पुरुष होगा—राजपुरुषस्य गृहम्—राजपुरुषगृहम्, तस्य = राजपुरुषगृहस्य। अब इस के साथ 'द्वारम्' पद जोड़ कर तीसरा तत्पुरुष होगा—राजपुरुषगृहस्य द्वारम्—राजपुरुषगृहद्वारम्, तस्य = राजपुत्रगृहद्वारस्य। अब इस के साथ 'मध्यम्' पद जोड़ कर चौथा तत्पुरुष होगा—राजपुरुषगृहद्वारस्य मध्यम्—राजपुरुषगृहद्वारमध्यम्, तस्मिन् = राजपुत्रगृहद्वारमध्ये। इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(१) गुणि-गण-गणनाऽऽरम्भे; (२) सागर-शुक्ति-मध्य-पतितम्; (३) पर-धनाऽऽस्वादनसुखम्; (४) मकर-वक्त्र-दंष्ट्राऽन्तरात्; (५) प्रतिनिविष्ट-मूर्ख-जन-चित्तम्; (६) ज्ञान-लव-दुर्विदग्धः; (७) मनुष्येश्वर-धर्मपत्नी; (८) नीलोत्पल-पत्रधारया; (९) लङ्केश्वर-कोप-भीतः, (१०) सलिल-मज्जनाऽऽकुल-जन-हस्ताऽऽलम्बनम्। इत्यादि। वक्ष्यमाण बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व समास दो या दो से अधिक पदों में एक बार ही हो जाते हैं क्योंकि उन के विधान में 'अनेकं सुँबन्तम्' कहा गया है।

(१२) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. अहःसर्वैकदेश० । २. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । ३. प्राप्तापन्ने च द्वितीयया । ४. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः० । ५. राजाहःसखिभ्यष्टच् । ६. द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः । ७. आन्महतः समानाधिकरण० । ८. रात्राह्नाहाः पुंसि । ९. त्रेस्त्रयः । १०. उपपदमतिङ् । ११. द्विगुप्राप्ता० । १२. अर्धर्चाः पुंसि च । १३. रूपरात्रिरथन्तरेषु रुँत्वं वाच्यम् । १४. पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ।

(१३) क्रियाविशेषण किसे कहते हैं ? इस में कौन सा लिङ्ग और कौन सी विभक्ति प्रयुक्त होती है ? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(१४) त्रयश्च शतं च त्रिशतम्—यहां त्रेस्त्रयः (९६१) सूत्रद्वारा 'त्रि' को त्रयस् आदेश क्यों नहीं होता ?

[लघु०]　　**इति तत्पुरुषः**

यहां पर तत्पुरुषसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:o:——

अथ बहुव्रीहिसमासः

तत्पुरुषसमास के विवेचन के अनन्तर अब अष्टाध्यायी-क्रमानुसार बहुव्रीहिसमास का निरूपण आरम्भ करते हैं । इस समास में समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्यपद के अर्थ का बोध होता है अतः इस समास को अन्यपदप्रधान (अन्यत् पदं प्रधानं यत्र) कहा जाता है । अन्यपदप्रधान होने के कारण ही इस समास का लिङ्ग और वचन भी वही होता है जो अन्य पद का हुआ करता है । यथा—क्षीणं वित्तं यस्य सः=क्षीणवित्तः (पुरुषः), क्षीणं वित्तं यस्याः सा=क्षीणवित्ता (नारी), क्षीणं वित्तं यस्य तत्=क्षीणवित्तं (कुलम्) । इत्यादि ।

सब से प्रथम बहुव्रीहि का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(९६५) शेषो बहुव्रीहिः ।२।२।२३॥**

अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ॥

अर्थः—**चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) इस द्वन्द्वविधान से पूर्व पूर्व प्रथमान्त पदों का समास बहुव्रीहिसंज्ञक हो—यह अष्टाध्यायी में अधिकृत किया जाता है ।

व्याख्या—शेषः ।१।१। बहुव्रीहिः ।१।१। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से) । यह अधिकार-सूत्र है । इस का अधिकार यहां से ले कर **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से पूर्व तक अष्टाध्यायी में जाता है । इस अधिकार में पाञ्च सूत्र आते हैं—

(१) **अनेकमन्यपदार्थे** (२.२.२४) ।

(२) **संख्ययाऽव्ययासन्नाऽदूराधिकसंख्याः संख्येये** (२.२.२५)।
(३) **दिङ्नामान्यन्तराले** (२.२.२६)।
(४) **तत्र तेनेदमिति सरूपे** (२.२.२७)।
(५) **तेन सहेति तुल्ययोगे** (२.२.२८)।

इन में केवल एक **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र ही लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में पढ़ा गया है, शेष सूत्रों का काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में अवलोकन करें। अर्थः— (शेषः समासः) शेष समास (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहिसंज्ञक हो—यह द्वन्द्व से पूर्व अर्थात् अगले पाञ्च सूत्रों में अधिकृत किया जाता है। 'शेष' किसे कहते हैं? **उक्तादन्यः शेषः**— जो कहने से बच गया है अर्थात् जो कहा नहीं गया वह 'शेष' है। क्या कहा नहीं गया? **यस्य त्रिकस्य (सुँब्विभक्तेः) अनुक्तः समासः स शेषः, कस्य चानुक्तः? प्रथमायाः** —(महाभाष्ये)। इस समासप्रकरण में **द्वितीया श्रितातीत०** (९२४), **तृतीया तत्कृतार्थेन०** (९२५), **चतुर्थी तदर्थार्थ०** (९२७), **पञ्चमी भयेन** (९२८), **षष्ठी** (९३१), **सप्तमी शौण्डैः** (९३४)—इस प्रकार सब विभक्तियों का नाम ले ले कर समास-विधान किया जा चुका है, केवल 'प्रथमा' का नाम ले कर कोई समास विधान नहीं किया गया अतः प्रथमा=प्रथमान्त ही शेष है[1]। शेष अर्थात् प्रथमान्तों का समास ही बहुव्रीहिसंज्ञक हो—यह यहां फलित होता है, इस की अगले पाञ्च सूत्रों में अनुवृत्ति होगी, यही इस के अधिकृत करने का प्रयोजन है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि प्रथमान्तों के इस बहुव्रीहिसमास में सब प्रथमान्त समानाधिकरण अर्थात् एक ही वाच्य के वाचक होते हैं।

अब इस बहुव्रीहिसमास के अन्तर्गत प्रधान सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६६) **अनेकमन्यपदार्थे ।२।२।२४।।**

अनेकं प्रथमान्तम् अन्यस्य पदस्यार्थे वर्त्तमानं वा समस्यते, स बहुव्रीहिः ।।

अर्थः—अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान एक से अधिक प्रथमान्त पद परस्पर विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

व्याख्या—अनेकम् ।१।१। अन्यपदार्थे ।७।१। **प्राक्कडारात्समासः**, **विभाषा**, **शेषो बहुव्रीहिः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। न एकम्—अनेकम्, नञ्तत्पुरुषः। अन्यच्च तत् पदम्—अन्यपदम्, तस्य=अन्यपदस्य, कर्मधारयसमासः। अन्यपदस्य अर्थः— अन्यपदार्थः, तस्मिन्=अन्यपदार्थे, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। 'वर्त्तमानम्' इत्यध्याहार्यम्। **अर्थः**—(अन्यपदार्थे) अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान (अनेकम्) एक से अधिक (शेषः=

---

१. कर्मधारयसमास, यद्यपि प्रथमान्तों का ही समास होता है तथापि वह 'प्रथमा' कह कर विधान नहीं किया गया अतः वह शेष नहीं। **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** (वा० ५८) वार्त्तिक में प्रथमा का नाम तो आया है पर वह वार्त्तिकगत होने से पाणिनि के आश्रययोग्य नहीं अतः वह भी शेष नहीं।

प्रथमान्तं पदम्) प्रथमान्त पद (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहिसञ्ज्ञक होता है।

इस समास में समस्यमान पदों से भिन्न अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है। समासगत सब पद मिल कर उस अन्यपद के अर्थ को ही विशिष्ट करते हैं, स्वयं उन का अपना अर्थ अन्यपद के अर्थ के प्रति गौण हो जाता है। अत एव **सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः** (बहुव्रीहिसमास के सब पद गौण होते हैं) ऐसा कहा जाता है। 'बहुव्रीहि' शब्द का अर्थ है—बहवो व्रीहयो यस्य स बहुव्रीहिः (बहुत चावलों वाला)। जैसे 'तत्पुरुष' शब्द स्वयं में 'तस्य पुरुषः—तत्पुरुषः' इस प्रकार तत्पुरुषसमास का सुन्दर उदाहरण है और इसी कारण समास का नाम 'तत्पुरुष' पड़ चला है वैसे 'बहुव्रीहि' शब्द भी स्वयं में बहुव्रीहिसमास का सुन्दर उदाहरण है अतः इसी के नाम पर इस समास की प्रसिद्धि हो चली है। यह प्रसिद्धि सम्भवतः पाणिनि आचार्य से पूर्व की ही है अतः आचार्य ने अपने शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) में इसी प्राचीन संज्ञा का उपयोग किया है[1]। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने भी यही कहा है—

बहवो व्रीहयोऽस्येति यत्र स्यात्स तथोच्यते।

यह समास तत्पुरुषसमास की तरह केवल दो पदों में ही नहीं होता बल्कि दो या दो से अधिक पदों में भी होता है। अत एव इस के विधायकसूत्र में 'अनेकम्' पद का प्रयोग किया गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चत्वारि मुखानि यस्य सः=चतुर्मुखः[2] (चार मुखों वाला—अर्थात् ब्रह्मा)। अलौकिकविग्रह—चतुर् जस्+मुख जस्। यहां दोनों पद अपने से भिन्न अन्यपद (ब्रह्मा) के अर्थ में वर्त्तमान हैं अर्थात् उसे विशिष्ट करते हैं अतः प्रकृत

---

१. पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य शौनक ने अपने बृहद्-देवता नामक ग्रन्थ में सब समासों का नामनिर्देश करते हुए लिखा है—

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः॥ (२.१०५)

२. अन्य पद के अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रायः बहुव्रीहिसमास के विग्रह में 'यद्' सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है। जैसे यहां 'यस्य' का प्रयोग किया गया है। इसीप्रकार अर्थानुसार यम्, येन, यस्मै, यस्मात्, यस्मिन्, यत्र आदि का प्रयोग होता है। अन्यपद के लिङ्ग और वचन के अनुसार यद् शब्द का भी उसी लिङ्ग और उसी वचन में प्रयोग होता है। कहीं कहीं इदम्, एतद्, अदस् सर्वनामों का भी प्रयोग किया जाता है। यद् आदि के इन प्रयोगों के बाद सम्पूर्ण विग्रहार्थ को अपने गर्भ में समेटे हुए विशेष्यानुसार 'सः' आदि सर्वनामों का अन्त में प्रयोग किया जाता है। जैसे 'चत्वारि मुखानि यस्य सः' में 'सः' कहा गया है। कहीं कहीं अन्त में 'इति' का भी प्रयोग होता है। यथा—चत्वारि मुखान्यस्येति चतुर्मुखः।

अनेकमन्यपदार्थे (९६६) सूत्र से इन पदों का परस्पर बहुव्रीहि समास हो जाता है। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् तथा अग्रिमसूत्र (९६७) से विशेषण का पूर्वनिपात कर विशेष्यानुसार लिङ्ग और विभक्ति लाने से 'चतुर्मुखः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। यहां चतुर् और मुख दोनों पद अपने अपने अर्थों को अन्यपद के अर्थ में समर्पित करते हुए चारमुखों वाले देवविशेष को कह रहे हैं अतः वे अन्यपदार्थ में वर्त्तमान हैं। इसीप्रकार—क्षीणं वित्तं यस्य सः = क्षीणवित्तः पुरुषः, क्षीणं बलं यस्य सः = क्षीणबलो राजा, छिन्नं मूलं यस्य सः = छिन्नमूलो वृक्षः, स्वल्पं तोयं यस्य सः = स्वल्पतोयस्तडागः, आरूढो वानरो यं सः = आरूढवानरः पादपः—इत्यादि जानने चाहियें। बहुव्रीहिसमास का लिङ्ग-विभक्ति-वचन वही होता है जो अन्यपद का हुआ करता है, क्योंकि इस के अपने पद तो गौण हुआ करते हैं वे अन्यपद के अर्थ में स्थित होते हैं।

दो से अधिक पदों का बहुव्रीहि यथा—आरूढा बहवो वानरा यं सः = आरूढबहुवानरो वृक्षः। यहां 'आरूढ जस् + बहु जस् + वानर जस्' इन तीन पदों के अलौकिकविग्रह में प्रकृत **अनेकमन्यदार्थे** (९६६) से समास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (तीनों जस् प्रत्ययों) का लुक् हो कर विशेष्य (वृक्ष) के अनुसार लिङ्ग-विभक्ति-वचन लाने पर 'आरूढबहुवानरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। इसीप्रकार—मत्ता बहवो मातङ्गा यस्मिन् तत् = मत्तबहुमातङ्गं वनम्। नीलमुज्ज्वलं वपुर्यस्य सः = नीलोज्ज्वलवपुर्मनुष्यः। पञ्च गावो धनं यस्य सः = पञ्चगवधनो[3] ब्राह्मणः आदि।

अब बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात का नियम दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६७) सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ। २।२।३५॥

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः॥

---

१. समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (चत्वारि मुखानि यस्य सः) भी रहता है।

२. यहां पर यद्यपि 'बहवश्च ते वानराः—बहुवानराः' इस प्रकार कर्मधारयसमास कर पुनः 'आरूढा बहुवानरा यं स आरूढबहुवानरः' इस तरह बहुव्रीहि करने पर द्विपदबहुव्रीहि से ही कार्य हो सकता है तथापि तीनों पदों का एक साथ विग्रह करने पर भी यही रूप बने इस के लिये सूत्र में 'अनेकम्' पद का ग्रहण किया गया है।

३. इस की सविस्तर सिद्धि पीछे (९३८-९३९) सूत्र पर दर्शा चुके हैं वहीं देखें।

अर्थः--बहुव्रीहिसमास में सप्तम्यन्त पद तथा विशेषण पद पूर्व में प्रयुक्त हो। **अत एव ज्ञापकाद्०**--यहां सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात से यह ज्ञापित होता है कि क्वचित् व्यधिकरणपदबहुव्रीहिसमास भी हुआ करता है।

व्याख्या--सप्तमीविशेषणे ।१।२। बहुव्रीहौ ।७।१। पूर्वम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से)। 'प्रयुज्यते' इति क्रियापदमध्याहार्यम्। सप्तमी च विशेषणं च सप्तमीविशेषणे, द्वन्द्वसमासः परवल्लिङ्गता च। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) के अनुसार तदन्तविधि हो कर 'सप्तम्यन्तम्' बन जाता है। अर्थः--(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (सप्तमीविशेषणे) सप्तम्यन्त पद और विशेषण पद (पूर्वम्) पूर्व में प्रयुक्त होते हैं। बहुव्रीहिविधायक सूत्र में 'अनेकम्' इस प्रथमान्त पद के कारण तद्बोध्य सब पद प्रथमानिर्दिष्ट होने से उपसर्जनसंज्ञक होते थे अतः **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से सब का पूर्वनिपात पर्यायतः प्राप्त होता था। इस पर यह सूत्र नियम करता है कि बहुव्रीहिसमास में सप्तम्यन्त पद का तथा विशेषणपद का पूर्वनिपात होता है। विशेषण के पूर्वनिपात के उदाहरण 'चतुर्मुखः, क्षीणवित्तः, क्षीणबलः' आदि अनेक पीछे दर्शाये जा चुके हैं। सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात का उदाहरण 'कण्ठे कालो यस्य सः=कण्ठेकालः' आदि है। अब इस की सिद्धि की जायेगी।

परन्तु यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि बहुव्रीहिसमास तो प्रथमान्त पदों का ही विधान किया गया है अतः इस में कोई पद सप्तम्यन्त नहीं हो सकता तो पुनः यहां सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात का विधान कैसे किया जा रहा है? इस का उत्तर कौमुदीकार इस प्रकार देते हैं--

अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः

अर्थात् जब बहुव्रीहिसमास में सब पद प्रथमान्त होने से समानाधिकरण ही होते हैं कोई पद व्यधिकरण नहीं होता तो पुनः आचार्य का इस में सप्तम्यन्त पद का पूर्वनिपात करना यह ज्ञापित करता है कि क्वचित् व्यधिकरणपदों में भी बहुव्रीहिसमास हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो सूत्रकार सप्तम्यन्त पद का बहुव्रीहि में पूर्वनिपात क्यों कहते? उन का ऐसा कहना व्यधिकरणपदबहुव्रीहिसमास के होने का ज्ञापक है।

---

१. चतुर्मुखः, क्षीणवित्तः, क्षीणबलः, छिन्नमूलः, आरूढवानरः--इत्यादियों में समस्यमान पद एक ही अधिकरण (वाच्य) को कहते हैं, अतः इन का समास समानाधिकरणबहुव्रीहि कहलाता है। परन्तु जब समस्यमान पद भिन्न-भिन्न अधिकरणों या वाच्यार्थों को कहते हैं तो उसे व्यधिकरणबहुव्रीहिसमास कहा जाता है। यथा--उरसि लोमानि यस्य स उरसिलोमा। कण्ठे कालो यस्य स कण्ठेकालः। शरेभ्यो जन्म यस्य स शरजन्मा (कार्त्तिकेय)। अग्रे जन्म यस्य सोऽग्रजन्मा (ब्राह्मण या बड़ा भाई)। इन्दुर्मौलौ यस्य स इन्दुमौलिः (शिव)। चन्द्रो मौलौ यस्य स चन्द्रमौलिः (शिव)। दण्डः पाणौ यस्य स दण्डपाणिः। चक्रं पाणौ यस्य स चक्रपाणिः (विष्णु)। पद्मं नाभौ यस्य स पद्मनाभः (विष्णु)। इत्यादि व्यधिकरणबहुव्रीहि

अब इस व्यधिकरण बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त पद के पूर्वनिपात को दर्शाते हैं—

लौकिकविग्रह—कण्ठे कालो यस्य सः = कण्ठेकालः (कण्ठ में काल = नील वर्ण है जिस के अर्थात् नीलकण्ठ महादेव या पक्षिविशेष)। अलौकिकविग्रह—कण्ठ ङि + काल सुँ। यहां **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) में सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात करने के सामर्थ्य से क्वचित् व्यधिकरण पदों में भी बहुव्रीहिसमास के ज्ञापित होने से **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) द्वारा अन्यपदार्थ में वर्त्तमान दोनों पदों का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। इस समास में **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) सूत्र से सप्तम्यन्त का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (ङि और सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। इन में सुँ का लुक् तो हो जाता है परन्तु 'ङि' के लुक् का अग्रिम-सूत्र से निषेध होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६८) हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्। ६।३।८॥

हलन्ताद् अदन्ताच्च सप्तम्या अलुग् (उत्तरपदे परे संज्ञायां गम्यमानायाम्)। कण्ठेकालः। प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः॥

अर्थः—सञ्ज्ञा गम्यमान होने पर उत्तरपद के परे रहते हलन्त और अदन्त शब्दों से परे सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता।

व्याख्या—हलदन्तात् ।५।१। सप्तम्याः ।६।१। संज्ञायाम् ।७।१। अलुक् ।१।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** सूत्र पीछे से अधिकृत है)। हल् च अत् च हलत्, हलत् अन्ते यस्य स हलदन्तः, तस्मात् = हलदन्तात् (शब्दात्), द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। न लुक्—अलुक्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(संज्ञायाम्) संज्ञा गम्यमान हो तो (हलदन्तात्) हलन्त या अदन्त शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (अलुक्) लुक् नहीं होता (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर।

हलन्त से परे सप्तमी का अलुक् यथा—

के उदाहरण हैं। व्यधिकरणबहुव्रीहि में पदों की विभक्तियां भिन्न भिन्न होती हैं और समानाधिकरणबहुव्रीहि में एक समान। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि ज्ञापकसिद्ध यह व्यधिकरणबहुव्रीहि सर्वत्र नहीं होता, लोकप्रसिद्ध कुछ प्रयोगों तक ही सीमित है। कहा भी गया है—**ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र**। अत एव 'पञ्चभिर्भुक्तमस्य', 'रत्नैः शोभाऽस्य' इत्यादियों में व्यधिकरणबहुव्रीहि नहीं होता।

त्वचिसारः (त्वक् में ही जिस का सार है अर्थात् बांस का पेड़)। युधिष्ठिरः (युद्ध में स्थिर अर्थात् धर्मराज युधिष्ठिर) इत्यादि[1]।

अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् यथा—

अरण्येतिलकाः (जंगली तिल), अरण्येमाषकाः (जंगली माष), वनेकिंशुकाः, वनेहरिद्रकाः आदि। इन में **संज्ञायाम्** (२.१.४३)[2] सूत्र से तत्पुरुषसमास हुआ है। अतः उत्तरपद के परे रहते प्रकृतसूत्र से सप्तमी का अलुक् हो गया है।

प्रकृत में 'कण्ठ ङि+काल' यह शिव या पक्षिविशेष की सञ्ज्ञा है। यहां 'कण्ठ' इस अदन्त से परे सप्तमीविभक्ति (ङि) विद्यमान है अतः **हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्** (९६८) सूत्र से सप्तमी के लुक् का निषेध हो जाता है। पुनः 'ङि' के ङकार का लोप हो कर गुण करने से 'कण्ठेकाल' यह समस्त शब्द उपपन्न होता है। अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विशेष्यानुसार लिङ्ग मानने से 'कण्ठेकालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

नोट—इस व्यधिकरणबहुव्रीहि में सप्तम्यन्त का सर्वत्र पूर्वनिपात नहीं होता। इस के भी कई अपवादस्थल हैं। यथा—दण्डः पाणौ यस्य सः=दण्डपाणिः, चक्रं पाणौ यस्य सः=चक्रपाणिः, असिः पाणौ यस्य सः=असिपाणिः। इन में **प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ** (वा०) वार्तिकद्वारा सप्तम्यन्त का परनिपात हो जाता है।

अनेकमन्यपदार्थे (९६६) द्वारा अन्यपदार्थ को विशिष्ट करने वाले प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहिसमास कहा गया है। प्रथमान्त पदों के अन्यपदार्थ द्वितीयान्त आदि ही हो सकते हैं। अतः द्वितीयान्त आदि अन्यपदार्थों में ही यह समास होता है। अब इन के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

द्वितीयान्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्राप्तम् उदकं यं सः=प्राप्तोदको ग्रामः (जिसे पानी प्राप्त हो

---

१. यहां 'त्वचिसारः' में बहुव्रीहिसमास तथा 'युधिष्ठिरः' में **सञ्ज्ञायाम्** (२.१.४३) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हुआ है। 'युधि+स्थिर' में **गवि-युधिभ्यां स्थिरः** (८.३.९५) सूत्र से सकार को षत्व होकर **ष्टुना ष्टुः** (६४) सूत्रद्वारा थकार को ष्टुत्वेन ठकार हो जाता है।

२. **सञ्ज्ञायाम्** (२.१.४३)। अर्थः—संज्ञा गम्य हो तो सप्तम्यन्त सुँबन्त समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

३. वस्तुतः यहां **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६.३.११) सूत्र से ही सप्तमी का अलुक् होता है। परन्तु संक्षेपवश यह सूत्र लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में पढ़ा नहीं गया अतः प्रकृत सूत्र से काम चला लिया गया है। विस्तार के लिये काशिका या सिद्धान्तकौमुदी का अवलोकन करें।

चुका है ऐसा ग्राम आदि[1])। अलौकिकविग्रह—प्राप्त सुँ + उदक सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (ग्राम) को विशिष्ट कर रहे हैं अतः अन्यपदार्थ में वर्त्तमान इन पदों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से वैकल्पिक बहुव्रीहिसमास होकर समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, विशेषण का **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) से पूर्वनिपात, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् कर **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश किया तो 'प्राप्तोदक' यह समस्त शब्द उपपन्न हुआ। अब विशेष्यानुसार इस से लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राप्तोदकः'[2] (ग्रामः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहता है।

इसीप्रकार—आरुढो वानरो यं सः = आरूढवानरः (वृक्षः), आरूढसैनिकोऽश्वः—इत्यादि द्वितीयान्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

तृतीयान्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान् (जो रथ को पहुँचा चुका है ऐसा बैल)। अलौकिकविग्रह—ऊढ सुँ + रथ सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (अनडुह् = बैल) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान इन का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो प्रातिपदिकसंज्ञा, विशेषण का पूर्वनिपात तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् कर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'ऊढरथः' (अनड्वान्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहेगा।

इसीप्रकार—पीतम् उदकं येन स पीतोदकोऽश्वः, निर्जितः कामो येन स निर्जितकामः शिवः, दृष्टा मथुरा येन स दृष्टमथुरो[3] देवदत्तः इत्यादि तृतीयान्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

चतुर्थ्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—उपहृतः पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः[4] (जिसे पशु भेंट चढ़ाया

---

१. विशेष्य दर्शाने के लिये ही निदर्शनार्थ 'ग्रामः' पद का प्रयोग किया गया है, समास तो 'प्राप्तोदकः' मात्र है। इसी तरह आगे के उदाहरणों में समझना चाहिये।

२. अत्र समासेनोक्तत्वान्न कर्मणि द्वितीया, प्रत्युत प्रथमैव।

३. यहां 'दृष्टा' को **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९९९) से पुंवद्भाव तथा नियतविभक्तिक 'मथुरा' की उपसर्जनसंज्ञा होकर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से ह्रस्व हो जाता है।

४. 'सवितॄ रश्मयः' की तरह 'उपहृतपशू रुद्रः' में सन्धि जाननी चाहिये। तथाहि—'उपहृतपशुस् + रुद्रः' यहां सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँ आदेश, उकार अनुबन्ध का लोप, **रो रि** (१११) से रेफ का लोप तथा **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (११२) सूत्रद्वारा पूर्व अण् = उकार को दीर्घ करने से 'उपहृतपशू रुद्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

गया है वह शिव)। अलौकिकविग्रह—उपहृत सुँ + पशु सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (रुद्र) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान इन दोनों का **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से बहुव्रीहिसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, विशेषण का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा विशेष्य के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'उपहृतपशुः' (रुद्रः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहता है।

इसीप्रकार—दत्तो बलिर्यस्मै स दत्तबलिर्दैत्यः, उपनीतं भोजनं यस्मै स उपनीतभोजनो ब्राह्मणः इत्यादि चतुर्थ्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

पञ्चम्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—उद्धृत ओदनो यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली (जिस से ओदन = भात निकाल लिया गया है ऐसी बटलोई)। अलौकिकविग्रह—उद्धृत सुँ + ओदन सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (स्थाली) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान इन दोनों का **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **वृद्धिरेचि** (३३) द्वारा वृद्धि एकादेश करने पर—उद्धृतौदन। यहां स्त्रीलिङ्ग स्थालीशब्द विशेष्य है अतः तदनुसार समास से भी स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् प्रत्यय हो कर टकार और पकार अनुबन्धों का लोप, सवर्णदीर्घ तथा प्रथमा के एकवचन में सकार का हल्ङ्यादिलोप (१७९) करने पर 'उद्धृतौदना' (स्थाली) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—च्युतानि फलानि यस्मात् स च्युतफलस्तरुः, भीताः शत्रवो यस्मात् स भीतशत्रुर्नरपतिः इत्यादि पञ्चम्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

षष्ठ्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पीतानि अम्बराणि यस्य स पीताम्बरो[1] हरिः (पीले वस्त्रों वाला अर्थात् श्रीकृष्ण)। अलौकिकविग्रह—पीत जस् + अम्बर जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (हरि) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपदार्थ में वर्त्तमान इन दोनों का **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—पीताम्बर। अब विशेष्य (हरि) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर प्रथमा के एकवचन में 'पीताम्बरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहता है।

---

१. श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री का कथन है कि यहां 'पीते अम्बरे यस्य स पीताम्बरः' ऐसा द्विवचनघटित विग्रह ही उचित है। कारण कि इस देश में दो वस्त्र (धोती और चादर) ही पहिरने की प्रथा थी।

इसीप्रकार—महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहुः[1] (बड़ी-बड़ी भुजाओं वाला)। अस्ति (विद्यमानम्)[2] क्षीरं यस्याः सा अस्तिक्षीरा गौः (दूध देने वाली गाय)। कृशं धनं यस्य स कृशधनः[3] (स्वल्प धन वाला अर्थात् निर्धन)। लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः (लम्बे कानों वाला अर्थात् गधा)। चत्वारि आननानि यस्य स चतुराननः[4] (चार मुखों वाला अर्थात् ब्रह्मा)। उद्विग्नं मनो यस्य स उद्विग्नमनाः (दुःखी मन वाला)। छिन्नं मूलं यस्य स छिन्नमूलो वृक्षः (काटे गये मूल वाला पेड़)। विशाले नेत्रे यस्य स विशालनेत्रः (विशाल नेत्रों वाला)। आस्वाद्यं तोयं यस्याः सा= आस्वाद्यतोया[5] नदी (मीठे पानी वाली नदी) इत्यादि षष्ठ्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

सप्तम्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—वीराः पुरुषा यस्मिन् स वीरपुरुषको ग्रामः (वीर पुरुषों वाला गांव)। अलौकिकविग्रह—वीर जस्+पुरुष जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (ग्राम) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपदार्थ में वर्त्तमान इन पदों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुँब्लुक् करने पर—वीरपुरुष। अब वक्ष्यमाण **शेषाद्विभाषा** (९८४) सूत्रद्वारा विकल्प से समासान्त कप् (क) प्रत्यय करने पर—वीरपुरुषक। विशेष्य (ग्राम) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से प्रथमा के एकवचन में 'वीरपुरुषकः' (ग्रामः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जहां कप् न होगा वहां 'वीरपुरुषः' (ग्रामः) बनेगा। समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में स्वपदविग्रह वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—बहु सस्यं यस्मिन्[6] तत्=बहुसस्यं क्षेत्रम्, नव रन्ध्राणि यस्मिन् स नवरन्ध्रो देहः इत्यादि सप्तम्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

---

१. यहां **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) सूत्र से महत् के तकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है।

२. यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थक अव्यय है। इसे क्रिया समझने की भूल नहीं करनी चाहिये वरन् समास न हो सकेगा। **सह सुँपा** (९०६) के अनुसार सुँबन्त का ही सुँबन्त के साथ समास होता है। 'अस्ति' अव्यय का विशेष विवेचन इस व्याख्या के अव्यय-प्रकरण में किया जा चुका है वहीं देखें।

३. **सुहृदपि न वाच्यः कृशधनः**—(नीतिशतक ५६)।

४. **इतरपापफलानि यदृच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।**
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

५. **आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः**—(हितोप०)

६. इस तरह के विग्रहों में 'यस्मिन्, यस्याम्' आदि के स्थान पर 'यत्र' का भी प्रयोग हो सकता है।

वक्तव्य—अन्यपदप्रधान बहुव्रीहिसमास के दो भेद सुप्रसिद्ध हैं—१. तद्गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहिसमास, २. अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास । जिस बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ की प्रधानता के साथ-साथ समस्यमान पदों के अर्थों का भी प्रवेश हो वह 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास' होता है । यथा—'पीतान्यम्बराणि यस्य स पीताम्बरः पुरुषः' यहां अन्यपदार्थ=पुरुष की प्रधानता के साथ-साथ समस्यमान पदों के अर्थ का भी त्याग नहीं हुआ । यदि कहा जाये कि 'पीताम्बरमानय' (पीले वस्त्र वाले को लाओ) तो उस पुरुष के साथ पीले कपड़े भी आएंगे । अतः यहां तद्गुण-संविज्ञान-बहुव्रीहिसमास है । इसीप्रकार—सर्वादयः, प्रादयः, धृतवीणः, लम्बकर्णः, रक्त-मुखः, छिन्नकर्णः, वीणामण्डितकरा, श्वेतकूर्चकः, विशालनेत्रः आदियों में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास समझना चाहिये । जहां अन्यपदार्थ के साथ समस्यमान पदों के अर्थ का प्रवेश नहीं होता वहां 'अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास' होता है । यथा—दृष्टा मथुरा येन स दृष्टमथुरः पुरुषः । यहां अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता के साथ समस्यमान पदों के अर्थों का प्रवेश नहीं होता । यदि कहा जाये कि 'दृष्टमथुरमानय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) तो उस पुरुष के साथ देखी गई मथुरा नहीं आयेगी । अतः यह 'अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास' है । इसीप्रकार—चित्रगुः, बहुधनः, विदितसकल-वेदितव्यः, उपजातकुतूहलः, अभ्यस्तविविधशास्त्रः, बह्वपत्यः, दृष्टसकलकुलविनाशः इत्यादियों में अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास समझना चाहिये ।

अब अग्रिम दो वार्त्तिकों के द्वारा बहुव्रीहिसमास में पूर्वपदस्थ उत्तरपद के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०]वा०—(६५) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ॥

प्रपतितपर्णः प्रपर्णः ॥

अर्थः—प्र आदियों से परे जो धातुज (कृदन्त) शब्द, तदन्त प्रथमान्त का अन्य प्रथमान्त के साथ विकल्प से बहुव्रीहिसमास हो जाता है और इस बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद में स्थित धातुज उत्तरपद का विकल्प से लोप हो जाता है ।[1]

व्याख्या—प्र आदियों से परे धातुज कृदन्त शब्दों का पहले प्रादिसमास होता है । जैसे—प्रकृष्टं पतितम् प्रपतितम् । यहां 'प्र' का 'पतित सुँ' के साथ **प्रादयो गता-द्यर्थे प्रथमया** (वा० ५८) द्वारा नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है । अब समस्त हुए इस 'प्रपतित' **प्रथमान्त** का जब अन्य प्रथमान्त के साथ सामान्यनियमानुसार बहुव्रीहि-समास किया जाता है तो इस बहुव्रीहि में पूर्वपद (प्रपतित) के धातुज उत्तरपद (पतित) का विकल्प से लोप हो जाता है । उदाहरण यथा—

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि बहुव्रीहिसमास तो **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से ही सिद्ध है, यह वार्त्तिक पूर्वपदस्थ उत्तरपद के वैकल्पिक लोप के विधानार्थ ही रचा गया है ।

लौकिकविग्रह—प्रपतितानि पर्णानि यस्य सः[1]=प्रपर्णः प्रपतितपर्णो वा वृक्षः (जिस के पत्ते अच्छी तरह झड़ चुके हैं ऐसा पेड़)। अलौकिकविग्रह—प्रपतित जस् + पर्ण जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (वृक्ष) को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा दोनों में बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'प्रपतितपर्ण' बना। अब **प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६५) इस प्रकृतवार्त्तिक से 'प्रपतित' शब्द के उत्तरपद 'पतित' का विकल्प से लोप हो जाता है—प्रपर्ण। विशेष्य (वृक्ष) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'प्रपर्णः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में उत्तरपद का लोप नहीं होता वहां 'प्रपतितपर्णः' बनता है। समास वैकल्पिक है अतः समास के अभाव में 'प्रपतितानि पर्णानि यस्य सः' इस प्रकार स्वपदविग्रह वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—

(१) प्रपतितानि पलाशानि (पत्त्राणि) यस्य स प्रपलाशः प्रपतित-पलाशो वा पादपः (झड़ चुके पत्तों वाला पेड़)।

(२) अपगतो मन्युर्यस्य सोऽपमन्युरपगतमन्युर्वा (जिस का क्रोध शान्त हो चुका है ऐसा पुरुष)[2]।

(३) प्रवृद्धम् उदरं यस्य स प्रोदरः प्रवृद्धोदरो वा (बढ़े हुए पेट वाला, तुन्दिल)।

(४) विगतो धवः (पतिः) यस्याः सा विधवा (जिसका पति मर चुका है ऐसी नारी)।

(५) अध्यारोपिता ज्या यत् (द्वितीयान्तम्) तद् अधिज्यं धनुः (चिल्ला चढ़ाया धनुष)।[3]

(६) निर्गता जना यस्मात् स निर्जनः प्रदेशः (जनहीन प्रदेश)।

(७) निर्गता घृणा (दया) यस्मात् स निर्घृणः (दयाहीन, क्रूर)[4]।

---

१. 'पर्ण' (न०) पत्ते को कहते हैं—**पत्त्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्** इत्यमरः। यहां 'प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् सः' इस प्रकार का विग्रह भी हो सकता है।

२. **अपमन्युस्ततो वाक्यं पौलस्त्यो राममुक्तवान्** (भट्टि० १९.१)।

३. अधिज्यं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा। यहां 'अधिज्यधनुष्' शब्द के अन्त्य षकार को **धनुषश्च** (५.४.१३२) सूत्र से समासान्त अनँङ् (अन्) आदेश हो कर यण् करने से 'अधिज्यधन्वन्' शब्द बन जाता है। इस की रूपमाला 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है। साहित्यगत प्रयोग यथा—

अधिज्यधन्वा विचचार दावम्—(रघु० २.८)।

४. **मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तोऽस्ति कोऽन्यः पुमान्** (पञ्च० ५.१४)।

(८) निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः (इच्छारहित)।

(९) निर्गता त्रपा (लज्जा) यस्मात् स निस्त्रपः (निर्लज्ज)।

(१०) निर्गतं फलं यस्मात् तद् निष्फलं कर्म (फलहीन कर्म)।

(११) निर्गतोऽर्थो यस्मात् तद् निरर्थकम् (समासान्तः कप्, अर्थहीन)[1]।

(१२) उद्गता रश्मयो यस्य स उद्रश्मिश्चन्द्रः (निकली हुई किरणों वाला चन्द्र आदि)।

(१३) विक्षिप्तो हस्तो यस्य स विहस्तः (व्याकुल)[2]।

(१४) परिस्रुतानि अश्रूणि याभ्यां ते पर्यश्रुणी नयने (अश्रुओं से पूर्ण नेत्र)[3]।

नोट—इस तरह के समास में कुछ शब्दों के तो दोनों रूप प्रसिद्ध हैं परन्तु कुछेक शब्दों का एकपक्षीय रूप ही प्रसिद्ध है। यथा—विधवा, अधिज्यम्, निर्जनः, निर्घृणः, विहस्तः आदि। इन का दूसरा (लोपाभाव वाला) रूप यद्यपि व्याकरणविरुद्ध नहीं तथापि लोक में अधिक व्यवहृत नहीं होता।

अब दूसरे वार्त्तिकद्वारा बहुव्रीहिसमास के पूर्वपदस्थ उत्तरपद का लोप विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६६) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपद-लोपः ॥

अविद्यमानपुत्रोऽपुत्रः ॥

अर्थः—नञ् से परे अस्त्यर्थक (विद्यमानार्थक) जो शब्द तदन्त प्रथमान्त का अन्य प्रथमान्त के साथ विकल्प से बहुव्रीहिसमास हो जाता है और इस बहुव्रीहि के पूर्वपद में स्थित विद्यमानार्थक उत्तरपद का विकल्प से लोप हो जाता है।[4]

व्याख्या—मौजूद=विद्यमान अर्थ वाले शब्दों को अस्त्यर्थक शब्द कहते हैं। नञ् से परे अस्त्यर्थक शब्द आ कर पहले नञ्तत्पुरुषसमास होता है। यथा—न विद्यमानः—अविद्यमानः। यहां 'न + विद्यमान सुँ' में **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास, नञ् का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **न लोपो नञः** (९४७) से नञ् के आदि नकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'अविद्यमानः' बन जाता है। अब इस 'अविद्यमान सुँ' का जब 'पुत्र सुँ' के साथ अन्यपदार्थ में बहुव्रीहिसमास किया जाता है तो इस समास में पूर्वपद (अविद्यमान) में स्थित उत्तरपद (विद्यमान) का विकल्प से लोप हो जाता है।

---

१. **निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्। उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विभाता नलिनी न येन॥** (साहित्यदर्पणे)

२. **विहस्तव्याकुलौ समौ**—इत्यमरः।

३. **पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुर्न लोचने मीलयितुं विषेहे**—(किरात॰ ३.३६)।

४. यहां भी बहुव्रीहिसमास तो **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से ही सिद्ध है, यह वार्त्तिक विद्यमानार्थक उत्तरपद के वैकल्पिक लोप के लिये ही बनाया गया है।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अविद्यमानः पुत्रो यस्य सोऽपुत्रोऽविद्यमानपुत्रो वा (जिस का पुत्र नहीं अर्थात् पुत्रहीन व्यक्ति)। अलौकिकविग्रह—अविद्यमान सुँ+पुत्र सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपदार्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन में बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों का लुक् करने से—अविद्यमानपुत्र। यहां पूर्वपद 'अविद्यमान' में उत्तरपद 'विद्यमान' शब्द है अतः **नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६६) इस प्रकृत वार्त्तिक से उस का विकल्प से लोप कर विशेष्यानुसार लिङ्ग विभक्ति और वचन लाने से 'अपुत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। जहां लोप न हुआ वहां 'अविद्यमान-पुत्रः' बनेगा। समास के अभाव में वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—

(१) अविद्यमानो नाथो यस्य सः=अनाथोऽविद्यमाननाथो वा।
(२) अविद्यमानो रोगो यस्य सः=अरोगोऽविद्यमानरोगो वा।
(३) अविद्यमानः क्रोधो यस्य सः=अक्रोधोऽविद्यमानक्रोधो वा।
(४) अविद्यमाना करुणा यस्य सः=अकरुणोऽविद्यमानकरुणो वा[2]।
(५) अविद्यमाना भार्या यस्य सः=अभार्योऽविद्यमानभार्यो वा।
(६) अविद्यमानं कर्म यस्य सः=अकर्मकोऽविद्यमानकर्मको वा[3]।
(७) अविद्यमानः कायो यस्य तत्=अकायमविद्यमानकायं वा ब्रह्म।

इस नञ्बहुव्रीहि का 'नास्ति नाथो यस्य सोऽनाथः, नास्ति रोगो यस्य सोऽरोगः' इत्यादिप्रकार से प्रायः लोक में विग्रह दर्शाया जाता है। 'अविद्यमानः' और 'नास्ति' दोनों पर्यायवाची हैं।

जब इस नञ्बहुव्रीहि में उत्तरपद अजादि होता है तो **तस्मान्नुँडचि** (९४८) से उसे नुँट् का आगम भी हो जाता है। यथा—नास्ति अश्वो यस्य सोऽनश्वः, नास्ति अन्तो यस्य सोऽनन्तः, नास्ति आमयो यस्य सोऽनामयः (रोगरहित), नास्ति आतपो यत्र सोऽनातपः प्रदेशः। इत्यादि।

अब समास में पूर्वपद को पुंवद्भाव विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

---

१. **अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च**—(हितोप० १.१२७)।
२. लोपाभावपक्षे **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। उत्तरपदस्य तु **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) इत्युपसर्जनह्रस्वः।
३. समासान्तः कप्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६९) **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ।६।३।३३ ।।**

उक्तपुंस्काद् अनूङ्=ऊङोऽभावोऽस्याम् इति बहुव्रीहिः । निपातनात् पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः । गोस्त्रियोरुप० (९५२) इति ह्रस्वः—चित्रगुः । रूपवद्भार्यः । अनूङः किम् ? वामोरूभार्यः ।।

अर्थः—जिस से परे ऊङ् प्रत्यय न किया गया हो ऐसे भाषितपुस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवत्[1] हो जाता है समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे हो तो । परन्तु पूरणी या प्रिया आदि के परे रहते यह पुंवद्भाव नहीं होता ।

व्याख्या—स्त्रियाः ।६।१। पुंवद् इत्यव्ययपदम् । भाषितपुंस्कादनूङ् इति लुप्तषष्ठ्येकवचनान्तम् । समानाधिकरणे ।७।१। स्त्रियाम् ।७।१। अपूरणीप्रियादिषु ।७।३। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से) । अन्वयः—भाषितपुँस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् अपूरणीप्रियादिषु समानाधिकरणे स्त्रियाम् उत्तरपदे । भाषितपुंस्कादनूङ्—यह एक ही समस्त पद है जो लुप्तषष्ठ्येकवचनान्त है और 'स्त्रियाः' का विशेषण है । इस का विग्रह इस प्रकार है—ऊङोऽभावः—अनूङ्, अर्थाभावेऽव्ययीभावः, भाषितपुंस्काद् अनूङ् यस्यां सा भाषितपुंस्कादनूङ् (स्त्री), तस्याः=भाषित-पुंस्कादनूङ् (स्त्रियाः) । यह व्यधिकरणबहुव्रीहिसमास है, इस में 'भाषितपुंस्कात्' पद की पञ्चमी का सौत्रत्वात्[2] लुक् नहीं हुआ और समास से षष्ठी का लुक् हो गया है । यदि लोकानुसार लिखते तो 'भाषितपुंस्कानूङः' ऐसा होता । 'जिस से परे ऊङ्प्रत्यय[3] नहीं किया गया ऐसे भाषित-पुंस्क का' यह इस पद का अर्थ है । प्रियाशब्द आदिर्येषान्ते प्रियादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । पूरणी च प्रियादयश्च पूरणीप्रियादयः, तेषु=पूरणीप्रियादिषु, द्वन्द्वसमासः । न पूरणीप्रियादिषु—अपूरणीप्रियादिषु, नञ्तत्पुरुषः । 'पूरणी' से यहां पूरणार्थप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्गशब्दों का ग्रहण होता है । द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी,

---

१. यहां 'पुंवत्= पुंलिङ्ग की तरह' का यह अभिप्राय है कि स्त्रीलिङ्गवाचक शब्दों के आगे जुड़े स्त्रीप्रत्यय हट जाते हैं । पुंलिङ्ग की तरह उन का रूप हो जाता है ।

२. छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति—इत्यभियुक्तोक्तेः सूत्रेष्वपि क्वचिच्छन्दोवत्कार्याणि भवन्ति । छन्दसि च सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते इति प्राभाणिका आहुः ।

३. ऊङ् एक स्त्रीप्रत्यय है जो ऊङुतः (१२७१), पङ्गोश्च (१२७२), ऊरूत्तरपदा-दौपम्ये (१२७३), संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च (१२७४) आदि सूत्रोंद्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में विधान किया जाता है । वामोरू, करभोरू आदि ऊङ्प्रत्ययान्तों के उदाहरण हैं । इन का विस्तृत विवेचन स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में देखना चाहिये ।

षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी आदि पूरणी हैं[1]। प्रिया आदि शब्द गणपाठ में पढ़े गये हैं। अर्थः—(भाषितपुंस्कादनूङ्=भाषितपुंस्कानूङः) जिस से परे ऊङ् प्रत्यय का अभाव है अर्थात् जिस से परे ऊङ् प्रत्यय नहीं किया गया ऐसे भाषितपुंस्क (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द का (पुंवत्) पुंलिङ्ग की तरह रूप बन जाता है (अपूरणी-प्रियादौ समानाधिकरणे स्त्रियाम् उत्तरपदे) पूरणी और प्रिया आदि शब्दों के अतिरिक्त समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे हो तो। सार—ऊङ्प्रत्ययान्तों से भिन्न भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द पुनः पुंलिङ्गवत् रूप धारण कर लेते हैं यदि उन से परे पूरणी-प्रियादियों से भिन्न अन्य कोई समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग शब्द उत्तरपद में हो तो।

जो शब्द जिस प्रवृत्तिनिमित्त को ले कर पुंलिङ्ग में प्रवृत्त होता है यदि वह उसी प्रवृत्तिनिमित्त को ले कर अन्य लिङ्ग या लिङ्गों में प्रवृत्त हो तो उसे भाषितपुंस्क कहते हैं[2]। इस का विवेचन पीछे (२४६) सूत्र पर विस्तार से इस व्याख्या में कर चुके हैं वहीं देखें।

सूत्र का प्रथम उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चित्रा गावो यस्य स चित्रगुर्ब्राह्मणः (चित्रित गौओं वाला ब्राह्मण आदि)। अलौकिकविग्रह—चित्रा जस्+गो जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (ब्राह्मण आदि) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। समास में विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'चित्रा+गो' बना। अब यहां समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'गो' शब्द उत्तरपद में परे मौजूद है और इधर 'चित्रा' शब्द भाषितपुंस्क है (क्योंकि पुंलिङ्ग में भी चित्रशब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है), इस से परे ऊङ् प्रत्यय भी नहीं किया गया अतः **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु** (६६६) इस प्रकृतसूत्र से 'चित्रा' को पुंवत् (चित्र) करने से—चित्रगो। बहुव्रीहिसमास में प्रथमानिर्दिष्ट होने से सब पद उपसर्जन होते हैं अतः **गोस्त्रियोरुप-सर्जनस्य** (६५२) सूत्रद्वारा उपसर्जनसंज्ञक 'गो' के अन्त्य अच्-ओकार को ह्रस्व=उकार आदेश (२५०) करने पर—चित्रगु। अब विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'चित्रगुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य भी रहेगा।

सूत्र का दूसरा उदाहरण यथा—

---

१. इन पूरणार्थक प्रत्ययों का विधान आगे तद्धितप्रकरणान्तर्गत भवनार्थकप्रकरण में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) आदि सूत्रोंद्वारा किया जायेगा। विस्तृत विवेचन वहीं देखें।

२. **यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते।**
क्लीबवृत्तौ तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते॥

लौकिकविग्रह—रूपवती भार्या यस्य स रूपवद्भार्यः पुरुषः (रूपवती स्त्री वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—रूपवती सुँ+भार्या सुँ। यहां दोनों **प्रथमान्त** पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'रूपवती+भार्या' बना। अब यहां समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'भार्या' शब्द उत्तरपद में परे विद्यमान है और इधर 'रूपवती' शब्द भाषितपुंस्क है (क्योंकि पुंलिङ्ग में भी 'रूपवत्' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है), इस से परे ऊङ् प्रत्यय भी नहीं किया गया अतः **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इस प्रकृतसूत्र से 'रूपवती' को पुंवत् (रूपवत्) हो **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्रद्वारा पदान्त तकार को जश्त्व=दकार करने से—रूपवद्भार्या। बहुव्रीहिसमास में सब पद उपसर्जन होते हैं अतः **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनसंज्ञक 'भार्या' शब्द के अन्त्य आकार को ह्रस्व आदेश करने पर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'रूपवद्भार्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—

(१) दीर्घे जङ्घे यस्य सः=दीर्घजङ्घः।
(२) श्लक्ष्णा चूडा यस्य सः=श्लक्ष्णचूडः।
(३) दर्शनीया भार्या यस्य सः=दर्शनीयभार्यः।
(४) पट्वी भार्या यस्य सः=पटुभार्यः।
(५) निर्गता स्पृहा यस्य सः=निर्गतस्पृहः।
(६) निर्गता त्रपा यस्य सः=निर्गतत्रपः।
(७) सुन्दरी भार्या यस्य सः=सुन्दरभार्यः।
(८) एनी भार्या यस्य सः=एतभार्यः[1] (श्वेत पत्नी वाला)।
(९) युवतिर्जाया यस्य सः=युवजानिः (जवान औरत वाला)।[2]

---

१. **चित्रं किर्मीर-कल्माष-शबलैताश्च कर्बुरे**—इत्यमरः। एतशब्दः श्वेतपर्याय इति कल्पसूत्रव्याख्यातारो धूर्त्तस्वामिभवस्वामि-हरदत्तप्रभृतयो याज्ञिका इति बालमनोरमा। 'एत' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः (१२५८)** सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार आदेश हो भसंज्ञक अकार का लोप करने ते 'एनी' शब्द बनता है अतः पुंवत् करने पर उस का वही अपना रूप (एत) आ जाता है।

२. जायाशब्दान्त बहुव्रीहिसमास में **जायाया निङ्** (५.४.१३४) सूत्र से जायाशब्द के अन्त्य आकार को निङ् (नि) समासान्त आदेश हो कर उस 'नि' के परे रहते **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से यकार का लोप करने से युवजानिः, वृद्धजानिः, भूजानिः, रमाजानिः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(१०) वृद्धा जाया यस्य सः=वृद्धजानिः (बूढ़ी औरत वाला)।

अब कौमुदीकार प्रत्युदाहरणोंद्वारा इस सूत्र को हृदयङ्गम कराते हैं--

अनूङ् किम् ? **वामोरूभार्यः** ।

शङ्का—सूत्र में यह क्यों कहा गया है कि भाषितपुंस्क से परे ऊङ् प्रत्यय न किया गया हो ?

समाधान—यदि ऐसा न कहते तो 'वामोरूर्भार्या यस्य सः= **वामोरूभार्यः**' यहां पर भी पुंवत् हो कर 'वामोरुभार्यः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता । यहां 'वामोरु' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** (१२७४) सूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय किया गया है । अतः समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद 'भार्या' शब्द के परे होने पर भी भाषितपुंस्क को पुंवत् नहीं हुआ । **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व हो कर 'वामोरूभार्यः' रहा । इसीप्रकार 'पङ्गूर्भार्या यस्य सः=पङ्गूभार्यः' (लङ्गड़ी औरत वाला) आदि में ऊङ् के कारण पुंवद्भाव का अभाव समझना चाहिये ।

अब पूरणी (पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग) समानाधिकरण उत्तरपद के परे रहते पुंवद्भाव नहीं होता इसे प्रत्युदाहरणद्वारा समझाने के लिये उपयोगी समासान्त प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७०) अप् पूरणी-प्रमाण्योः ।५।४।११६॥

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्गं तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् (समासान्तः) स्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः । अप्रियादिषु किम् ? कल्याणी-प्रियः । इत्यादि ॥

अर्थः—पूरणार्थप्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग तदन्त बहुव्रीहि से तथा प्रमाणीशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अप् ।१।१। पूरणीप्रमाण्योः ।६।२। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **तद्धिताः**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । पूरणी च प्रमाणी च पूरणीप्रमाण्यौ, तयोः=पूरणीप्रमाण्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'पूरणीप्रमाण्योः' तथा 'बहुव्रीहौ' पदों को पञ्चम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है—पूरणीप्रमाणीभ्याम्, बहुव्रीहेः । पुनः विशेषण से तदन्तविधि करने पर—'पूरण्यन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेः' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(पूरणीप्रमाण्योः= पूरण्यन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च) पूरणी जिस के अन्त में हो या प्रमाणीशब्द जिस के अन्त में हो ऐसे (बहुव्रीहेः) बहुव्रीहिसमास से (परः) परे (अप् प्रत्ययः) अप् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव तथा (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता है । 'पूरणी' से यहां **तस्य पूरणे डट्** (११७५) आदि सूत्रों के द्वारा पूरण अर्थ में विधीय-

मान डट् आदि प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ग्रहण होता है। प्रमाणीशब्द करणल्युडन्त (प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्) प्रमाणशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से टित्त्व के कारण ङीप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। अप् प्रत्यय का पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। पित्करण स्वरार्थ है।

पूरण्यन्त बहुव्रीहि से समासान्त यथा—

लौकिकविग्रह—कल्याणी पञ्चमी यासां (रात्रीणां) ताः=कल्याणीपञ्चमा रात्रयः (जिन रातों में पाञ्चवीं रात कल्याणप्रदा है ऐसी रातें)। अलौकिकविग्रह—कल्याणी सुँ+पञ्चमी सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (रात्रि) के अर्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर 'कल्याणी+पञ्चमी' हुआ। अब यहां पूरणी अर्थात् पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग 'पञ्चमी'[1] शब्द परे विद्यमान है अतः 'अपूरणीप्रियादिषु' कथन के कारण समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद के परे होने पर भी **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा 'कल्याणी' इस भाषितपुंस्क को पुंवद्भाव नहीं होता। पुनः पूरण्यन्त बहुव्रीहि से प्रकृत **अप् पूरणी-प्रमाण्योः** (९७०) सूत्रद्वारा समासान्त अप् प्रत्यय हो कर 'कल्याणीपञ्चमी अ' इस स्थिति में तद्धितसंज्ञक अप् प्रत्यय के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है—कल्याणीपञ्चम् अ=कल्याणीपञ्चम। अन्यपद 'रात्रयः' के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप्प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन में 'कल्याणीपञ्चमाः' (रात्रयः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कल्याणी दशमी यासां ताः=कल्याणीदशमा रात्रयः, सुन्दरी पञ्चमी यासां ताः=सुन्दरीपञ्चमाः स्त्रियः—आदि की सिद्धि जाननी चाहिये।

प्रमाणीशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त यथा—

लौकिकविग्रह—स्त्री प्रमाणी यस्य सः=स्त्रीप्रमाणः पुरुषः (स्त्री जिस की

---

१. पञ्चानां पूरणी—इस अर्थ में 'पञ्चन् आम्' से **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्रद्वारा डट् (अ) प्रत्यय, **नान्तादसंख्यादेर्मट्** (११७६) से डट् को मँट् (म्) का आगम, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्वात् सुँब्लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का भी लोप करने पर—पञ्चम। स्त्रीत्व की विवक्षा में डट्-प्रत्यय के टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् (ई) प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने पर 'पञ्चमी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रमाण है अर्थात् स्त्री को प्रमाण मानने वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—स्त्री सुँ + प्रमाणी सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने से 'स्त्रीप्रमाणी' बना। यहां स्त्रीशब्द भाषितपुंस्क नहीं है अतः समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'प्रमाणी' शब्द के उत्तरपद में होने पर भी **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र से पुंवद्भाव नहीं होता। अब प्रमाणी-शब्दान्त इस बहुव्रीहि से प्रकृत **अप् पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) सूत्रद्वारा समासान्त अप् तद्धितप्रत्यय कर इस तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक ईकार का लोप किया तो—स्त्रीप्रमाण् अ = स्त्रीप्रमाण। अब विशेष्य (पुरुषः) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'स्त्रीप्रमाणः' (पुरुषः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—'भार्या प्रमाणी यस्य स भार्याप्रमाणः' इत्यादियों की सिद्धि जाननी चाहिये।

पूर्वसूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कहा गया है। इस से पूरणी तथा प्रिया आदि समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपदों के परे रहते भाषितपुंस्क को पुंवद्भाव नहीं होता। पूरणी का प्रत्युदाहरण 'कल्याणीपञ्चमा रात्रयः' दिया जा चुका है अब प्रिया आदियों का प्रत्युदाहरण देते हैं—

प्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रिय इत्यादि।

लौकिकविग्रह—कल्याणी प्रिया यस्य सः = कल्याणीप्रियः (कल्याणकरा स्त्री जिसे प्रिय हो ऐसा पुरुष)। अलौकिकविग्रह—कल्याणी सुँ + प्रिया सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास हो कर सुँब्लुक् करने से 'कल्याणी + प्रिया' बना। अब यहां समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'प्रिया' शब्द उत्तरपद में परे विद्यमान है जो प्रियादिगण का प्रथम शब्द है अतः **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र से भाषितपुंस्क भी कल्याणीशब्द को पुंवद्भाव नहीं होता। पुनः स्त्रीप्रत्ययान्त उपसर्जन-सञ्ज्ञक (९५१) प्रियाशब्द अन्त में होने के कारण **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) द्वारा उपसर्जनह्रस्व हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'कल्याणी-प्रियः' (पुरुषः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—

(१) कल्याणी तनया यस्य स कल्याणीतनयः।

(२) दर्शनीया कान्ता यस्य स दर्शनीयाकान्तः।

(३) युवतिर्दुहिता यस्य स युवतिदुहितृकः[1]।

(४) प्रिया वामा यस्य स प्रियावामः।

---

१. **नद्यृतश्च** (५.४.१५३) इति समासान्तः कप्।

(५) दर्शनीया सचिवा यस्य स दर्शनीयासचिवः ।

प्रियादिगण को वर्धमानाचार्य ने निम्नप्रकारेण छन्दोबद्ध किया है—

प्रिया-कान्ता-मनोज्ञा-स्वा-कल्याणी-भक्ति-दुर्भगाः ।
सचिवा-वामना-क्षान्ता-चपला-निचिता-समाः ।
सुभगा दुहिता बाल्या वामाऽथ तनया तथा ।। (गणरत्न०)

विशेष वक्तव्य—कालिदास ने रघुवंश (१२.१९) में 'दृढभक्तिः' तथा मेघदूत (१.३९) में 'दृष्टभक्तिः' शब्दों का प्रयोग किया है। इन के अतिरिक्त लोक में 'विदित-भक्तिः, स्थिरभक्तिः, परिपूर्णभक्तिः' आदि शब्दों का भी बहुव्रीहिसमास में प्रयोग देखा जाता है। परन्तु व्याकरणानुसार इन में 'दृढा भक्तिर्यस्य स दृढाभक्तिः' 'इत्यादि-प्रकारेण दीर्घघटित प्रयोग बनने चाहियें कारण कि प्रियादियों में 'भक्ति' शब्द का पाठ होने से उस के परे रहते **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा पुंवद्भाव प्रसक्त नहीं होता। इस का समाधान यह है कि पदसंस्कारपक्ष में जब 'दृढ' शब्द केवल दार्ढ्यमात्र अर्थ में स्थित होता हुआ किसी अन्यपद के साथ सम्बद्ध नहीं होता तब **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) के अनुसार उस में नपुंसक का प्रयोग हो जाता है। इस के बाद जब 'भक्तिः' के साथ इस का अन्वय होता है तो भी इस का पूर्वसंसक्त नपुंसकत्व वैसे का वैसा अक्षुण्ण रहता है। इस तरह बहुव्रीहिसमास में 'दृढं भक्तिर्यस्य' इस प्रकार का विग्रह होने से पुंवद्भाव के विना ही 'दृढभक्तिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु वाक्यसंस्कारपक्ष में जब विशेष्य के अनुसार 'दृढ' से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् (आ) हो जाता है तब 'दृढा भक्तिर्यस्य' इस प्रकार के विग्रह में पुंवद्भाव के प्रसक्त न होने से 'दृढाभक्तिः' ही बनता है 'दृढभक्तिः' नहीं। इसीप्रकार—'दृष्टभक्तिः' आदियों का समाधान समझना चाहिये। इस तरह की मान्यता में महाभाष्य का **शक्यं चाऽनेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्**[1] यह वाक्य प्रमाण है। यहां स्त्रीलिङ्ग 'क्षुत्' (भूख) पद के अनुसार 'शक्यम्' में स्त्रीत्व का प्रयोग नहीं हुआ, सामान्य में नपुंसक ही प्रयुक्त हुआ है।

बहुव्रीहिसमास के विधायक कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का भी यहां व्युत्पन्न विद्यार्थियों के ज्ञानार्थ संक्षेप से उल्लेख कर रहे हैं—

[१] तेन सहेति तुल्ययोगे ।२।२।२८।।

अर्थः—'सह' अव्यय का तृतीयान्त के साथ बहुव्रीहिसमास हो जाता है यदि किसी एक कार्य में दोनों समानरूप से भाग ले रहे हों। उदाहरण यथा—

पुत्रेण सह आगतः पिता—सपुत्रः सहपुत्रो वाऽऽगतः पिता। **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१)[2] सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास में 'सह' को विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है।

---

१. महाभाष्ये पस्पशाह्निके।

२. अर्थः—उपसर्जन अर्थात् बहुव्रीहिसमास के अवयव 'सह' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है।

तुल्ययोग के विना भी यह समास देखा जाता है। यथा—सकर्मकः, सलोमकः, सपक्षकः आदि।

[२] **संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिक-संख्याः संख्येये** ।२।२।२५॥

अर्थः—संख्येय अर्थ में वर्त्तमान संख्यावाची सुँबन्त के साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाचक—ये सुँबन्त समास को प्राप्त होते हैं और वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

संख्येय[1] अर्थ में वर्त्तमान संख्या के साथ अव्यय का समास यथा—दशानां समीपे ये वर्त्तन्ते ते उपदशाः (दस के समीपवर्त्ती अर्थात् नौ या ग्यारह)। 'दशन् आम् + उप' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र से समास, अव्यय का पूर्वनिपात, प्रातिपदिक-संज्ञा तथा उस के अवयव सुँप् का लुक् कर—उपदशन्। अब यहां **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३)[2] सूत्र से समासान्त डच् (अ) प्रत्यय हो कर टि का लोप (२४२) करने से प्रथमा के बहुवचन में 'उपदशाः' रूप सिद्ध हो जाता है। विंशतेः समीपे ये वर्त्तन्ते ते उपविंशाः (बीस के समीपवर्त्ती अर्थात् उन्नीस या इक्कीस)। यहां पर भी समासान्त डच् (अ) प्रत्यय हो कर **ति विंशतेर्डिति** (११७७)[3] सूत्र से 'विंशति' के 'ति' का लोप तथा **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाता है। बहूनां समीपे ये वर्त्तन्ते ते उपबहवः। बहुशब्द की **बहु-गण-वतु-डति संख्या** (१८६) सूत्र से संख्यासञ्ज्ञा है अतः इस के साथ 'उप' अव्यय का समास हो जाता है परन्तु डच् नहीं होता।

संख्येयार्थ में वर्त्तमान संख्या के साथ आसन्नादियों का समास यथा—

विंशतेरासन्नाः—आसन्नविंशाः। दशानाम् आसन्नाः—आसन्नदशाः। दशानाम् अदूराः—अदूरदशाः। अदूरविंशाः। दशभ्योऽधिकाः—अधिकदशाः। अधिकविंशाः।

संख्या के साथ संख्या का समास यथा—

---

१. अत्रेदमवधेयम्—विंशतेः प्रागेकादिशब्दाः संख्येयेषु वर्त्तन्ते, विशेष्यलिङ्गाश्च। त्र्यादयो नित्यबहुवचनान्ताः। विंशत्यादिशब्दास्तु नित्यमेकवचनान्ताः संख्यायां संख्येये च वर्त्तन्ते, नवतिपर्यन्ता नित्यस्त्रीलिङ्गाश्च। यथा विंशतिर्ब्राह्मणाः, ब्राह्मणानां विंशतिरिति। यदा विंशत्यादिः संख्या, ततो द्वित्वबहुत्वे स्तः। यथा गवां द्वे विंशती इति। चत्वारिंशदिति गम्यते। गवां तिस्रो विंशतय इति। षष्टिरिति गम्यते। उक्तञ्चामरेण—

विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः॥ (अमरकोषे)

२. अर्थः—संख्येय अर्थ में जो बहुव्रीहि, उस से परे समासान्त डच् प्रत्यय हो जाता है परन्तु बहुशब्दान्त तथा गणशब्दान्त बहुव्रीहि से नहीं होता।

३. अर्थः—डित् परे हो तो विंशति के भसंज्ञक 'ति' का लोप हो जाता है।

द्वौ वा त्रयो वा—द्वित्राः (दो या तीन)। पूर्ववत् समासान्त डच् (अ) हो कर टि का लोप हो जाता है। पञ्च वा षड् वा—पञ्चषाः (पांच या छः)। एको वा द्वौ वा—एकद्वाः (एक या दो)। त्रयो वा चत्वारो वा—त्रिचतुराः (तीन या चार)। यहां समासान्त डच् न हो कर **त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते** (वा०) इस इष्टि के द्वारा अच् समासान्त हो जाता है, इस से टि का लोप नहीं होता।

[३] **दिङ्नामान्यन्तराले** ।२।२।२६॥

अर्थः—दिशावाचक सुँबन्तों का बहुव्रीहिसमास होता है और वह समास दोनों की मध्यवर्त्ती दिशा का बोध कराता है। उदाहरण यथा—

दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशोरन्तराला दिक्—दक्षिणपूर्वा। यहां पूर्वपद को **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) से पुंवद्भाव हो जाता है। इसीतरह—उत्तरपूर्वा आदि।

[४] **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च** (वा०[1])।

अर्थः—सप्तम्यन्तयुक्त या उपमानयुक्त पूर्वपद का अन्यपदार्थ में दूसरे पद के साथ बहुव्रीहिसमास हो जाता है परन्तु इस समास के कथित पूर्वपद में स्थित उत्तरपद का लोप हो जाता है।

सप्तम्यन्तयुक्त पूर्वपद का उदाहरण यथा—

कण्ठेस्थः[2] कालो यस्य सः=कण्ठेकालः। यहां 'कण्ठेस्थः' यह पूर्वपद है जो सप्तम्यन्त से युक्त है। इस का जब 'कालः' के साथ बहुव्रीहिसमास होता है तब प्रकृतवार्त्तिक से 'कण्ठेस्थ' इस पूर्वपद के उत्तरपद 'स्थ' पद का लोप हो कर 'कण्ठेकालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—उरसिस्थानि लोमानि यस्य सः=उरसिलोमा इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। वरदराज ने इन की सिद्धि संक्षेपवश व्यधिकरणबहुव्रीहि मान कर की है पर वस्तुतः ये समास इसी वार्त्तिकद्वारा पूर्वपद में स्थित उत्तरपद के लोप करने से ही निष्पन्न होते हैं। व्यधिकरणबहुव्रीहि के चक्रपाणिः, दण्डपाणिः, शरजन्मा, इन्दुमौलिः आदि अन्य अनेक उदाहरण पीछे दर्शाए जा चुके हैं।

उपमानयुक्त पूर्वपद का उदाहरण यथा—

उष्ट्रस्य मुखम् उष्ट्रमुखम् (षष्ठीतत्पुरुषः)। अब इस षष्ठीतत्पुरुष का दूसरे पद के साथ बहुव्रीहिसमास करते हैं—उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः (ऊंट के

---

१. सप्तमी (सप्तम्यन्तम्) च उपमानं च सप्तम्युपमानम्। सप्तम्युपमानसहिते पूर्वपदे यस्य तत् सप्तम्युपमानपूर्वपदम्। तस्य समस्तपदस्य पदान्तरेण बहुव्रीहिर्वाच्यः, समस्तपदात्मके पूर्वपदे यदुत्तरपदं तस्य लोपश्च वक्तव्य इत्यर्थः।

२. **सुँपि स्थः** (३.२.४) इति कप्रत्ययः। कण्ठे तिष्ठतीति कण्ठेस्थः। उपपदसमासः। **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६.३.११) इति सप्तम्या अलुक्।

मुख के समान मुख वाला)। 'उष्ट्रमुख सुँ[1] + मुख सुँ' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृत वार्त्तिक से बहुव्रीहिसमास होता है। समास में सुँब्लुक् हो कर—उष्ट्रमुख + मुख। अब यहां 'उष्ट्रमुख' यह पूर्वपद उपमानयुक्त है क्योंकि इस में 'मुख' उपमान है, अतः प्रकृत वार्त्तिक से इस समास के पूर्वपद (उष्ट्रमुख) के उत्तरपद (मुख) का लोप हो कर 'उष्ट्रमुखः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यह समास इस उदाहरण के कारण बहुत प्रसिद्ध है। यह इस का मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है। अतः कई जगह 'उष्ट्रमुखादिवत्समासः' ऐसा कह देते हैं।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

वृषस्य स्कन्धो वृषस्कन्धः, वृषस्कन्ध इव स्कन्धो यस्य स वृषस्कन्धः (बैल के कन्धे की तरह कन्धे वाला)[2]। हंसस्य गमनं हंसगमनम्, हंसगमनमिव गमनं यस्याः सा हंसगमना (हंस की चाल की तरह चाल वाली स्त्री)। चन्द्रस्य कान्तिश्चन्द्रकान्तिः, चन्द्रकान्तिरिव कान्तिर्यस्य स चन्द्रकान्तिः (चान्द की कान्ति की तरह कान्ति वाला)। पितुः स्थानं पितृस्थानम्, पितृस्थानमिव स्थानं यस्य स पितृस्थानः (पिता के स्थान की तरह स्थान वाला अर्थात् पितृतुल्य)। हरिणस्य अक्षिणी हरिणाक्षिणी, हरिणाक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा हरिणाक्षी [अत्र **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** (९७१) इति षचि स्त्रियां षित्त्वान्ङीषि रूपं साधु]। सर्वत्र तत्पुरुषसमास हो कर पुनः बहुव्रीहि करने में पूर्वपद के उत्तरपद का लोप हो जाता है।

अब बहुव्रीहिसमास के कुछ प्रसिद्ध समासान्तों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७१) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ।५।४।११३॥

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात् किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनाद् (९९४) इति वक्ष्यमाणोऽच्॥

अर्थः—जिस के अन्त में स्वाङ्गवाची सक्थि (ऊरु) या अक्षि (नेत्र) शब्द हो, उस बहुव्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—बहुव्रीहौ ।७।१। सक्थ्यक्ष्णोः ।६।२। स्वाङ्गात् ।५।१। षच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'बहुव्रीहौ' में पञ्चमी के अर्थ में सप्तमी का तथा 'सक्थ्यक्ष्णोः' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी या सप्तमी का व्यत्यय से प्रयोग समझना चाहिये[3]—बहुव्रीहेः सक्थ्यक्षिभ्याम्। इन में सक्थ्य-

---

१. यहां 'उष्ट्रमुख' शब्द उष्ट्रमुखसदृश अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में 'इव' का प्रयोग नहीं होता।

२. **व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः**—(रघु० १.१३)।

३. अत एव काशिकाकार ने यहां कहा है—**सूत्रे तु दुःश्लिष्टविभक्तीनि पदानि** (काशिका ५.४.११३)।

क्षिभ्याम्' पद 'बहुव्रीहेः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'सक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। 'स्वाङ्गात्' पद 'सक्थ्यक्षिभ्याम्' के साथ अन्वित होता है। इस तरह सूत्रार्थ हो जाता है—(स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची (सक्थ्यक्षिभ्याम्) जो सक्थि और अक्षिशब्द, तदन्त (बहुव्रीहेः) बहुव्रीहिसमास से परे (षच्) षच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव माना जाता है। **तद्धिताः** (६१६) अधिकार के कारण वह तद्धितसंज्ञक भी होता है। 'स्वाङ्ग' शब्द व्याकरण में एक पारिभाषिकशब्द[1] है। इस का सविस्तर विवेचन स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्र पर किया जायेगा। यहां इतना समझना पर्याप्त है कि शरीर के अङ्ग को 'स्वाङ्ग' कहते हैं। **षच्** प्रत्यय का षकार **षः प्रत्ययस्य** (८३६) सूत्र से तथा चकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अ' मात्र शेष रहता है। इसे षित् करने का प्रयोजन **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् (ई) प्रत्यय का विधान करना है। चित्करण अन्तोदात्तस्वर के लिये है।

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यन्त बहुव्रीहि से षच् यथा—

लौकिकविग्रह—दीर्घे सक्थिनी[2] यस्य सः=दीर्घसक्थः पुरुषः (दीर्घ ऊरुओं वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—दीर्घ औ+सक्थि औ। यहां दोनों पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन में बहुव्रीहिसमास हो जाता है। समास में विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'दीर्घसक्थि' बना। अब यहां स्वाङ्गवाची सक्थिशब्द अन्त में होने के कारण इस बहुव्रीहि से **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) इस प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त षच् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने पर—'दीर्घसक्थि +अ' इस स्थिति में 'अ' इस तद्धितप्रत्यय के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'दीर्घसक्थः' (पुरुषः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यदि स्त्रीलिङ्ग विवक्षित हो तो 'दीर्घसक्थ' से षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'दीर्घसक्थी' (स्त्री) बनेगा।

इसीप्रकार—गौरसक्थः पुरुषः, गौरसक्थी स्त्री आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये।

स्वाङ्गवाचि-अक्षिशब्दान्त बहुव्रीहि से षच् यथा—

---

१. **अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।**
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥ (महाभाष्य ४.१.५४)

२. **सक्थि क्लीबे पुमानूरुः**—इत्यमरः।

लौकिकविग्रह—जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा = जलजाक्षी स्त्री (कमल की तरह नेत्रों वाली स्त्री)। अलौकिकविग्रह—जलज औ + अक्षि औ। यहां दोनों पद अन्यपद (स्त्री) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन में बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् कर सवर्णदीर्घ करने से 'जलजाक्षि' बना। अब इस बहुव्रीहि के अन्त में स्वाङ्गवाची 'अक्षि' शब्द विद्यमान है अतः **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) इस प्रकृतसूत्र से षच् समासान्त हो अनुबन्धों का लोप करने पर 'जलजाक्षि + अ' इस स्थिति में 'अ' इस तद्धित प्रत्यय के परे रहते **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक इकार का लोप कर—जलजाक्ष। विशेष्यानुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष्, ङकार और षकार अनुबन्धों का लोप एवं भसंज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'जल-जाक्षी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

इसीप्रकार—कमलाक्षी, आयताक्षी, विमलाक्षी, लोहिताक्षी आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है। यदि स्त्रीत्व विवक्षित न हो तो ङीष् न होगा, शेष प्रक्रिया समान है। यथा—विरूपाणि (विषमत्वाद्) अक्षीणि यस्य सः = विरूपाक्षः (शिवः)। विरूपाक्षं वपुः[2]।

प्रकृतसूत्र में 'स्वाङ्गात्' कहा गया है अतः सक्थि और अक्षि यदि स्वाङ्गवाची न होंगे तो एतदन्त बहुव्रीहि से समासान्त षच् न होगा। यथा—दीर्घं सक्थि यस्य तत् = दीर्घसक्थि शकटम् (लम्बे फड़ वाला छकड़ा)। यहां पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास तो है और इस के अन्त में सक्थिशब्द भी है, पर वह स्वाङ्गवाची नहीं (क्योंकि इस सक्थि का अर्थ है छकड़े की फड़), अतः यहां समासान्त षच् नहीं हुआ। नपुंसक विशेष्य के कारण समास से नपुंसक में **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) द्वारा सुँ का लुक् हो कर 'दीर्घसक्थि' (शकटम्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'अक्षि' का प्रत्युदाहरण यथा—

स्थूलानि अक्षीणि (पर्वग्रन्थयः) यस्याः सा = स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः (मोटी पर्व-ग्रन्थियों वाली बांस की छड़ी)। यहां 'स्थूल जस् + अक्षि जस्' में पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास, सुंब्लुक् तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने से 'स्थूलाक्षि' बना। अब अक्षिशब्दान्त बहुव्रीहि होने पर भी प्रकृतसूत्र से समासान्त षच् नहीं होता कारण कि

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि समासगत 'जलज' शब्द 'जलजे इव' के अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में 'इव' का प्रयोग नहीं होता। लौकिकविग्रह में इसे दर्शाने के लिये 'इव' लगाया जाता है।

२. **वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।**
वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ।।
(कुमार० ५.७२)

अक्षिशब्द यहां स्वाङ्गवाची नहीं अपितु पर्वग्रन्थि (पोर) अर्थ में आया है। तब इस से वक्ष्यमाण **अक्ष्णोऽदर्शनात्** (६६४) सूत्र से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय हो कर उस अच् तद्धित के परे रहते भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर—स्थूलाक्ष्+अ=स्थूलाक्ष। विशेष्य (यष्टि) के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप्, अनुबन्धों का लोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्ति लाने पर 'स्थूलाक्षा' (वेणुयष्टिः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यदि यहां समासान्त षच् किया जाता तो स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र द्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर 'स्थूलाक्षी' प्रयोग बनता जो अनिष्ट था।

प्रकृतसूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास से ही षच् कहा गया है अन्यसमास से नहीं। अतः 'परमं च तत् सक्थि परमसक्थि, परमं च तद् अक्षि परमाक्षि' इत्यादि कर्मधारय-समास में षच् नहीं होता।

जिस बहुव्रीहि के अन्त मे अस्थि और अक्षि शब्द न हो कर अन्य कोई स्वाङ्ग-वाची शब्द होगा तो उस से परे भी षच् न होगा। यथा—दीर्घे जानुनी यस्य सः=दीर्घजानुः। यहां स्वाङ्गवाची 'जानु' शब्द के होने पर भी षच् नहीं होता।

अब बहुव्रीहिसमास में समासान्त 'ष' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७२) द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ।५।४।११५॥

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः॥

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में 'द्वि' और 'त्रि' शब्दों से परे यदि 'मूर्धन्' शब्द हो तो उस से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो।

व्याख्या—द्वित्रिभ्याम् ।५।२। ष इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। मूर्ध्नः। ५।१। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। द्विश्च त्रिश्च द्वित्री, ताभ्याम्=द्वित्रिभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (द्वित्रिभ्याम्) द्वि अथवा त्रि शब्दों से परे (मूर्ध्नः) जो मूर्धन् शब्द उस से परे (षः) 'ष' प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव तथा (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक भी होता है। 'ष' प्रत्यय का आद्य षकार **षः प्रत्ययस्य** (८३६) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अ' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय का षित्करण स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौ-रादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीष्विधान के लिये किया गया है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—**द्वौ मूर्धानौ** यस्य सः=द्विमूर्धः (दो सिरों वाला)। **अलौकिक-विग्रह**—द्वि औ+मूर्धन् औ। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से इन का बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, तथा समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् करने से—

द्विमूर्धन् । यहां बहुव्रीहिसमास में 'द्वि' से परे 'मूर्धन्' शब्द विद्यमान है अतः **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) इस प्रकृत सूत्र से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो कर षकार अनुबन्ध का लोप करने पर—'द्विमूर्धन्+अ' हुआ। अब 'अ' इस तद्धित के परे रहते **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर—द्विमूर्ध्+अ='द्विमूर्ध' इस स्थिति में विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'द्विमूर्धः' (राक्षसः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—'त्रयो मूर्धानो यस्य स त्रिमूर्धः' की सिद्धि जाननी चाहिये।

ध्यान रहे कि स्त्रीत्व की विवक्षा में समासान्त के षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय ला कर भसंज्ञक अकार का लोप तथा विभक्ति-कार्य करने से 'द्विमूर्धी, त्रिमूर्धी' (राक्षसी) प्रयोग बनेंगे।

'द्वि' या 'त्रि' से भिन्न अन्य शब्दों से परे यदि 'मूर्धन्' शब्द होगा तो बहुव्रीहि में यह समासान्त 'ष' न होगा। यथा—बहवो मूर्धानो यस्य स बहुमूर्धा, दश मूर्धानो यस्य स दशमूर्धा[1]।

इस समासान्त के उदाहरण-प्रत्युदाहरण का साहित्यगत प्रयोग यथा—

अथ सम्पततो भीमान् विशिखै रामलक्ष्मणौ।
बहुमूर्ध्नो द्विमूर्धांश्च त्रिमूर्धांश्चाहतां मृधे ॥ (भट्टि० ४.४१)

[अथ=अनन्तरम्, रामलक्ष्मणौ, सम्पततः=सम्मुखमागच्छतः, भीमान्=भयङ्करान्, बहुमूर्ध्नः=बहुशिरस्कान्, द्विमूर्धान्=द्विशिरस्कान्, त्रिमूर्धान्=त्रिशिरस्कान् च राक्षसान्, मृधे=युद्धे, विशिखैः=बाणैः, अहताम्=हतवन्तौ]।

अब बहुव्रीहिसमास में समासान्त अप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७३) अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः । ५।४।११७॥

आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः॥

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में अन्तर् और बहिस् अव्ययों से परे यदि लोमन् शब्द हो तो उस समास से समासान्त अप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अन्तर्बहिर्भ्याम् ।५।२। च इत्यव्ययपदम् । लोम्नः ।५।१। अप् ।१।१। (**अप् पूरणीप्रमाण्योः** सूत्र से)। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(**बहुव्रीहौ**) बहुव्रीहिसमास में (**अन्तर्बहिर्भ्याम्**) अन्तर् और बहिस् अव्ययों से परे (**लोम्नः**) जो लोमन् शब्द उस से परे (च) भी (अप्) अप् प्रत्यय हो जाता है और वह (**तद्धितः**) तद्धितसंज्ञक होता हुआ (समासान्तः) समास का अन्तावयव भी माना जाता है। 'अप्' में पकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। अन्तर्

---

१. बहुमूर्धन्, दशमूर्धन् आदि शब्दों की सुँबन्तप्रक्रिया राजन्शब्द की तरह होती है।

और बहिस् अव्ययों की व्याख्या अव्ययप्रकरण में सविस्तर कर चुके हैं वहीं देखें।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अन्तर्लोमानि यस्य सः=अन्तर्लोमः (अन्दर की ओर रोमों वाला प्रावार=चादर आदि)। अलौकिकविग्रह—अन्तर्+लोमन् जस्। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो कर प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँब्लुक् करने से—अन्तर्लोमन्। अब यहां बहुव्रीहिसमास में 'अन्तर्' से परे 'लोमन्' शब्द विद्यमान है अतः **अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः** (९७३) इस प्रकृतसूत्र से समासान्त अप् प्रत्यय हो कर—'अन्तर्लोमन्+अ' इस स्थिति में तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसंज्ञक टि (अन्) का **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से लोप कर—अन्तर्लोम्+अ=अन्तर्लोम। विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'अन्तर्लोमः' (प्रावारः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—बहिर्लोमानि यस्य स बहिर्लोमः (पटः), बाहर की ओर रोओं वाला पट आदि। यहां 'बहिस्' अव्यय के पदान्त सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँ आदेश विशेष है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा लोपरूप समासान्त का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७४) पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः। ५।४।१३८॥

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात् परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्[1]। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः॥

अर्थः—हस्त्यादियों से भिन्न उपमानवाचक शब्द से परे 'पाद' शब्द का समासान्त लोप हो बहुव्रीहिसमास में।

व्याख्या—पादस्य।६।१। लोपः।१।१। अहस्त्यादिभ्यः।५।३। उपमानात्।५।१। (**उपमानाच्च** सूत्र से)। बहुव्रीहौ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से)। समासान्तः।१।१। (यह अधिकृत है)। हस्तिशब्द आदिर्येषां ते हस्त्यादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। न हस्त्यादयः—अहस्त्यादयः, तेभ्यः=अहस्त्यादिभ्यः, नञ्तत्पुरुषः। हस्त्यादि एक गण है[2]। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (अहस्त्यादिभ्यः) हस्त्यादियों से भिन्न (उपमानात्) उपमानवाचक शब्द से परे (पादस्य) जो 'पाद' शब्द

---

१. 'व्याघ्रस्येव पादौ अस्य' यह लौकिकविग्रह नहीं अपितु इस समास का तात्पर्यकथन है। इस का विग्रह तो 'व्याघ्रपादाविव पादौ अस्य' इस प्रकार समझना चाहिये।

२. हस्तिन्, कुद्दाल, अश्व, कशिक, कुरुत, कटोल, कटोलक, गण्डोल, गण्डोलक, कण्डोल, कण्डोलक, अज, कपोत, जाल, गण्ड, महेला (पाठान्तर—महिला), दासी, गणिका, कुसूल—इति हस्त्यादिः।

उस का (लोपः) लोप हो जाता है और वह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। यह लोप **आदेः परस्य** (७२) परिभाषाद्वारा 'पाद' शब्द के आदि पकार के स्थान पर प्राप्त होता था परन्तु इसे समासान्त अर्थात् समास का अन्तावयव माना गया है अतः यह लोप **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषाद्वारा पादशब्द के अन्त्य अल् अर्थात् दकारोत्तर अकार का ही होता है। लोप को समासान्त मानने का एक और भी प्रयोजन है, इस से परे **शेषाद्विभाषा** (६८४) द्वारा वैकल्पिक समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता। कारण कि उस सूत्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब कोई दूसरा समासान्त न किया गया हो। यहां तो लोपरूप समासान्त हो चुका है। सूत्र का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—व्याघ्रस्य पादौ व्याघ्रपादौ (षष्ठीतत्पुरुषसमासः), व्याघ्रपादाविव पादौ यस्य स व्याघ्रपात् (शेर के पैरों के सदृश पैरों वाला व्यक्ति)। अलौकिकविग्रह—व्याघ्रपाद[1] औ+पाद औ। यहां **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च** (वा०) इस वार्त्तिकद्वारा अन्यपदार्थ में दोनों पदों का बहुव्रीहिसमास, सुँब्लुक् तथा समास में पूर्वपद (व्याघ्रपाद) के उत्तरपद (पाद) का लोप करने पर 'व्याघ्रपाद' बना। अब इस बहुव्रीहिसमास में हस्त्यादियों से भिन्न उपमानवाची 'व्याघ्र' शब्द विद्यमान है[2]। इस से परे 'पाद' शब्द भी मौजूद है अतः **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (६७४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा पादशब्द के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का समासान्त लोप हो कर—व्याघ्रपाद्। विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) सूत्रद्वारा लोप तथा **वाऽवसाने** (१४६) से अवसान में वैकल्पिक चर्त्व करने से 'व्याघ्रपात्, व्याघ्रपाद्' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस की रूपमाला 'सुपाद्' शब्द की तरह चलेगी। शस् में **पादः पत्** (३३३) सूत्र से पाद् को पद् आदेश हो जायेगा—व्याघ्रपदः।

इसीप्रकार—सिंहस्य पादौ सिंहपादौ, सिंहपादाविव पादौ यस्य स सिंहपात् इत्यादि प्रयोगों की प्रक्रिया जाननी चाहिये।

सूत्र में 'अहस्त्यादिभ्यः' कहा गया है अतः हस्तिन् आदि उपमानों से परे प्रकृतसूत्रद्वारा 'पाद' को लोपरूप समासान्त नहीं होता। यथा—हस्तिनः पादौ हस्तिपादौ, हस्तिपादाविव पादौ यस्य स हस्तिपादः[3]। यहां 'हस्तिन्' उपमान से परे पाद का समासान्त लोप नहीं हुआ। इसीप्रकार—कुसूलपादाविव पादौ यस्य स कुसूलपादः (अन्न-

---

१. यहां 'व्याघ्रपाद' शब्द 'व्याघ्रपादसदृश' के अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में 'इव' का प्रयोग नहीं होता।

२. उपमान यद्यपि व्याघ्र नहीं उस के पाद हैं तथापि अवयव के सम्बन्ध से अवयवी को भी यहां उपमान समझा गया है।

३. समास में **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से 'हस्तिन्' के नकार का लोप हो जाता है।

कोष्टक के पैरों की तरह पैरों वाला)[1] । अजपादः । अश्वपादः । कपोतपादः । जालपादः । दासीपादः । गणिकापादः । गण्डपादः । इत्यादि ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः 'पाद' शब्द के अन्त्यलोप रूप समासान्त का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७५) **संख्या-सु-पूर्वस्य** ।५।४।१४०।।

(संख्या-सु-पूर्वस्य) पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ । द्विपात् । सुपात् ।।

अर्थः—संख्यावाचक शब्द अथवा 'सु' अव्यय जिस के पूर्व में हो ऐसे **पादशब्द** का समासान्त लोप हो बहुव्रीहिसमास में ।

व्याख्या—संख्या-सु-पूर्वस्य ।६।१। पादस्य ।६।१। लोपः ।१।१। (**पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** सूत्र से)। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। संख्या च सुश्च—संख्यासू, इतरेतरद्वन्द्वः । संख्यासू पूर्वौ यस्य स संख्यासुपूर्वः, तस्य=संख्यासुपूर्वस्य, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (संख्यासुपूर्वस्य) संख्यावाचक या 'सु' अव्यय जिस के पूर्व में हो ऐसे (पादस्य) पादशब्द का (लोपः) लोप हो जाता है, और वह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा के अनुसार यह लोप पादशब्द के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का ही होता है ।

संख्यापूर्व का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् (दो पैरों वाला) । अलौकिकविग्रह—द्वि औ + पाद औ । यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से दोनों का बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् करने से—द्विपाद । अब इस बहुव्रीहि में संख्यावाचक 'द्वि' शब्द से परे 'पाद' शब्द विद्यमान है अतः प्रकृत **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) सूत्रद्वारा 'पाद' के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का समासान्त लोप हो कर—द्विपाद् । विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर प्रथमा के एकवचन में सुँप्रत्यय के अपृक्त सकार का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् से हल्ङ्यादिलोप कर **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने से—'द्विपात्, द्विपाद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

---

1. अथान्तःकोष्टकः कुसूलः—इति हेमचन्द्रः । 'कुसूलपादः' का अभिप्राय अन्वेष्टव्य है। वृत्ति में 'कुसूल' पद कुसूलसदृश के अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में '**इव**' का प्रयोग नहीं होता।

इसीप्रकार—त्रयः पादा यस्य स त्रिपात्, चत्वारः पादा यस्य स चतुष्पात्[1] आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सुपूर्व का उदाहरण यथा—

सु (शोभनौ) पादौ यस्य स सुपात्। 'सु+पाद औ' इस अलौकिकविग्रह में पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास हो कर—सुपाद। अब प्रकृत **संख्यासुपूर्वस्य** (६७५) सूत्रद्वारा 'सु' से परे 'पाद' के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो विभक्तिकार्य करने से—'सुपात्, सुपाद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

सुपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद् आदि शब्दों की रूपमाला **पादः पत्** (३३३) सूत्र पर हलन्तपुंलिङ्गप्रकरण में दर्शा चुके हैं वहीं देखें।

स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के विवक्षित होने पर सुपाद् आदि शब्दों से **पादोऽन्यतरस्याम्** (४.१.८)[2] सूत्रद्वारा वैकल्पिक ङीप् हो जाता है। ङीप्पक्ष में भसंज्ञा के कारण **पादः पत्** (३३३) से पाद् को पद् आदेश हो कर—सुपदी, द्विपदी, त्रिपदी आदि बनते हैं। ङीप् के अभाव में—सुपाद्, द्विपाद् आदि यथापूर्व रूप रहते हैं।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'काकुद' के अन्त्यलोपरूप समासान्त का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७६) **उद्विभ्यां काकुदस्य** ।५।४।१४८॥

लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्॥

अर्थः—'उद्' अथवा 'वि' निपातों से परे काकुदशब्द का समासान्त लोप हो जाता है बहुव्रीहिसमास में।

व्याख्या—उद्विभ्याम् ।५।२। काकुदस्य ।६।१। लोपः ।१।१। (**ककुदस्यावस्थायां लोपः** सूत्र से)। बहुव्रीहौ ७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से)। समासान्तः ।१।१। (यह अधिकृत है)। उच्च विश्च उद्वी, ताभ्याम्=उद्विभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (उद्विभ्याम्) उद् और वि निपातों से परे (काकुदस्य) काकुद शब्द का (लोपः) लोप हो जाता है और यह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (६७४) सूत्रोक्तप्रकारेण यहां पर भी **आदेः परस्य** (७२) का बाध कर अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा काकुदशब्द के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का ही लोप होता है।

'उद्' से परे उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—उद्गतं काकुदं (तालु)[3] यस्य स उत्काकुत् (उठे हुए तालु

---

१. 'चतुः+पाद्' इस अवस्था में **इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य** (८.३.४१) सूत्रद्वारा विसर्ग को षत्व हो जाता है।

२. अर्थः—पाद्शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

३. तालु तु काकुदम्—इत्यमरः।

वाला)। अलौकिकविग्रह— उद्गत सुँ + काकुद सुँ। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६५) इस वार्त्तिकद्वारा बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा इसी वार्त्तिक से पूर्वपद (उद्गत) के उत्तरपद (गत) का लोप कर **खरि च** (७४) सूत्र से चर्त्वद्वारा दकार को तकार करने से 'उत्काकुद' बना। अब यहां बहुव्रीहिसमास में उद् से परे काकुदशब्द विद्यमान है अतः प्रकृत **उद्विभ्यां काकुदस्य** (९७६) सूत्रद्वारा काकुद के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का समासान्त लोप कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय के अपृक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाने से— उत्काकुद्। अन्त में **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व हो कर —'**उत्काकुत्, उत्काकुद्**' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

'वि' से परे उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विगतं (विकृतं विशिष्टं वा) काकुदं यस्य स विकाकुत् (विपरीत विकृत या विशिष्ट तालु वाला)। अलौकिकविग्रह—विगत सुँ + काकुद सुँ। यहां पर भी पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास, सुँब्लुक्, पूर्वपद के उत्तरपद का लोप तथा काकुद के अन्त्य अकार का समासान्त लोप कर विभक्तिकार्य करने से—'विकाकुत्, विकाकुद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

उद्गतकाकुदः, विगतकाकुदः[1]—इन में यह समासान्त लोप प्रवृत्त नहीं होता, कारण कि इन में उद् और वि से परे साक्षात् काकुदशब्द नहीं आया मध्य में 'गत' शब्द का व्यवधान पड़ता है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पूर्णशब्द से परे काकुद का वैकल्पिक लोपविधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७७) **पूर्णाद् विभाषा** ।५।४।१४९।।

(पूर्णात्काकुदस्य वा लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ)। पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः।।

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में पूर्णशब्द से परे काकुद का विकल्प से समासान्त लोप हो।

व्याख्या—पूर्णात् ।५।१। विभाषा ।१।१। काकुदस्य ।६।१। (**उद्विभ्यां काकुदस्य** सूत्र से)। लोपः ।१।१। (**काकुदस्यावस्थायां लोपः** सूत्र से)। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से)। समासान्तः ।१।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (पूर्णात्) पूर्णशब्द से परे (काकुदस्य) काकुदशब्द का (विभाषा) विकल्प से (लोपः) लोप हो जाता है और यह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता

---

1. ये रूप उस पक्ष के हैं जहां **प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६५) वार्त्तिकद्वारा पूर्वपद के उत्तरपद का लोप नहीं होता।

है। यहां पर भी पूर्ववत् अलोऽन्त्यपरिभाषा से काकुद के अन्त्य अल्-अकार का ही लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पूर्णं काकुदं यस्य सः = पूर्णकाकुत् पूर्णकाकुदो वा (पूर्ण या परिपक्व तालु वाला)। अलौकिकविग्रह—पूर्ण सुँ + काकुद सुँ। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन का बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने से 'पूर्णकाकुद' बना। अब यहां बहुव्रीहिसमास में पूर्णशब्द से परे 'काकुद' विद्यमान है अतः **पूर्णाद्विभाषा** (९७७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'काकुद' के अन्त्य अकार का विकल्प से समासान्त लोप हो जाता है। लोपपक्ष में प्रथमा विभक्ति के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उस का हल्ङ्याबादिलोप तथा अवसान में **वाऽवसाने** (१४६) सूत्रद्वारा वैकल्पिक चर्त्व करने से 'पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। लोप के अभाव में सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'पूर्णकाकुदः' बनेगा।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा सुहृद् और दुर्हृद् शब्दों की सिद्धि दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७८) **सुहृद्-दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः ।** ५।४।१५०॥

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृन्मित्रम्। दुर्हृद् अमित्रः ॥[1]

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में सु और दुर् निपातों से परे हृदयशब्द के स्थान पर हृद् आदेश निपातित किया जाता है क्रमशः मित्र और शत्रु अर्थों में।

व्याख्या—सुहृद्-दुर्हृदौ ।१।२। मित्राऽमित्रयोः ।७।२। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से)। समासान्ताः ।१।३। (यह अधिकृत है)। सुहृत् च दुर्हृत् च सुहृद्-दुर्हृदौ, इतरेतरद्वन्द्वः। मित्रञ्च अमित्रश्च मित्रामित्रौ, तयोः = मित्रामित्रयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (मित्राऽमित्रयोः) मित्र और शत्रु वाच्य होने पर (सुहृद्-दुर्हृदौ) सुहृद् और दुर्हृद् निपातित किये जाते हैं। **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्**

---

१. न मित्रम्—अमित्रः। यहां नञ्तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से प्राप्त परवल्लिङ्गता का **भृत्राऽमित्र-च्छात्त्र-पुत्र-मन्त्र-वृत्र-मेढ्रोष्ट्राः पुंसि** (लिङ्गानु० १५५) सूत्र से निषेध हो कर पुंस्त्व हो जाता है। **अमेर्द्विषति चित्** (उणादि० ६१३) इस औणादिकसूत्रद्वारा अम् धातु से इत्रच् प्रत्यय करने पर भी 'अमित्र' शब्द सिद्ध होता है। अमित्रशब्द लोक में सदा पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है—**तस्य मित्राण्यमित्रास्ते** (माघ० २.१०१)। काशिकाकार का यहां 'दुर्हृद् अमित्रम्' ऐसा लिखना चिन्त्य है।

(२३) परिभाषा के अनुसार मित्र अर्थ में 'सुहृद्' तथा शत्रु अर्थ में 'दुर्हृद्' का निपातन समझना चाहिये। **समासान्ताः** (५.४.६८) अधिकार में पठित होने से ये दोनों शब्द कृतसमासान्त निपातित किये गये हैं। दूसरे शब्दों में मित्र और अमित्र (शत्रु) वाच्य होने पर सु और दुस् (या दुर्) से परे हृदय शब्द को 'हृद्' समासान्त आदेश हो जाता है बहुव्रीहिसमास में। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सु (शोभनं) हृदयं यस्य सः = सुहृत् (शोभन हृदय वाला अर्थात् मित्र)। अलौकिकविग्रह—सु + हृदय सुँ। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा सुँब्लुक् हो कर प्रकृतसूत्र से हृदय को हृद् आदेश कर विभक्ति लाने से 'सुहृत्, सुहृद्'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार—दुः (दुष्टम् अशोभनं वा) हृदयं यस्य सः = दुर्हृत् (दुष्ट हृदय वाला अर्थात् शत्रु)। यहां 'दुर् + हृदय सुँ' के बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् कर प्रकृतसूत्रद्वारा हृदय को हृद् समासान्त आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने से 'दुर्हृत्, दुर्हृद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। **रिपौ वैरि-सपत्नाऽरि-द्विषद्-द्वेषण-दुर्हृदः**—इत्यमरः।

मित्र और शत्रु अर्थ न होने पर यह आदेश नहीं होता। यथा—सुहृदयो मुनिः। दुर्हृदयश्चौरः। हृदयवाचक हृद् (नपुं०)[2] शब्द से भी सुहृद् और दुर्हृद् निष्पन्न किये जा सकते थे पुनः इस निपातन का क्या प्रयोजन? इस का उत्तर यह है कि मित्र और शत्रु अर्थों में 'सुहृदयः' और 'दुर्हृदयः' न बन जायें इसे रोकने के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

अब बहुव्रीहिसमास के सुप्रसिद्ध समासान्त कप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९७९) उरःप्रभृतिभ्यः कप्** ।५।४।१५१॥

(उरःप्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः कप् स्यात् समासान्तः)॥

अर्थः—उरस् आदि शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे बहुव्रीहिसमास से समासान्त कप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—उरःप्रभृतिभ्यः ।५।३। कप् ।१।१। बहुव्रीहेः ।५।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः**० सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। उरः (उरस् इतिशब्दः) प्रभृतिर् (आदिर्) येषान्ते उरःप्रभृतयः, तेभ्यः = उरःप्रभृतिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। 'उरःप्रभृतिभ्यः' यह पद 'बहुव्रीहेः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उरःप्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः' बन जाता है। अर्थः—(उरःप्रभृतिभ्यः = उरःप्रभृत्यन्तात्) उरस् आदि शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे (बहुव्रीहेः) बहुव्रीहिसमास से परे (कप्) कप् प्रत्यय हो जाता

---

१. **एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।**
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ (मनु० ८.१७)

२. **चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः**—इत्यमरः।

है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक तथा (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। उरःप्रभृति एक गण है जो गणपाठ में दिया गया है[1]। इस का प्रथम शब्द 'उरस्' होने के कारण इसे उरःप्रभृति कहा जाता है। कप् प्रत्यय का पकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। इसे पित् करने का प्रयोजन **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.३) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर करना है। **लशक्वतद्धिते** (१३६) सूत्र में 'अतद्धिते' कहा गया है अतः कप् के ककार की इत्संज्ञा नहीं होती क्योंकि यह तद्धितसंज्ञक है।

सूत्र के उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—व्यूढं (विशालम्) उरो (वक्षो) यस्य सः=व्यूढोरस्कः (चौड़ी छाती वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—व्यूढ सुँ+उरस् सुँ। यहां पर दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन का बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा एवं प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर—व्यूढ+उरस्। **आद् गुणः** (२७) से गुण करने से—व्यूढोरस्। अब यहां बहुव्रीहिसमास के अन्त में 'उरस्' शब्द आया है जो उरःप्रभृतिगण का पहला शब्द है अतः प्रकृत **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) सूत्रद्वारा समासान्त कप् प्रत्यय हो कर पकार अनुबन्ध का लोप करने से 'व्यूढोरस्+क' हुआ। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) के अनुसार कप् प्रत्यय के परे रहते 'व्यूढोरस्' की पदसंज्ञा हो जाती है। अतः **ससजुषो रुः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश, उकारलोप तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—व्यूढोरः+क। पुनः वक्ष्यमाण **सोऽपदादौ**(९८०) सूत्र से विसर्ग को सकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'व्यूढोरस्कः'[2] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्रियं सर्पिर् (घृतं) यस्य सः=प्रियसर्पिष्कः (जिसे घी प्रिय है अर्थात् घृतप्रेमी)। अलौकिकविग्रह—प्रिय सुँ+सर्पिस् सुँ। यहां पर पूर्ववत् **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर—प्रियसर्पिस्।

---

१. उरःप्रभृतिगण यथा—

उरस्। सर्पिस्। उपानह्। पुमान्। अनड्वान्। पयः। नौः। लक्ष्मीः। दधि। मधु। शालि। अर्थान्नञः (गणसूत्रम्)॥

आचार्य वर्धमान ने इस गण को इस प्रकार छन्दोबद्ध किया है—

उरः सर्पिर्मधूपानद् दधि शालिः पयः पुमान्।
अनड्वान्नौस्तथा लक्ष्मीर्नञ्पूर्वान्नित्यमर्थतः॥

(गणरत्नमहोदधि, श्लोक १३६)

२. व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ (रघु० १.१३)

यहां बहुव्रीहिसमास के अन्त में 'सर्पिस्' शब्द आया है जो उरःप्रभृतियों में परिगणित है। अतः **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) इस प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त कप् (क) प्रत्यय हो कर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—प्रियसर्पिः+क। अब वक्ष्यमाण **इणः षः** (९८१) सूत्र से विसर्ग को षकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'प्रियसर्पिष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) विशालम् उरो यस्य स विशालोरस्कः।

(२) बहु सर्पिर्यस्य स बहुसर्पिष्कः (बहुत घृत वाला)।

(३) प्रियं पयो यस्य स प्रियपयस्कः (दुग्धप्रेमी)।

(४) प्रियं दधि यस्य स प्रियदधिकः।

(५) प्रियं मधु यस्य स प्रियमधुकः।

(६) सम्पन्नाः शालयो यस्य स सम्पन्नशालिकः।

(७) प्रिया लक्ष्मीर्यस्य स प्रियलक्ष्मीकः[1]।

(८) प्रिया नौर्यस्य स प्रियनौकः।

(९) प्रियोऽनड्वान् यस्य स प्रियानडुत्कः (बैल का प्रेमी)[2]।

(१०) अवमुक्ते उपानहौ येन सोऽवमुक्तोपानत्कः[3]।

उरःप्रभृतिगण में एक गणसूत्र पढ़ा गया है—**अर्थान्नञः**। इस का अर्थ है—जिस बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद नञ् तथा उत्तरपद अर्थ शब्द हो तो उस से परे समासान्त कप् प्रत्यय हो जाता है। यथा—अविद्यमानोऽर्थो यस्य तद् अनर्थकं (वचः)। यहां **नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६६) वार्त्तिक से बहुव्रीहिसमास में अस्त्यर्थक विद्यमानशब्द का लोप हो कर **तस्मान्नुँडचि** (९४८) सूत्रद्वारा नुँट् का आगम करने से 'अनर्थ' इस स्थिति में प्रकृत गणसूत्र से समासान्त कप् हो कर विभक्ति लाने से 'अनर्थकम्' (वचः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—उरःप्रभृतिगण पीछे लिख चुके हैं। इस गण में कुछ शब्द प्रातिपदिक के रूप में और कुछ अन्य प्रथमैकवचनान्त के रूप में पढ़े गये हैं। पयः, लक्ष्मीः, नौः, पुमान्, अनड्वान्—ये पाञ्च शब्द प्रथमैकवचनान्त पढ़े गये हैं। व्याख्याकारों का कथन है कि इन पाञ्च शब्दों से तभी कप् प्रत्यय किया जाता है जब ये

---

१. **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः।

२. अनडुह् शब्द के हकार को पदान्त में **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) से दकार हो कर **खरि च** (७४) द्वारा चर्त्वेन तकार हो जाता है।

३. उपानह् शब्द के हकार को पदान्त में **नहो धः** (३५९) सूत्रद्वारा धकार हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व-तकार हो जाता है। अवमुक्तोपानत्कः (जो जूते उतार चुका है)।

शब्द बहुव्रीहि में प्रथमैकवचनान्त हों अन्यथा वक्ष्यमाण **शेषाद् विभाषा** (९८४) सूत्र से कप् विकल्प से किया जाता है । यथा—प्रिया लक्ष्मीर्यस्य स प्रियलक्ष्मीकः । यहां समास में लक्ष्मीशब्द प्रथमैकवचनान्त है अतः प्रकृतसूत्र से कप् हो गया है । प्रिया लक्ष्म्यो यस्य स प्रियलक्ष्मीकः प्रियलक्ष्मीर्वा । यहां लक्ष्मी शब्द प्रथमाबहुवचनान्त है अतः प्रकृतसूत्र से कप् न हो कर **शेषाद् विभाषा** (९८४) से कप् का विकल्प हुआ है[1] ।

कप् प्रत्यय के परे रहते विसर्ग को कहीं सकार आदेश और कहीं षकार आदेश हो जाता है—इस की व्यवस्था के लिये अग्रिम दो सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८०) **सोऽपदादौ** ।८।३।३८।।

पाश-कल्प-क-काम्येषु विसर्गस्य सः । इति सः– व्यूढोरस्कः ।।

अर्थः—पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों के परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो ।

व्याख्या—सः ।१।१। (सकारादकार उच्चारणार्थः) । अपदादौ ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** सूत्र से) । कुप्वोः ।७।२। (**कुप्वोः ≍क≍पौ च** सूत्र से) । संहितायाम् ।७।१। (**तयोर्य्वावचि संहितायाम्** सूत्र से) । पदस्यादिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदादिः—अपदादिः, तस्मिन्=अपदादौ, नञ्तत्पुरुषः । 'अपदादौ' यह 'कुप्वोः' के साथ अन्वित होता है अतः इसे द्विवचनान्त बना कर 'अपदाद्योः कुप्वोः' समझना चाहिये । अर्थः—(अपदाद्योः कुप्वोः) जो पद के आदि में स्थित नहीं ऐसे कवर्ग या पवर्ग के परे रहते (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश हो जाता है (संहितायाम्) संहिता की विवक्षा में । अपदादि कवर्ग पवर्ग का परे होना[2] केवल पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों में ही सम्भव हो सकता है । अतः इन चार प्रत्ययों के परे होने पर ही प्रकृतसूत्रद्वारा विसर्ग को सकारादेश करना वृत्ति (मूलोक्त सूत्रार्थ) में कहा गया है । यह सूत्र **कुप्वोः≍क≍ पौ च** (९८) सूत्रद्वारा प्राप्त जिह्वामूलीय+विसर्ग या उपध्मानीय+विसर्ग का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—

'पाश' में[3]—

---

१. **अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसा शंसितं सः** (किरात० ५.५२) । यहां भारवि ने 'अकृशलक्ष्मीः' पद में कप् प्रत्यय नहीं किया । अत एव मल्लिनाथ ने अपनी व्याख्या में इस का विग्रह 'अकृशा लक्ष्म्यो यस्य' इस प्रकार बहुवचनान्तघटित प्रदर्शित किया है।

२. 'अपदादौ' कथन के कारण 'पयः कामयते, पयः पिबति' इत्यादियों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती ।

३. **याप्ये पाशप्** (५.३.४७) । अर्थः—निन्दा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में पाशप् (पाश) प्रत्यय होता है । यथा—कुत्सितो भिषक्—भिषक्पाशः (कुत्सित वैद्य) । पयस्पाशम् (विकृत दुग्ध) । यशस्पाशम् (विकृत यश अर्थात् अपकीर्ति) ।

पयः + पाश = पयस्पाश, विभक्ति लाने पर— पयस्पाशम् ।
यशः + पाश = यशस्पाश, विभक्ति लाने पर— यशस्पाशम् ।
'कल्प' में[1]—
पयः + कल्प = पयस्कल्प, विभक्ति लाने पर— पयस्कल्पम् ।
यशः + कल्प = यशस्कल्प, विभक्ति लाने पर— यशस्कल्पम् ।
'क' में[2]—
पयः + क = पयस्क, विभक्ति लाने पर— पयस्कम् ।
यशः + क = यशस्क, विभक्ति लाने पर— यशस्कम् ।
'काम्य' में[3]—
पयः + काम्य = पयस्काम्य, लँट् लाने पर— पयस्काम्यति ।
यशः + काम्य = यशस्काम्य, लँट् लाने पर— यशस्काम्यति ।

प्रकृत में 'व्यूढोरः + क' यहां कप् (क) प्रत्यय परे मौजूद है, **संहितैकपदे नित्या**— के अनुसार एकपद में संहिता की भी नित्य विवक्षा है अतः अपदादि ककार के परे रहते प्रकृत **सोऽपदादौ** (९८०) सूत्र से विसर्ग को सकार आदेश हो कर— व्यूढोरस्क। विभक्ति लाने से 'व्यूढोरस्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी तरह— विशालोरस्कः, प्रियपयस्कः आदि में विसर्ग को सकार आदेश समझ लेना चाहिये ।

अब इस सूत्र के अपवाद का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(९८१) इणः षः ।८।३।३९।।**

इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः पाश-कल्प-क-काम्येषु परेषु । प्रिय-सर्पिष्कः ।।

अर्थः— पाश, कल्प, क और काम्य— इन चार प्रत्ययों के परे रहते यदि इण्प्रत्याहार से परे विसर्ग हो तो उसे षकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या— इणः ।५।१। षः ।१।१। (षकारादकार उच्चारणार्थः) । विसर्जनीयस्य

---

१. **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) । अर्थः— ईषदसमाप्ति अर्थ में प्रातिपदिक से परे कल्पप् (कल्प), देश्य और देशीयर् (देशीय) प्रत्यय होते हैं। यथा— ईषदूनो विद्वान्— विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयः (लगभग विद्वान्, विद्वान् के समान) । पयःकल्पम् (दूध के समान) । यशस्कल्पम् (यश के तुल्य) ।

२. **अज्ञाते** (१२३४), **कुत्सिते** (१२३५) । अर्थः— अज्ञात या कुत्सित अर्थों में प्रातिपदिक से परे क प्रत्यय हो जाता है । पयस्कम् (अज्ञात या कुत्सित दुग्ध) । यशस्कम् (अपकीर्ति) ।

३. **काम्यच्च** (७२५) । इस सूत्र की व्याख्या पीछे कर चुके हैं । काम्यच्-प्रत्ययान्त की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा हो कर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है । पयस्काम्यति (अपने लिये दूध चाहता है) ।

।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** सूत्र से)। अपदादौ ।७।१। (**सोऽपदादौ** सूत्र से)। कुप्वोः ।७।२। (**कुप्वोः ≍क≍पौ च** सूत्र से)। संहितायाम् ।७।१। (**तयोर्य्वावचि संहितायाम्** सूत्र से)। इण् प्रत्याहार इस शास्त्र में सदा परले णकार अर्थात् **लँण्** (प्रत्याहारसूत्र ६) के णकार से ही लिया जाता है—यह पीछे **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र पर स्पष्ट किया जा चुका है[1]। **अर्थः**—(अपदाद्योः कुप्वोः) जो पद के आदि में स्थित नहीं ऐसे कवर्ग पवर्ग के परे रहते (इणः) इण् प्रत्याहार से परे (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (षः) ष् आदेश हो जाता है (संहितायाम्) संहिता की विवक्षा में। अपदादि **कवर्ग पवर्ग का परे होना** केवल पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों के परे होने पर ही सम्भव है अतः इन में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। अतः इण् से परे विसर्ग को षकार तथा अन्यत्र सकार आदेश होता है।

इस **सूत्र के उदाहरण** यथा—

'पाश' में—

सर्पिः + पाश = **सर्पिष्पाश**, विभक्ति लाने पर—**सर्पिष्पाशम्**।[2]

यजुः + पाश = **यजुष्पाश**, विभक्ति लाने पर—यजुष्पाशम्।[3]

'कल्प' में—

सर्पिः + कल्प = सर्पिष्कल्प, विभक्ति लाने पर—**सर्पिष्कल्पम्**।[4]

यजुः + कल्प = यजुष्कल्प, विभक्ति लाने पर—यजुष्कल्पम्।[5]

'क' में—

सर्पिः + क = सर्पिष्क, विभक्ति लाने पर—सर्पिष्कम्।[6]

यजुः + क = यजुष्क, विभक्ति लाने पर—यजुष्कम्।[7]

'काम्य' में—

सर्पिः + काम्य = सर्पिष्काम्य, लँट् लाने पर—सर्पिष्काम्यति।[8]

यजुः + काम्य = **यजुष्काम्य**, लँट् लाने पर—यजुष्काम्यति।[9]

---

१. **परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।**
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥

२. **सर्पिष्पाशम्** = निकम्मा या निकृष्ट घृत।

३. यजुष्पाशम् = कुत्सित यजुः।

४. सर्पिष्कल्पम् = घृततुल्य।

५. **यजुष्कल्पम्** = यजुः के तुल्य।

६. **सर्पिष्कम्** = निकृष्ट घृत।

७. यजुष्कम्—**अज्ञात यजुः**।

८. सर्पिष्काम्यति = अपने लिये घृत चाहता है।

९. यजुष्काम्यति = अपने लिये यजुः चाहता है।

प्रकृत में 'प्रियसर्पिः+क' यहां कप् (क) प्रत्यय परे विद्यमान है। **संहितैकपदे नित्या**—के अनुसार संहिता की भी विवक्षा है, अतः अपदादि ककार के परे रहते इण्-इकार से परे विसर्ग को प्रकृतसूत्र से षकार आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'प्रिय-सर्पिष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी उपचार (विसर्ग के स्थान पर होने वाले सत्व-षत्व) प्रकरण में उपयोगी एक अन्य सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८२) कस्कादिषु च ।८।३।४८।।**

एषु इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः, अन्यत्र तु सः । (कस्कः) ।।

अर्थः—कस्क आदि गणपठित शब्दों में इण् प्रत्याहार से परे विसर्ग को षकार आदेश तथा अन्यत्र (जहां इण् नहीं वहां) सकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—कस्कादिषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम् । इणः ।५।१। षः ।१।१।। (**इणः षः** सूत्र का पूरा अनुवर्त्तन) । विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** सूत्र से) । सः । १।१। (**सोऽपदादौ** सूत्र से) । कुप्वोः ।७।२। (**कुप्वोः ≍क≍ पौ च** सूत्र से) । संहितायाम् ।७।१। (अधिकृत है) । कस्कशब्द आदिर्येषान्ते कस्कादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहि-समासः । कस्कादि एक गण है जो पाणिनीय गणपाठ में दिया गया है[1] । **अर्थः**—(कस्कादिषु) कस्कादियों में (च) भी (इणः) इण् प्रत्याहार से परे (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (षः) ष् आदेश तथा अन्यत्र—जहां कस्कादियों में इण् प्रत्याहार से परे विसर्ग स्थित नहीं होता वहां विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश हो जाता है (कुप्वोः) कवर्ग पवर्ग के परे रहते (संहितायाम्) संहिता के विषय में ।

उदाहरण यथा—

कः+कः=कस्कः (कौन कौन) । यहां **नित्यवीप्सयोः** (८८६) सूत्रद्वारा वीप्सा अर्थ में 'कः' पद को द्वित्व हो गया है । 'कः+कः' इस स्थिति में पूर्वार्ध में इण् से परे विसर्ग वर्त्तमान नहीं अपितु अकार से परे वर्त्तमान है अतः प्रकृत **कस्कादिषु च** (९८२) सूत्रद्वारा कवर्ग के परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो कर 'कस्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां **सोऽपदादौ** (९८०) सूत्रद्वारा सकार आदेश नहीं हो सकता था क्योंकि विसर्ग से परे कवर्ग पदादि था ।[2]

---

१. कस्कादिगण यथा—
कस्कः । कौतस्कुतः । भ्रातुष्पुत्रः । शुनस्कर्णः । सद्यस्कालः । सद्यस्क्रीः । साद्यस्क्रः । कांस्कान् । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पूलम् इति काशिका) । यजुष्पात्रम् । अयस्कान्तः । मेदस्पिण्डः । भास्करः । अहस्करः । आकृतिगणोऽयम् ।

२. जब संहिता की विवक्षा नहीं होती तब इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । अत एव नाटकों में 'कः कोऽत्र भो दौवारिकाणाम्' इत्यादि प्रयोग पाये जाते हैं ।

इसीप्रकार 'कुतः' पद को वीप्सा में **नित्यवीप्सयोः** (८८६) से द्वित्व हो कर—कुतः + कुतः । यहां भी पूर्वार्ध में इण् से परे विसर्ग नहीं अपितु अकार से परे है अतः प्रकृत **कस्कादिषु च** (९८२) सूत्रद्वारा कवर्ग के परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो जाता है—कुतस्कुतः । अब इस 'कुतस्कुतस्' शब्द से **तत आगतः** (१०९८) 'उस से आया हुआ' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय कर आदिवृद्धि (९३८) तथा **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) से टिभाग (अस्) का लोप कर—कौतस्कुत् + अ = कौतस्कुत, विभक्ति ला कर 'कौतस्कुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । कौतस्कुतास्तत्र लोकाः समवायन् (कहां कहां से आये लोग वहां इकट्ठे हुए ?) ।

इसी तरह—सद्यः + कालः = सद्यस्कालः । शुनः + कर्णः = शुनस्कर्णः । अयः + काण्ड = अयस्काण्डः । मेदः + पिण्ड = मेदस्पिण्डः । इत्यादियों में विसर्ग को सकार आदेश होता है ।

इण् से परे विसर्ग को षकार आदेश के उदाहरण यथा—भ्रातुः + पुत्र = भ्रातुष्पुत्रः (भतीजा) । सर्पिः + कुण्डिका = सर्पिष्कुण्डिका (घी की कुण्डी) । इत्यादि ।

कस्कादि आकृतिगण है । इस में कृतसत्व तथा कृतषत्व शब्द एकत्रित हैं । जहां विसर्ग के स्थान पर होने वाले सकार षकार का किसी सूत्र से विधान न हो उस को कस्कादिगण में परिगणित कर लेना चाहिये । जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—**अविहितलक्षण उपचारः कस्कादिषु द्रष्टव्यः** ।

नोट—लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के मुद्रित संस्करणों में उपर्युक्त तीन सूत्रों पर विविध पाठभेद देखे जाते हैं । किसी किसी संस्करण में तो केवल एक ही सूत्र का उल्लेख मिलता है । यथा—"**कस्कादिषु च** ।८।३।४८।। एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षोऽन्यत्र तु सः । इति सः । व्यूढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः ।।" शेष दो सूत्रों का उल्लेख ही नहीं मिलता । भला कस्कादिगण में पाठ मान कर 'व्यूढोरस्कः, प्रियसर्पिष्कः' में सत्व और षत्व कैसे किये जा सकते हैं ? क्योंकि इन में तो वे ही शब्द गिनाये जाते हैं जहां विसर्ग से परे पदादि कवर्ग पवर्ग हुआ करता है । यहां ऐसा कोई प्रसङ्ग ही नहीं । अतः हम ने व्याकरण-प्रक्रियानुसार इस स्थल के पाठ का संशोधन कर व्याख्या प्रस्तुत की है[1] ।

अब बहुव्रीहिसमास में निष्ठाप्रत्ययान्त शब्दों का पूर्वनिपात निरूपण करते हैं—

---

१. कुछ लोगों का विचार है कि लघुकौमुदीकार ने विद्यार्थियों के सौकर्य को दृष्टि में रखते हुए **सोऽपदादौ** (९८०) तथा **इणः षः** (९८१) के झमेले से मुक्त रखने के लिये **कस्कादिषु च** (९८२) सूत्रद्वारा यहां सत्व का विधान दर्शाया है । परन्तु यदि ऐसा किया भी गया हो तो वह उचित नहीं । क्योंकि वे दोनों सूत्र पाश, कल्प, क और काम्य इन चार प्रत्ययों में ही प्रवृत्त होते हैं । इन में से तीन (कल्प, क और काम्य) प्रत्ययों का विधान तो लघुकौमुदी में किया ही गया है । शेष रहे 'पाश' का उदाहरण छोड़ा भी जा सकता था । अतः इन सूत्रों को जान लेने से छात्रों पर कोई अनावश्यक बोझ नहीं पड़ता, उल्टा प्रक्रियाशुद्धि बनी रहती है ।

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**९८३**) **निष्ठा** ।२।२।३६।।

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।।

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में निष्ठाप्रत्ययान्त शब्द पूर्व में प्रयुक्त हो ।

व्याख्या—निष्ठा ।१।१। बहुव्रीहौ ।७।१। (**सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** सूत्र से) । पूर्वम् ।२।१। (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से) । 'प्रयुज्यते' इत्यध्याहार्यम् । **क्त-क्तवतू निष्ठा** (८१४) सूत्र से क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों की निष्ठा सञ्ज्ञा कही गई है । अतः **प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्** के अनुसार यहां 'निष्ठा' से निष्ठाप्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है । अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (निष्ठा) निष्ठाप्रत्ययान्त (पूर्वम्) पूर्व में (प्रयुज्यते) प्रयुक्त होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—युक्तो योगोऽनेन स युक्तयोगः (जिस का योग सफल हो चुका है ऐसा सिद्ध योगी) । अलौकिकविग्रह—युक्त सुँ+योग सुँ । यहां दोनों पद अन्य-पदार्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन पदों का बहुव्रीहि-समास हो जाता है । समास की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँपों का लुक् किया तो—युक्त+योग । अब प्रकृत **निष्ठा** (९८३) सूत्र से निष्ठान्त 'युक्त'[1] शब्द का बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने पर 'युक्तयोगः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि निष्ठान्त का यह पूर्वनिपात केवल बहुव्रीहि में ही होता है अन्यत्र नहीं । अतः 'योगेन युक्तः—योगयुक्तः' यहां तृतीयातत्पुरुषसमास में निष्ठान्त का पूर्वनिपात नहीं होता ।

सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—कृतं कृत्यं येन सः=कृतकृत्यः । कृतं कार्यं येन सः=कृतकार्यः । इत्यादि जानने चाहियें ।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'युक्तयोगः' में 'युक्त' शब्द का पूर्वनिपात तो विशेषण होने के कारण **सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) सूत्रद्वारा ही सिद्ध था पुनः इस **निष्ठा** (९८३) सूत्रद्वारा पूर्वनिपात के विधान की क्या आवश्यकता ? इस का उत्तर यह है कि दो समानाधिकरण क्रियाशब्दों का विशेष्यविशेषणभाव विवक्षा के अधीन होने से अनियत होता है । कभी एक विशेष्य और दूसरा विशेषण हो जाता है तो कभी दूसरा विशेष्य और प्रथम विशेषण भी हो सकता है । इस तरह विशेषणा-श्रित पूर्वनिपात अनिश्चित है अतः प्रकृतसूत्र से निष्ठान्तों का पूर्वनिपात विधान किया गया है । इस से निष्ठान्त चाहे विशेषण हों या विशेष्य, उन का बहुव्रीहि में सदा पूर्व-निपात ही होगा । इस सूत्र के भी कई अपवादस्थल हैं जो आकरग्रन्थों में देखे जा सकते हैं ।

नोट—यह सूत्र वरदराजजी को लघुसिद्धान्तकौमुदी में **सप्तमीविशेषणे बहु-**

---

१. युक्तशब्द युज् धातु से निष्ठासंज्ञक क्त (त) प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है ।

व्रीहौ (९६७) सूत्र के बाद ही देना चाहिये था । यहां समासान्तप्रकरण के मध्य में इसे रखना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता ।

अब पुनः समासान्त कप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८४) **शेषाद् विभाषा** ।५।४।१५४।।

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कब्वा । महायशस्कः । महायशाः ।।

अर्थः—जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त न कहा गया हो तो उस से समासान्त कप् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—शेषात् ।५।१। विभाषा ।१।१। बहुव्रीहेः ।५।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । कप् ।१।१। (**उरःप्रभृतिभ्यः कप्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं । जिस से कोई समासान्त कहा नहीं गया वह यहां 'शेष' विवक्षित है । अर्थः—(शेषाद् बहुव्रीहेः) जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त विधान नहीं किया गया उस से परे (विभाषा) विकल्प से (कप्) कप् प्रत्यय हो जाता है और वह प्रत्यय (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक तथा (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—महद् यशो यस्य सः = महायशस्को महायशा वा (बड़े यश वाला, महायशस्वी) । अलौकिकविग्रह—महत् सुँ + यशस् सुँ । यहां दोनों पद अन्यपदार्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है । समास में विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर—महत् + यशस् । पुनः **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) सूत्रद्वारा महत् के तकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है—महायशस् । इस बहुव्रीहिसमास से किसी सूत्रद्वारा किसी समासान्त का विधान नहीं किया गया अतः यह शेष बहुव्रीहि है । इस शेष बहुव्रीहि से प्रकृत **शेषाद्विभाषा** (९८४) सूत्र द्वारा विकल्प से समासान्त कप् प्रत्यय हो जाता है । कप्पक्ष में 'महायशस् + क' इस स्थिति में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण **ससजुषो रुँः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश हो जाता है—महायशः + क । **सोऽपदादौ** (९८०) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर—महायशस्क । अब विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर 'महायशस्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता वहां विभक्ति ला कर पुंलिङ्ग में 'वेधस्' शब्द की तरह प्रक्रिया होती है । महायशस् + सुँ—यहां **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **हल्ङ्याब्भ्यो०** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप तथा प्रकृति के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'महायशाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] । इस प्रकार 'महायशस्कः' तथा 'महायशाः' ये दो प्रयोग निष्पन्न होते हैं ।

---

१. महायशाः, महायशसौ, महायशसः—इस प्रकार 'वेधस्' शब्द की तरह रूपमाला जाननी चाहिये ।

इसीप्रकार—अल्पं वयो यस्य सः=अल्पवयस्कः, अल्पवयाः। तुल्यं वयो यस्य सः=तुल्यवयस्कः, तुल्यवयाः। बह्वी विद्या यस्य सः=बहुविद्यकः, बहुविद्याकः, बहुविद्यः[1]। बह्व्यो माला यस्य सः=बहुमालकः, बहुमालाकः, बहुमालः। इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें।

शेषात् (अनुक्तसमासान्तात्) कथन के कारण 'व्याघ्रपाद्' आदि से प्रकृतसूत्र-द्वारा समासान्त कप् नहीं होता। कारण कि यहां **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (६७४) से जो लोप विधान किया गया है वह भी समासान्त है। भावरूप या अभावरूप किसी प्रकार के समासान्त के विहित हो जाने से शेषत्व नहीं रहता।

अभ्यास [६]

(१) निम्नस्थों में अन्तर स्पष्ट करें—

[क] समानाधिकरणबहुव्रीहि; व्यधिकरणबहुव्रीहि।

[ख[तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि; अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि।

[ग] प्रिया लक्ष्मीर्यस्य; प्रिया लक्ष्म्यो यस्य।

[घ] दीर्घसक्थः; दीर्घसक्थि।

[ङ] स्थूलाक्षी; स्थूलाक्षा।

[च] सुहृद्; सुहृदयः।

[छ] दृढभक्तिः; दृढाभक्तिः।

(२) निम्नस्थ प्रश्नों का यथोचित उत्तर दीजिये—

]क] कप्प्रत्यय के ककार की इत्संज्ञा क्यों नहीं होती?

[ख] लोप को भी समासान्त क्यों माना गया है?

[ग] **सोऽपदादौ** में 'अपदादौ' क्यों कहा गया है?

[घ] 'कुसूलपादः' में समासान्त क्यों नहीं हुआ?

[ङ] 'कः कोऽत्र भोः' यहां कस्कादित्वात् सकार क्यों नहीं हुआ?

[च] 'दशमूर्धा' में समासान्त क्यों नहीं हुआ?

[छ] **शेषाद्विभाषा** में शेषपद से क्या अभिप्रेत है?

[ज] **अनेकमन्यपदार्थे** में 'अनेकम्' क्यों कहा गया है?

[झ] **शेषो बहुव्रीहिः** में 'शेषः' से क्या अभिप्रेत है?

(३) कप्, अप्, षच्, ष और अन्त्यलोप—इन समासान्तों के दो दो उदाहरण प्रदर्शित करें।

(४) व्यधिकरणबहुव्रीहि के कोई पाञ्च उदाहरण दीजिये।

---

१. यहां स्त्रीलिङ्ग पूर्वपद को **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०** (६६६) सूत्र से पुंवद्भाव हो जाता है। टाबन्त उत्तरपद को कप् के परे रहते **आपोऽन्यतरस्याम्** (७.४.१५) सूत्र से वैकल्पिक ह्रस्व हो जाता है। कप् के अभाव में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (६५२) से उपसर्जनह्रस्व हो जाता है।

(५) **षच्, ष और अप्** समासान्तों में अनुबन्धभेद के कारण रूपसिद्धि में पड़ने वाले अन्तर को स्पष्ट करें।

(६) बहुव्रीहिसमास के पूर्वनिपात पर सोदाहरण प्रकाश डालें।

(७) सहेतुक अशुद्धि-शोधन कीजिये—

१. द्विमूर्धा सर्पः। २. स्वक्षा युवतिः। ३. कृष्णगौर्ब्राह्मणः। ४. हस्तिपाद् आतुरः। ५. दुर्हृदयोऽमित्रः। ६. उत्काकुदः। ७. सुपादा कन्या। ८. चतुष्पादः श्लोकः। ९. विशालोराः शूरः। १०. दर्शनीयाभार्यः। ११. संहितोरुभार्यः। १२. कल्याणप्रियो राजा। १३. प्रियपयाः शिशुः। १४ कल्याणीपञ्चम्यो रात्रयः।[1]

---

१. अत्रेत्थमशुद्धिशोधनमवसेयम्—

[१] 'द्विमूर्धा' इत्यसाधु। द्वौ मूर्धानौ यस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) इति षप्रत्यये समासान्ते, भस्य टेर्लोपे च कृते 'द्विमूर्धः' इत्युचितम्। [२] स्वक्षेत्यशुद्धम्। सु (शोभने) अक्षिणी यस्या इति बहुव्रीहौ **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) इति समासान्ते षचि भस्येकारस्य लोपे 'स्वक्ष' इतिशब्दात् स्त्रीत्वे षित्त्वात् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) इति ङीषि भस्याकारस्य लोपे च कृते 'स्वक्षी' इति भवितव्यम्। [३] कृष्णा गौर्यस्येति बहुव्रीहौ कृष्णाशब्दस्य पुंवद्भावे **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) इत्युपसर्जनह्रस्वे च कृते 'कृष्णगुः' इति भवितव्यम्। [४] हस्तिपाद् इत्यत्र 'हस्तिपादः' इति भाव्यम्। **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) इत्यत्र अहस्त्यादिभ्य इत्युक्तेः समासान्तलोपो न। [५] अमित्रे **सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः** (९७८) इति निपातनाद् दुर्हृद् इति भवितव्यम्। [६] अत्र **उद्विभ्यां काकुदस्य** (९७६) इति समासान्तेऽन्त्यलोपे उत्काकुदिति साधु। [७] अत्र **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) इति समासान्तेऽन्त्यलोपे स्त्रीत्वविवक्षायां **पादोऽन्यतरस्याम्** (४.१.८) इति वा ङीपि **पादः पत्** (३३३) इति पादः पदादेशे च कृते 'सुपदी' इति साधु। [८] बहुव्रीहौ **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) इति समासान्तेऽन्त्यलोपे चतुष्पादिति भवितव्यम्। [९] अत्र बहुव्रीहौ **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) इति कपि समासान्ते 'विशालोरस्कः' इत्युचितम्। [१०] दर्शनीयाभार्य इत्यसाधु। बहुव्रीहौ **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इति पुंवद्भावे उपसर्जनह्रस्वे च कृते 'दर्शनीयभार्यः' इति साधु। [११] **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इत्यत्र 'अनूङ्' इत्युक्तेः पुंवद्भावस्याभावेन 'संहितोरूभार्यः 'इति भवितव्यम्। [१२] **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इत्यत्र 'अपूरणीप्रियादिषु' इत्युक्तेर्नात्र पुंवद्भावस्तेन 'कल्याणीप्रियः' इति भवितव्यम्। [१३] पयस्शब्द उरःप्रभृत्यन्तर्गतः। तेन **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) इति समासान्ते कपि 'प्रियपयस्कः' इति भवितव्यम्। [१४] पञ्चमीशब्दः पूरणार्थप्रत्ययान्तः, तेन **अप् पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) इति समासान्ते अप्प्रत्यये भस्येकारस्य लोपे च कृते 'कल्याणीपञ्चमाः' इत्येव भवितव्यम्।

(८) रत्नैः शोभाऽस्य, पञ्चभिर्भुक्तमस्य—इत्यादियों में बहुव्रीहिसमास क्यों नहीं होता ?

(९) **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** सूत्र को खोल कर अपने शब्दों में समझाइये ।

(१०) उरःप्रभृतियों में कुछ शब्द प्रातिपदिकरूप से और कुछ प्रथमैकवचनान्तरूप से पढ़े गये हैं—ऐसा करने का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(११) निम्नस्थ सूत्रों एवं वार्त्तिक आदियों की व्याख्या करें—

१. अप्पूरणीप्रमाण्योः । २. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । ३. अन्तर्बहिर्भ्याञ्च लोम्नः । ४. शेषाद्विभाषा । ५. इणः षः । ६. सोऽपदादौ । ७. नञोऽस्त्यर्थानां० । ८. प्रादिभ्यो धातुजस्य० । ९. हलदन्तात्सप्तम्याः० । १०. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य० । ११. संख्यासुपूर्वस्य । १२. सप्तमीविशेषणे० । १३. अनेकमन्यपदार्थे । १४. अर्थान्नञः । १५. उरःप्रभृतिभ्यः कप् । १६. कस्कादिषु च । १७. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० । १८. पूर्णाद्विभाषा ।

(१२) द्विविध विग्रह प्रदर्शित करते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. स्त्रीप्रमाणः । २. पीताम्बरः । ३. त्रिमूर्धः । ४. उष्ट्रमुखः । ५. युवजानिः । ६. जलजाक्षी । ७. चित्रगुः । ८. रूपवद्भार्यः । ९. प्रपर्णः । १०. अपुत्रः । ११. उपहृतपशुः । १२. अन्तर्लोमः । १३. उत्काकुत् । १४. व्याघ्रपात् । १५. प्रियसर्पिष्कः । १६. महायशस्कः । १७. कौतस्कुतः । १८. प्राप्तोदकः । १९. सुपदी । २०. त्रिचतुराः । २१. उपदशाः । २२. कण्ठेकालः ।

(१३) निम्नस्थ विग्रहों को समास का रूप दीजिये—

१. प्रियोऽनड्वान् यस्य । २. अवमुक्ते उपानहौ येन । ३. उरसि लोमानि यस्य । ४. सुन्दरी भार्या यस्य । ५. अधिरोपिता ज्या यत् । ६. बहिर्लोमानि यस्य । ७. ऊढो रथो येन । ८. बह्वी विद्या यस्य । ९. द्वौ वा त्रयो वा । १०. दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तराला दिक् । ११. विगतो धवो यस्याः । १२. पट्वी जाया यस्य । १३. वामोरूर्भार्या यस्य । १४. पुत्रेण सह आगतः पिता । १५. विंशतेरासन्नाः । १६. कृत्यं कृतं येन । १७. सु (शोभनं) हृदयं यस्य । १८. स्थूलानि अक्षीणि यस्या दृष्टयाः । १९. प्रिया वामा यस्य । २०. पर्यश्रूणी नयने यस्याः ।

[लघु०]   **इति बहुव्रीहिः**

यहां पर बहुव्रीहिसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:०:——

अथ द्वन्द्वसमासः

अब द्वन्द्वसमास का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। द्वन्द्वशब्द को आचार्य पाणिनि ने **द्वन्द्वं रहस्य-मर्यादावचन-व्युत्क्रमण-यज्ञपात्र-प्रयोगाऽभिव्यक्तिषु** (८.१.१५) सूत्रद्वारा रहस्य आदि कई अर्थों में निपातित किया है। सूत्र का योगविभाग कर इसे अन्य कई अर्थों मे भी निपातित किया जाता है। द्विशब्द को द्वित्व हो कर 'द्वि औ + द्वि औ' में सुँब्लुक्, प्रथम द्विशब्द के इकार को अम् आदेश तथा दूसरे द्विशब्द के इकार को अकार आदेश कर 'द्वन्द्व' शब्द सिद्ध किया जाता है। दो दो अर्थात् जोड़ों का नाम द्वन्द्व है—यह इस का मूलार्थ समझना चाहिये। यह समासविशेष का नाम भी प्रसिद्ध हो चला है क्योंकि इस समास के उदाहरणों में भी प्रायः जोड़ों की ही बहुलता देखी जाती है। यथा—हरिहरौ, ईशकृष्णौ, सुखदुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ, क्षुत्पिपासे, माता-पितरौ आदि। समासवाचक द्वन्द्वशब्द पाणिनि से बहुत पहले सम्भवतः वैदिककाल से ही प्रसिद्ध हो चुका था। **द्वन्द्वः सामासिकस्य च** यह भगवद्गीता (१०.३३) का सुप्रसिद्ध वचन है। अनेक प्रातिशाख्यों में भी समासवाचक द्वन्द्वशब्द बहुत जगह पाया जाता है।

अब सर्वप्रथम द्वन्द्वसमास के विधायकसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८५) **चार्थे द्वन्द्वः ।२।२।२९॥**

अनेकं सुँबन्तं चार्थे वर्त्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः ॥

अर्थः—'च' के अर्थ में वर्त्तमान अनेक (एक से अधिक) सुँबन्त परस्पर विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास द्वन्द्वसंज्ञक होता है।

व्याख्या—चार्थे ।७।१। द्वन्द्वः ।१।१। अनेकम् ।१।१। (**अनेकमन्यपदार्थे** सूत्र से मण्डूकप्लुतिन्यायद्वारा)। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** सूत्र से। प्रत्यय होने के कारण तदन्तविधि से 'सुँबन्तम्' बन जाता है)। **समासः, विभाषा**—ये दोनों पूर्वतः अधिकृत हैं। चस्य अर्थः—चार्थः, तस्मिन् = चार्थे, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(चार्थे) 'च' अव्यय के अर्थ में वर्त्तमान (अनेकं सुँबन्तम्) अनेक सुँबन्त (समासः) समास को (विभाषा) विकल्प से प्राप्त होते हैं और वह समास (द्वन्द्वः) द्वन्द्वसंज्ञक होता है।

'च' के कौन कौन से अर्थ हैं और इन में किस किस अर्थ में समास होता है? इस की व्याख्या ग्रन्थकार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] **समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराश्चार्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। 'भिक्षामट गां चानय' इत्यन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात् समासो न। 'धवखदिरौ छिन्धि' इति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। सञ्ज्ञापरिभाषम् इति समूहः समाहारः ॥**

अर्थः—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—ये चार 'च' के अर्थ

होते हैं। जब परस्पर निरपेक्ष अनेक पद किसी एक में अन्वित होते हैं तो वहां 'च' का अर्थ समुच्चय होता है। यथा—ईश्वरं गुरुं च भजस्व (ईश्वर को भजो और गुरु को भी)। जहां कोई एक आनुषङ्गिक (अप्रधान) रूप से क्रिया में अन्वित हो रहा हो वहां 'च' का अर्थ अन्वाचय होता है। यथा—भिक्षामट गां चानय (भिक्षार्थ भ्रमण कर, गाय को भी लेते आना)। समुच्चय और अन्वाचय इन दोनों अर्थों में सामर्थ्य के अभाव के कारण समास प्रयुक्त नहीं होता। जब अनेक पदार्थ मिल कर समूह बना कर किसी एक क्रियादि में अन्वित होते हैं तो वहां 'च' का अर्थ इतरेतरयोग होता है। यथा—धवखदिरौ छिन्धि (धव और खदिर पेड़ों को काटो)। जब समूह एकीभूत हो कर क्रिया आदि में अन्वित होता है तो वहां 'च' का अर्थ समाहार होता है। जैसे—**संज्ञा-परिभाषम्** (सञ्ज्ञा और परिभाषा का समूह)। [इतरेतरयोग और समाहार इन दोनों अर्थों में सामर्थ्य के अक्षुण्ण रहने से समास हो जाता है]।

व्याख्या—'च' के चार अर्थ माने जाते हैं—(१) समुच्चय। (२) अन्वाचय। (३) इतरेतरयोग। (४) समाहार। इन में प्रथम दो अर्थों में सामर्थ्य (एकार्थीभाव) न होने से समास नहीं होता। पिछले दो अर्थों में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य रहने से **समर्थः पदविधिः** (६०४) के अनुसार समास हो जाता है। 'च' के इन चारों अर्थों का सोदाहरण विवेचन यथा—

(१) जब परस्पर निरपेक्ष = निराकाङ्क्ष (पारस्परिक सहितभाव से रहित) पदों का किसी एक द्रव्य, गुण या क्रिया में अन्वय हो तो वहां 'च' का समुच्चय अर्थ होता है। यहां जब एक का क्रिया में अन्वय हो चुकता है तब आवृत्तिद्वारा उसी क्रिया में दूसरे का अन्वय होता है। इस में 'च' शब्द के साथ उच्चारित पद को तो दूसरे की आकाङ्क्षा (अपेक्षा) रहती है परन्तु जो पद 'च' शब्द के विना उच्चारित होता है उसे दूसरे की नहीं। उदाहरण यथा—ईश्वरं गुरुं च भजस्व (ईश्वर को भजो और गुरु को भी)। यहां ईश्वर और गुरु परस्पर निरपेक्ष पद हैं। इन में कोई साहित्य (सहितभाव) नहीं। पहले ईश्वर पद का 'भजस्व' क्रिया में अन्वय होता है—ईश्वरं भजस्व। तब गुरु का दुबारा उच्चारित उसी क्रिया में अन्वय होता है। 'गुरुं च' कहने से 'गुरु' तो पदान्तर 'ईश्वर' की अपेक्षा करता है परन्तु पूर्वोक्त 'ईश्वर' पद को गुरु की अपेक्षा नहीं रहती। तो इस प्रकार समुच्चय अर्थ में सुँबन्त पद असंसृष्ट होने से असमर्थ होते हैं अतः इस अर्थ में समास नहीं होता। जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—**समर्थः पदविधिः** (६०४) अर्थात् समासादि पदविधि समर्थ पदों के आश्रित होती है।

(२) जहां एक पदार्थ प्रधान बन कर और दूसरा अप्रधान रह कर भिन्न भिन्न क्रियाओं में अन्वित हो रहे हों वहां 'च' का अन्वाचय अर्थ होता है। यथा—भिक्षामट गाञ्चानय (भिक्षार्थ भ्रमण कर, यदि मार्ग मे गाय मिले तो उसे भी लेते आना)। यहां भिक्षार्थ अटन अवश्यकर्त्तव्य है और गाय का लाना आनुषङ्गिक (अप्रधान—गौण) है। इसलिये भिक्षा और गौ का अन्वाचय होने से एकार्थीभावरूपसामर्थ्य के न होने के कारण इन में समास नहीं होता।

(३) जब परस्पर सापेक्ष पदार्थों का समूह (जिस के अवयव उद्भूत अर्थात् स्पष्ट भिन्न भिन्न प्रतीत हो रहे हों) एकधर्मावच्छिन्नरूप से क्रिया में अन्वित किया जाता है तो वहां 'च' का इतरेतरयोग अर्थ होता है। इस अर्थ में पदों में एकार्थीभाव-रूप सम्बन्ध रहने के कारण द्वन्द्वसमास निर्बाध हो जाता है। यथा—धवखदिरौ छिन्धि (धव और खदिर के पेड़ों को काटो)। यहां धव और खदिर सहितभाव से एक समूह के रूप में छेदनक्रिया में कर्मत्वेन अन्वित हो रहे हैं। यद्यपि इन में सहितभाव विद्यमान है और एकधर्मावच्छिन्नरूप से ये क्रिया में अन्वित भी हो रहे हैं तथापि यह समूह उद्-भूतावयव है अत एव इस में द्विवचन का प्रयोग हुआ है। 'धव अम् + खदिर अम्' इस अलौकिकविग्रह में[1] प्रकृत **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो कर समास की प्राति-पदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र द्वारा उस के अवयव सुँपों का लुक् कर द्वितीया विभक्ति की विवक्षा में 'औट्' प्रत्यय लाने से विभक्तिकार्यद्वारा 'धवखदिरौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ। ब्रह्म च क्षत्त्रं च ब्रह्मक्षत्त्रे। इस समास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्र से परव-ल्लिङ्गता होती है अर्थात् समास के परपद = उत्तरपद = अन्त्यपद का जो लिङ्ग होता है वही समग्र समास का लिङ्ग हो जाता है। यथा—कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुटमयूर्यौ इमे। मयूरी च कुक्कुटश्च मयूरीकुक्कुटौ इमौ। इन का विवेचन पीछे (९६२) सूत्र पर किया जा चुका है।

(४) समूह का नाम समाहार है। यह भी 'च' का एक अर्थ है। समाहार अर्थ वाले समूह के अवयव अनुद्भूत अर्थात् पृथक् पृथक् नहीं भासते बल्कि उन का एक समुच्चयात्मकरूप होता है। समुच्चय के एक होने से इस समास से सदा एकवचन तथा **स नपुंसकम्** (९४३) के अनुसार नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग होता है[2]। उदाहरण यथा—

---

१. 'धवखदिरौ छिन्धि' यहां छेदनक्रिया में कर्मत्वेन अन्विति के कारण 'धव अम् + खदिर अम्' ऐसा द्वितीयान्तघटित अलौकिकविग्रह दर्शाया गया है। यदि कहीं क्रिया में कर्तृत्वेन अन्विति होगी (यथा—धवखदिरौ वर्धेते) तो 'धव सुँ + खदिर सुँ' इस प्रकार प्रथमान्तघटित विग्रह भी रखा जा सकता है।

२. इतरेतरयोग और समाहार दोनों में ही समुदाय वाच्य होता है परन्तु प्रथम में वह उद्भूतावयव होता है अतः उस में द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग हो सकता है, परन्तु दूसरे में समुदाय अनुद्भूतावयव होता है इस से वहां केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है। जैसाकि प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने कहा है—

> इतरेतरयोगेऽपि समुदायः प्रकल्प्यते।
> समाहारेऽप्यसावेवं तद्भेदस्तु हरोदितः॥
> आद्ये तु संहता वाच्यास्तेन द्विवचनादयः।
> समाहारे तु संघातो वाच्यस्तेनैकतैव हि॥

(प्रक्रियासर्वस्व, समासखण्ड, पृष्ठ ५५)

संज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम्[1] । संज्ञा सुँ + परिभाषा सुँ' इस अलौकिकविग्रह में समाहार अर्थ में प्रकृत **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो कर समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, **स नपुंसकम्** (६४३) से नपुंसकत्व के कारण **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा ह्रस्व आदेश तथा नपुंसक में सुँ को अम् आदेश (२३४) और **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'संज्ञापरिभाषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सार यह है कि 'च' के यद्यपि चार अर्थ हैं तथापि समुच्चय और अन्वाचय अर्थों में पदों में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य न होने से **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्रद्वारा समास नहीं होता । समास केवल इतरेतरयोग और समाहार इन दो अर्थों में ही होता है क्योंकि इन में ही एकार्थीभावरूपसामर्थ्य पाया जाता है । ये अर्थ समास के द्वारा प्रतीत होते हैं अतः समासावस्था में लौकिकविग्रहवाक्य की तरह 'च' शब्द का प्रयोग नहीं होता ।

द्वन्द्वसमास में भी बहुव्रीहिसमास की तरह दो या दो से अधिक पद हुआ करते हैं । इस में सभी पद प्रधान होते हैं अतः समास में कौन सा पद पूर्व में प्रयुक्त हो और कौन सा बाद में ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । सूत्र में 'अनेकम्' पद का अनुवर्त्तन होने से इस समास के सब पद प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य होने के कारण उप-सर्जनसंज्ञक होते हैं अतः किसी भी पद का पूर्वनिपात यथेच्छ प्राप्त होता है । परन्तु ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि आचार्य पाणिनि ने इस समास में पूर्वनिपातार्थ कई नियम निर्दिष्ट किये हैं । यहां छात्त्रोपयोगी कुछ नियमों का लघुकौमुदीकार उल्लेख करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८६) राजदन्तादिषु परम् ।२।२।३१।।**

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः[2] । धर्मादिष्वनियमः (गणसूत्रम्)— अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ । इत्यादि ।।

अर्थः—'राजदन्तः' आदि में पूर्वनिपात के योग्य पद का परनिपात हो । **धर्मादिष्वनियमः** (गणसूत्र)—धर्म आदि शब्दों के द्वन्द्वसमास में पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं होता, यथेच्छ पूर्वनिपात किया जा सकता है ।

---

१. समाहारद्वन्द्व का लौकिकविग्रह कई प्रकार से दर्शाया जाता है । यथा—

संज्ञा च परिभाषा च संज्ञापरिभाषम् ।

संज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम् ।

संज्ञा च परिभाषा चानयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम् ।

संज्ञा च परिभाषा च समाहृते संज्ञापरिभाषम् ।

तात्पर्य सब का एक ही है । परन्तु अलौकिकविग्रह 'संज्ञा सुँ + परिभाषा सुँ' ही रखा जाता है । कुछ लोग 'संज्ञा ङस् + परिभाषा ङस्' ऐसा भी अलौकिकविग्रह दर्शाते हैं ।

२. क्वचिद् 'दन्तानां राजानो राजदन्ताः' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।

व्याख्या—राजदन्तादिषु ।७।३। परम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् । पूर्वम् ।१।१। (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से) । 'प्रयुज्यते' इति क्रियापदमध्याहार्यम् । राजदन्त इतिशब्द आदिर्येषान्ते राजदन्तादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । राजदन्तादि एक गण है जो पाणिनीयगणपाठ में दिया गया है । इस गण का पहला शब्द 'राजदन्त' है अतः इसे राजदन्तादिगण कहा जाता है । अर्थः—(राजदन्तादिषु) राजदन्त आदि गणपठित शब्दों में (पूर्वम्—समासे पूर्वप्रयोगार्हं पदम्) समास में पूर्वप्रयोग के योग्य पद (परम् प्रयुज्यते) परे प्रयुक्त होता है । राजदन्तादिगण में कुछ शब्द तत्पुरुषसमास के और कुछ अन्य द्वन्द्वसमास के संगृहीत किये गये हैं । इन दोनों प्रकार के शब्दों में पूर्वनिपात के योग्य पद का परनिपात हो—यही इस सूत्र में कहा गया है ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—दन्तानां राजा राजदन्तः (दान्तों का राजा अर्थात् ऊपरवाली पङ्क्ति में सामने का दान्त)[1] । अलौकिकविग्रह—दन्त आम्+राजन् सुँ । यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास करना है । इस समास में 'षष्ठी' पद प्रथमा-निर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'दन्त आम्' की उपसर्जनसंज्ञा होकर **उपसर्जनम् पूर्वम्** (९१०) सूत्र से उस का पूर्वनिपात प्राप्त होता है परन्तु राजदन्तादियों में पाठ के कारण प्रकृतसूत्र **राजदन्तादिषु परम्** (९८६) द्वारा इस का पूर्वनिपात न हो कर परनिपात किया जाता है । तब सुँब्लुक् हो 'राजन्+दन्त' इस अवस्था में **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से राजन् के नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'राजदन्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] । यदि प्रकृतसूत्र न होता तो 'दन्तराजः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता ।

धर्मादिष्वनियमः (धर्म आदि शब्दों में पूर्वनिपात या परनिपात का कोई नियम नहीं होता) । इस गण में कुछ शब्द द्विविध भी पढ़े गये हैं । जैसे—धर्मार्थौ, अर्थ-धर्मौ । कामार्थौ, अर्थकामौ । शब्दार्थौ, अर्थशब्दौ । आद्यन्तौ, अन्तादी । गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ । इन से यही प्रतीत होता है कि द्वन्द्वसमास में धर्म आदि कुछ शब्दों के पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं, जिस का चाहो पूर्वनिपात या परनिपात कर लो । इसीलिये यहां कौमुदीकार ने गणसूत्र ऊहित (कल्पित) कर लिया है—**धर्मादिष्व-नियमः** । तथाहि—

---

१. ऊपर की दन्तपङ्क्ति में मध्यवर्ती दो दान्त 'राजदन्त' कहलाते हैं । यथा—**राज-दन्तौ तु मध्यस्थावुपरिश्रेणिकौ क्वचित्**—(अभिधानचिन्तामणि, श्लोक ५८४) । कुछ अन्य कोषकार ऊपर नीचे दोनों पङ्क्तियों में स्थित मध्यवर्ती दो दो दान्तों को 'राजदन्त' कहते हैं । यथा—**राजदन्तौ श्रेणिकौ द्वावधश्चोपरितः स्थितौ**—(कल्प-द्रुकोष ३.१६०) । वैजयन्तीकोषकार भी ऐसा ही मानते हैं—**मध्यदन्ता राजदन्ता दंष्ट्रा तत्पार्श्वयोर्द्वयोः** ।

२. **राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः**—(नैषध० ७.४६) ।

राजन्ते सुतनोर्मनोरमतमास्ते राजदन्ताः पुरः—(**शृङ्गारधनशतक** ६७) ।

लौकिकविग्रह—धर्मश्च अर्थश्च धर्मार्थौ अर्थधर्मौ वा (धर्म और अर्थ)। अलौकिकविग्रह—धर्म सुँ + अर्थ सुँ। यहां इतरेतरयोग में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्रद्वारा द्वन्द्वसमास होकर समास की प्रातिपदिकसंज्ञा करने से **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् हो जाता है—धर्म + अर्थ। अब यहां **अजाद्यदन्तम्** (९८८) इस वक्ष्यमाण नियम के अनुसार 'अर्थ' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिये परन्तु राजदन्तादियों में पाठ के कारण **धर्मादिष्वनियमः** इस ऊहित गणसूत्र से किसी का भी पूर्वनिपात या परनिपात हो सकता है। अतः विभक्ति ला कर 'धर्मार्थौ' या 'अर्थधर्मौ' दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार—कामश्च अर्थश्च कामार्थौ अर्थकामौ वा, **शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ अर्थशब्दौ** वा, आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ अन्तादी वा—इत्यादियों में समझना चाहिये।

राजदन्तादियों में—'जायापती, जम्पती, दम्पती' ये तीन प्रयोग भी पाये जाते हैं। 'जाया च पतिश्च' इस इतरेतरद्वन्द्वसमास में जायाशब्द का पूर्वनिपात हो कर उसे जम् या दम् सर्वादेश विकल्प से हो जाते हैं। अतः विभक्ति (प्रथमाद्विवचन 'औ' प्रत्यय) ला कर हरिशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से जम्-आदेश के पक्ष में—'जम्पती,' तथा दम् आदेश के पक्ष में—'दम्पती'। किसी आदेश के न होने पर—'जायापती'। इस प्रकार उपर्युक्त तीन रूप सिद्ध हो जाते हैं। विग्रह सब का एक सा ही है—जाया च पतिश्च (पत्नी और पति)।[1]

अब द्वन्द्वसमास में पूर्वनिपात का प्रतिपादन करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(९८७) द्वन्द्वे घि ।२।२।३२।।**

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ।।

अर्थः—द्वन्द्वसमास में घिसंज्ञक पूर्व में प्रयुक्त हो।

---

१. राजदन्तादिगण यथा—

राजदन्तः । अग्रेवणम् । लिप्तवासितम् । नग्नमुषितम् । सिक्तसंमृष्टम् । मृष्टलुञ्चितम् । अवक्लिन्नपक्वम् । अर्पितोप्तम् (अर्पितोतम्) । उप्तगाढम् । उलूखलमुसलम् । तण्डुलकिण्वम् । दृषदुपलम् । आरग्वायनबन्धकी । चित्ररथबाह्लीकम् । अवन्त्यश्मकम् । शूद्रार्यम् । स्नातकराजानौ । विष्वक्सेनार्जुनौ । अक्षिभ्रुवम् । दारगवम् । शब्दार्थौ । कामार्थौ । धर्मार्थौ । अर्थशब्दौ । अर्थकामौ । अर्थधर्मौ । वैकारिमतम् । गोजवाजम् (गाजवाजम्) । गोपालधानीपूलासम् । पूलासकारण्डम् । स्थूलासम् । उशीरबीजम् । जिज्ञास्थि । सिञ्जाश्वत्थम् । चित्रास्वाती । भार्यापती । दम्पती । जम्पती । जायापती । पुत्रपती । पुत्रपशू । केशश्मश्रु । शिरोबीजम् । शिरोजानु । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिषी । आद्यन्तौ । अन्तादी । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ । इति राजदन्तादिः ।।

व्याख्या—द्वन्द्वे ।७।१। घि ।१।१। पूर्वम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से) । 'प्रयुज्यते' इति क्रियाऽध्याहार्या । अर्थः—(द्वन्द्वे) द्वन्द्व-समास में (घि) घिसंज्ञक (पूर्वं प्रयुज्यते) पहले प्रयुक्त होता है । **शेषो घ्यसखि** (१७०) सूत्रद्वारा सखिवर्ज ह्रस्व-इकारान्त और ह्रस्व-उकारान्त शब्दों की घिसंज्ञा का विधान दर्शा चुके हैं ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हरिश्च हरश्च हरिहरौ (विष्णु और शिव) । अलौकिकविग्रह —हरि सुँ+हर सुँ । यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से इतरेतरयोग में द्वन्द्वसमास हो कर प्रकृत **द्वन्द्वे घि** (९८७) सूत्रद्वारा घिसञ्ज्ञक हरिशब्द का पूर्वनिपात कर सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'हरिहरौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सखि (मित्र) शब्द की घिसंज्ञा नहीं होती अतः सखा च सुतश्च सखिसुतौ सुतसखायौ वा । यहां प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति न हो कर पूर्वनिपात में कामचारिता होती है ।

जब द्वन्द्वसमास में अनेक घिसञ्ज्ञक पद हों तो किसी एक घिसंज्ञक पद का पूर्वनिपात कर शेषों को कहीं पर भी रखा जा सकता है[1] । यथा—हरिश्च हरश्च गुरुश्च हरिहरगुरवः, हरिगुरुहरा वा ।

द्वन्द्वसमास में पूर्वनिपातविषयक दूसरे सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८८) **अजाद्यदन्तम्** ।२।२।३३।।

(अजाद्यदन्तं पदं) द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ ।।

अर्थः—जो शब्द अजादि भी हो और अदन्त भी उस का द्वन्द्वसमास में पूर्व-निपात हो ।

व्याख्या—अजाद्यदन्तम् ।१।१। द्वन्द्वे ।७।१। (**द्वन्द्वे घि** सूत्र से) । पूर्वम् ।२।१। (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से) । 'प्रयुज्यते' इति क्रियाऽध्याहार्या । अच् आदिर्यस्य तद् अजादि, बहुव्रीहिसमासः । अत् अन्तो यस्य तद् अदन्तम्, बहुव्रीहिसमासः । अजादि च तद् अदन्तम् अजाद्यदन्तम्, कर्मधारयसमासः । अर्थः—(अजाद्यदन्तम्) जो अजादि भी हो और अदन्त भी ऐसा पद (द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (पूर्वं प्रयुज्यते) पूर्व में प्रयुक्त होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ईशश्च कृष्णश्च ईशकृष्णौ (शिव और कृष्ण) । अलौकिक-विग्रह—ईश सुँ+कृष्ण सुँ । यहां इतरेतरयोग अर्थ में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो जाता है । इस समास में 'ईश' शब्द अजादि भी है और अदन्त भी । अतः **अजाद्यदन्तम्** (९८८) इस प्रकृतसूत्र से इस का पूर्वनिपात हो जाता है । अब

---

१. **अनेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमः शेषे** (वा०) ।

समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने पर 'ईशकृष्णौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—उष्ट्राश्च खराश्च तेषां समाहारः—उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशकम्। अश्वरथम्। अस्त्रशस्त्रम्। इत्यादि।

टिप्पण (१)— द्वन्द्वसमास में यदि अजाद्यदन्त पद एक से अधिक हों तो उन में से किसी एक का ही इच्छानुसार पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—अश्वश्च रथश्च इन्द्रश्च अश्वरथेन्द्राः, इन्द्राश्वरथा वा। यहां 'इन्द्र' और 'अश्व' दोनों अजाद्यदन्त शब्द हैं अतः यथेच्छ किसी एक का पूर्वनिपात हो जाता है दूसरा किसी भी स्थान पर रह सकता है। अत एव वार्त्तिककार ने कहा है—**बहुष्वनियमः** (वा०)।

टिप्पण (२)—यदि द्वन्द्वसमास में घिसंज्ञक और अजाद्यदन्त का एक साथ पूर्वनिपात प्राप्त हो तो **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) की व्यवस्थानुसार अजाद्यदन्त का ही पूर्वनिपात होगा घिसंज्ञक का नहीं। यथा—अग्निश्च इन्द्रश्च इन्द्राग्नी। वायुश्च इन्द्रश्च इन्द्रवायू। इन्दुश्च अर्कश्च अर्केन्दू। इत्यादि।

[**लघु**०] विधि-सूत्रम्—**(९८९) अल्पाच्तरम्** ।२।२।३४॥

(अल्पाच्तरं पदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्)। शिवकेशवौ॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में सब से थोड़े अचों वाला पद पूर्व में प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—अल्पाच्तरम्।१।१। द्वन्द्वे।७।१। (**द्वन्द्वे घि** सूत्र से)। पूर्वम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से)। 'प्रयुज्यते' इति क्रियापदमध्याहार्यम्। अल्पः (अल्पसंख्यः) अच् यस्य तद् अल्पाच् (पदम्), बहुव्रीहिसमासः। अल्पाच् एव अल्पाच्तरम्, स्वार्थे तरप्[1] अत एव निपातनात्, कुत्वाभावश्च। अर्थः—(द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (अल्पाच्तरम्) अपेक्षाकृत कम अचों वाला पद (पूर्वं प्रयुज्यते) पूर्व में प्रयुक्त होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शिवश्च केशवश्च शिवकेशवौ (शिव और कृष्ण)। अलौकिकविग्रह—शिव सुँ+केशव सुँ। यहां इतरेतरयोग में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो जाता है। प्रकृत में 'शिव' में दो अच् तथा 'केशव' में तीन अच् हैं अतः **अल्पाच्तरम्** (९८९) सूत्र से अल्पाच् 'शिव' का पूर्वनिपात हो सुँब्लुक् कर विभक्ति लाने से 'शिवकेशवौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ। धवश्च खदिरश्च धवखदिरौ। इत्यादि।

---

१. यदि प्रकर्ष में तरप् मानेंगे तो **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा दो के प्रकर्ष में ही तरप् प्रत्यय के विधान के कारण यहां द्वन्द्व में दो के प्रकर्ष में ही इस की प्रवृत्ति हो सकेगी अनेकों के प्रकर्ष में नहीं। अतः यहां स्वार्थ में ही तरप् माना जाता है। विशेष आकरग्रन्थों में देखें।

एक से अधिक अल्पाच्तर शब्द हों तो एक का तो अवश्य पूर्वनिपात होता है परन्तु दूसरे के विषय में नियम नहीं रहता। यथा—शङ्ख-दुन्दुभि-वीणाः, शङ्ख-वीणा-दुन्दुभयः, वीणा-शङ्ख-दुन्दुभयः, वीणा-दुन्दुभि-शङ्खाः। शङ्ख और वीणा दोनों दुन्दुभि की अपेक्षा अल्पाच्तर हैं।[1]

इस सूत्र पर कुछ वार्त्तिक बहुत प्रसिद्ध हैं। तथाहि—

(१) **ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणाम् आनुपूर्व्येण** (वा०) ॥

अर्थः—जिन में अचों की संख्या समान हो ऐसे ऋतुवाचक शब्दों के या नक्षत्रवाचक शब्दों के द्वन्द्वसमास में उन के क्रमानुसार पूर्वनिपात किया जाता है। यथा—हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः। कृत्तिका-रोहिण्यौ।[2]

(२) **लघ्वक्षरञ्च पूर्वम्** (वा०) ॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में लघु-अच् वाले शब्दों का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—कुशकाशम्। शरचापम्।

(३) **अभ्यर्हितञ्च** (वा०) ॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में अधिकपूज्य का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—मातापितरौ[3]। वासुदेवार्जुनौ। दूसरे पूर्वनिपातनियमों का यह बाधक है।

(४) **भ्रातुर्ज्यायसः** (वा०) ॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में बड़े भाई के नाम का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—युधिष्ठिरार्जुनौ।

(५) **वर्णानामानुपूर्व्येण** (वा०) ॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में ब्राह्मण आदि वर्णवाचक शब्दों का अपने क्रमानुसार पूर्वनिपात होना चाहिये। यथा—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः।

(६) **संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** (वा०) ॥

अर्थः—समासमात्र में छोटी संख्या का पूर्वनिपात कहना चाहिये। यथा—द्वौ च दश च द्वादश[4]। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। पञ्च वा षड् वा पञ्चषाः।[5]

---

१. सूत्रकार ने **लक्षणहेत्वोः क्रियायाः** (३.२.१२६) सूत्र में अल्पाच्तर हेतुशब्द का पूर्वनिपात न कर यह ज्ञापित किया है कि सम्पूर्ण पूर्वनिपातशास्त्र अनित्य है। अत एव शिष्टप्रयोगों में कई जगह इस का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—**स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे** (किरात० १.३)। यहां द्वन्द्वसमास में अजाद्यदन्त 'औदार्य' शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया गया।

२. ऋतूनामानुपूर्व्यं प्रादुर्भावकृतं नक्षत्राणां तूदयकृतं बोध्यम्।

३. **पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते** (?)।

४. 'द्वादश' की सिद्धि **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र पर विस्तार से दर्शाई जा चुकी है वहीं देखें।

५. 'द्वित्राः' और 'पञ्चषाः' प्रयोगों की सिद्धि पीछे पृष्ठ (२०५) पर दिखा चुके हैं, वहीं देखें।

अब द्वन्द्वसमास के अपवाद एकशेषवृत्ति को प्रदर्शित करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९०) **पिता मात्रा** ।१।२।७०।।

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ । मातापितरौ वा ।।

अर्थः—'मातृ' शब्द के साथ कहे जाने पर 'पितृ' शब्द विकल्प से शेष रहता है (मातृशब्द लुप्त हो जाता है)।

व्याख्या—पिता ।१।१। मात्रा ।३।१। शेषः ।१।१। (**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** सूत्र से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्** सूत्र से)। शिष्यते इति शेषः, कर्मणि घञ्। अर्थः—(मात्रा) मातृशब्द के साथ कहे जाने पर (पिता) पितृशब्द (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (शेषः) शेष रहता है अर्थात् मातृशब्द लुप्त हो जाता है। 'अन्यतरस्याम्' कहने से दूसरी अवस्था में दोनों का प्रयोग भी रहता है। इस तरह विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

माता च पिता च पितरौ (माता और पिता)। जब हमें मातृशब्द के साथ पितृशब्द का कथन अभीष्ट होता है तो विभक्ति लाने से पूर्व ही अन्तरङ्ग होने से प्रकृत **पिता मात्रा** (९९०) सूत्रद्वारा पितृशब्द शेष रह जाता है और मातृशब्द निवृत्त हो जाता है। **यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी** (अर्थात् जो शेष रहता है वह लुप्त हुए शब्द के अर्थ को भी कहता है) इस न्याय से शेष रहा पितृशब्द माता-पिता दोनों के अर्थों को प्रकट करता है। अत एव अवशिष्ट पितृशब्द से प्रथमाविभक्ति की विवक्षा में प्रथमाद्विवचन 'औ' प्रत्यय ला कर 'पितृ+औ' इस अवस्था में **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (२०४) से ऋकार को गुण, रपर अर्थात् 'अर्' करने से 'पितरौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। एकशेष यहां वैकल्पिक है अतः एकशेष के अभाव में 'मातृ सुँ+पितृ सुँ' के इतरेतरयोग में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **अभ्यर्हितञ्च** वार्त्तिकद्वारा पिता की अपेक्षा अभ्यर्हित (पूज्य) होने से मातृशब्द का पूर्वनिपात हो—मातृ+पितृ। अब **आनङ् ऋतो द्वन्द्वे** (६.३.२४)[2] सूत्र से पूर्वपद 'मातृ' के ऋकार को आनँङ् (आन्) आदेश हो कर—मातान्+पितृ। पुनः **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का लोप हो प्रातिपदिकत्वात् समुदाय से प्रथमा के द्विवचन 'औ' प्रत्यय को ला कर **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (२०४) से

---

१. **जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ**—(रघु० १.१)।

२. अर्थः —विद्या तथा योनि सम्बन्धवाची ऋदन्त शब्दों के द्वन्द्वसमास में उत्तरपद के परे रहते पूर्वपद को आनँङ् (आन्) आदेश हो जाता है। यथा—होता च पोता च होतापोतारौ। याता च ननान्दा च याताननान्दरौ (देवरपत्नी तथा ननन्द)।

ऋकार को गुण करने से 'मातापितरौ'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]।

अजन्तपुंलिङ्गप्रकरण के आरम्भ में **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१२५) सूत्र का वर्णन कर चुके हैं वह भी इसी एकशेषप्रकरण का सूत्र है। इस प्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी स्थल भी यहां छात्रों के ज्ञानार्थ दे रहे हैं—

[क] 'स्वसृ' (बहन) शब्द के साथ उच्चारित होने पर 'भ्रातृ' शब्द शेष रहता है। यथा—भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ (भाई और बहन)।

[ख] 'दुहितृ' (लड़की) शब्द के साथ उच्चारित होने पर 'पुत्र' शब्द शेष रहता है। यथा—दुहिता च पुत्रश्च पुत्रौ (पुत्री और पुत्र)।[3]

[ग] स्त्रीलिङ्ग जातिवाचक शब्द के साथ उच्चारित होने पर उसी जाति का पुंलिङ्ग शब्द शेष रहता है। यथा—हंसी च हंसश्च हंसौ (हंसी और हंस)।[4]

[घ] 'श्वश्रू' (सास) शब्द के साथ उच्चारित होने पर 'श्वशुर' शब्द विकल्प से शेष रहता है। यथा—श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ श्वश्रूश्वशुरौ वा (सास और ससुर)।[5]

अब द्वन्द्वसमास में एकवद्भाव के प्रतिपादक प्रधानसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९१) द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्। २।४।२॥

एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्॥

अर्थः—प्राण्यङ्गों, वाद्याङ्गों तथा सेनाङ्गों का द्वन्द्व एकवत् अर्थात् केवल समाहार अर्थ का ही प्रतिपादक हो।

व्याख्या—द्वन्द्वः।१।१। च इत्यव्ययपदम्। प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्।६।३। एकवचनम्।१।१। (**द्विगुरेकवचनम्** सूत्र से)। प्राणी च तूर्यञ्च सेना च प्राणि-तूर्य-सेनाः, तासामङ्गानि प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानि, तेषाम्=प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्, द्वन्द्व-गर्भषष्ठीतत्पुरुषसमासः। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** इति न्यायात्

---

१. **यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।**
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥　(मनु० २.२२७)

२. उत्तरभारत के आचार्यों के मत में इस द्वन्द्व का रूप 'मातरपितरौ' हुआ करता है जैसाकि आचार्य ने कहा है—**मातरपितरावुदीचाम्** (६.३.३१)। **पितरामातरा च च्छन्दसि** (६.३.३२) के अनुसार वेद में 'पितरामातरा' का प्रयोग पाया जाता है—**आ मा गन्तां पितरामातरा च** (यजुः० ९.१९)।

३. **भ्रातृपुत्रौ स्वसृ-दुहितृभ्याम्** (१.२.६८)।

४. **पुमान् स्त्रिया** (१.२.६७)।

५. **श्वशुरः श्वश्र्वा** (१.२.७१)।

प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानाम् चेति लभ्यते । एकं वक्तीति एकवचनम्, कर्त्तरि ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम् । अत्र **समाहारग्रहणं कर्त्तव्यम्** इति वार्तिकबलात् समाहार-रूपस्य एकस्यार्थस्य प्रतिपादक एषां द्वन्द्वसमास इति फलति । अर्थः—(प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्) प्राण्यङ्गों, तूर्याङ्गों तथा सेनाङ्गों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्वसमास (च) भी (एकवचनम्) एक समाहाररूप अर्थ का प्रतिपादक होता है ।

द्वन्द्वसमास इतरेतरयोग तथा समाहार दोनों अर्थों में प्राप्त है । यहां पुनः समाहार अर्थ में समास का विधान इस बात को द्योतित करता है कि इन का समास केवल समाहार अर्थ में ही हो सकता है इतरेतरयोग में नहीं । समाहार अनुद्भूतावयव एक समूह होता है अत एव एकवचनान्त होता है । **स नपुंसकम्** (६४३) सूत्रद्वारा इसे नपुंसक माना जाता है ।

प्राण्यङ्ग—हस्त, पाद आदि; तूर्याङ्ग—मृदङ्ग, वेणु, वीणा आदि को बजाने वाले शिल्पी लोग[1], तथा सेनाङ्ग—हाथी, रथ, घोड़े या उन पर सवार सैनिक आदि समझने चाहियें ।

प्राण्यङ्गों का द्वन्द्व यथा—

लौकिकविग्रह—पाणी च पादौ च एषां समाहारः पाणिपादम् (हाथों और पांवों का समूह) । अलौकिकविग्रह—पाणि औ + पाद औ । यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा प्राण्यङ्गों का द्वन्द्व होने के कारण **द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्** (६६१) इस प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव हो जाता है । अब इस से परे प्रथमा के एकवचन सुँ प्रत्यय को लाने पर **स नपुंसकम्** (६४३) सूत्रद्वारा नपुंसकत्व हो जाने से सुँ को अम् आदेश एवम् **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'पाणिपादम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—शिरश्च ग्रीवा चानयोः समाहारः शिरोग्रीवम्[2] आदि प्रयोगों की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

तूर्याङ्गों का द्वन्द्व यथा—

लौकिकविग्रह—मार्दङ्गिकाश्च वैणविकाश्च एषां समाहारो मार्दङ्गिकवैणविकम् (तबलावादकों तथा वेणुवादकों का समूह)[3] । अलौकिकविग्रह—मार्दङ्गिक जस् +

---

१. अत्र तूर्याङ्गशब्देन वादका एवेति **अल्पाच्तरम्** (२.२.३४) इत्यत्र भाष्ये ध्वनित-मिति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

२. शिरस् सुँ + ग्रीवा सुँ इत्यत्र समाहारद्वन्द्वे, सुँब्लुकि, नपुंसकह्रस्वे, सकारस्य रुँत्वे, **हशि च** (१०७)इत्युत्वे, गुणे च कृते क्लीबे 'शिरोग्रीवम्' इति सिध्यति ।

३. यद्यपि मृदङ्गवैणवशब्दौ वाद्यविशेषपरौ तथापीह तद्वादने वर्तेते । मृदङ्गवादनं शिल्पम् (कौशलम्) अस्येत्यर्थे **शिल्पम्** (११२६) इति ठकि, ठस्य इकादेशे आदिवृद्धौ भस्याकारस्य लोपे च कृते मार्दङ्गिकशब्दः सिध्यति । वेणोर्विकारो वैण-वम्, **ओरञ्** (४.२.७०) इत्यञ् । वैणववादनं शिल्पमस्येति वैणविकः, पूर्ववत् ठक् ।

वैणविक जस् । यहां पर भी पूर्ववत् द्वन्द्वसमास, सुँब्लुक् तथा प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव कर नपुंसकलिङ्ग में उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता है ।

सेनाङ्गों का द्वन्द्व यथा—

लौकिकविग्रह—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च एषां समाहारो रथिकाश्वारोहम् (रथिकों और घुड़सवारों का समूह)। अलौकिकविग्रह—रथिक जस्+अश्वारोह जस्[1] । यहां भी पूर्ववत् द्वन्द्वसमास, सुँब्लुक् तथा प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव कर नपुंसक में 'रथिकाश्वारोहम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

नोट—ध्यान रहे कि प्राण्यङ्गों का प्राण्यङ्गों के साथ, तूर्याङ्गों का तूर्याङ्गों के साथ और सेनाङ्गों का सेनाङ्गों के साथ ही यहां समाहारद्वन्द्व इष्ट है । अतः 'मार्दङ्गिकश्च अश्वारोहश्च मार्दङ्गिकाश्वारोहौ' यहां इतरेतरद्वन्द्व हो जाता है प्रकृत-सूत्र से एकवद्भाव नहीं होता ।

अब द्वन्द्वसमास के सुप्रसिद्ध समासान्त टच् प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९२) द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे । ५।४।१०६॥

चवर्गान्ताद् दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट् टच् स्यात् समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्त्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ ॥

अर्थः—चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त समाहारद्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—द्वन्द्वात् ।५।१। चु-द-ष-हान्तात् ।५।१। समाहारे ।७।१। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । चुश्च दश्च षश्च हश्चैषां समाहारः चुदषहम्, चुदषहम् अन्ते यस्य स चुदषहान्तः, तस्मात्=चुदषहान्तात्[3] । समाहारद्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिसमासः । दकारादिष्व-कार उच्चारणार्थः । अर्थः—(समाहारे) समाहार अर्थ में (चु-द-ष-हान्तात्) चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त (द्वन्द्वात्) द्वन्द्वसमास से परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (टच् प्रत्ययः) टच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) इस समास का अन्तावयव

---

१. रथेन चरन्तीति रथिकाः । **पर्पादिभ्यः ष्ठन्** (४.४.१०) इति ष्ठन् प्रत्ययः । अश्वमारोहन्तीति अश्वारोहाः । **कर्मण्यण्** (७९०) इत्यण् प्रत्ययः ।

२. यदि सेना के पशुओं मात्र का ही द्वन्द्व होगा तो वहां प्रकृतसूत्र का **विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुन्यश्व-वडव-पूर्वाऽपराऽधरोत्तराणाम्** (२.४.१२) इस सूत्र से बाध हो कर वैकल्पिक एकवद्भाव हो जायेगा । यथा—हस्तिनोऽश्वाश्च हस्त्यश्वम्, हस्त्यश्वाः ।

३. **अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्** । विनाप्येतेन तदन्तविधिना सिद्धेः ।

होता है। टच् के टकार और चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं 'अ' मात्र शेष रहता है।

चवर्गान्त के उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—वाक् च त्वक् चानयोः समाहारो वाक्त्वचम् (वाणी और त्वचा का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—वाच् सुँ+त्वच् सुँ। यहां समाहार अर्थ में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का आश्रय ले कर पदत्व के कारण **चोः कुः** (३०६) सूत्रद्वारा वाच् के चकार को कुत्वेन ककार आदेश कर 'वाक्त्वच्' बना। अब इस समाहारद्वन्द्व के अन्त में चवर्ग विद्यमान है अतः **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** (९९२) इस प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय कर उस के अनुबन्धों का लोप करने से— वाक्त्वच्+अ='वाक्त्वच' यह अकारान्त शब्द निष्पन्न हुआ। **स नपुंसकम्** (९४३) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँ को **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'वाक्त्वचम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—त्वक् च स्रक् चानयोः समाहारः त्वक्स्रजम् (त्वचा और माला का समाहार)। 'त्वच् सुँ+स्रज् सुँ' इस अलौकिकविग्रह में भी पूर्ववत् समास और समासान्त टच् करने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता है। सूत्र में 'च' न कह कर 'चु' (चवर्ग) कथन का प्रयोजन यही है कि इन जकारान्त स्थलों में भी टच् हो जाये।

दकारान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शमी च दृषच्चानयोः समाहारः शमीदृषदम् (शमी वृक्ष तथा पत्थर का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—शमी सुँ+दृषद् सुँ। यहां भी पूर्ववत् द्वन्द्वसमास में सुँब्लुक् कर दकारान्त समाहार से प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय करने पर विभक्ति लाने से 'शमीदृषदम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

षकारान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—वाक् च त्विट् चानयोः समाहारो वाक्त्विषम् (वाणी और कान्ति का समूह)। अलौकिकविग्रह—वाच् सुँ+त्विष् सुँ। यहां समाहार अर्थ में द्वन्द्वसमास, सुँब्लुक् तथा **चोः कुः** (३०६) सूत्रद्वारा वाच् के चकार को कुत्वेन ककार हो 'वाक्त्विष्' बना। अब षकारान्त समाहारद्वन्द्व होने के कारण प्रकृतसूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय कर विभक्ति लाने से 'वाक्त्विषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

हकारान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—छत्रं चोपानच्चानयोः समाहारः—छत्रोपानहम् (छाते और जूते का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—छत्र सुँ+उपानह् सुँ। यहां भी पूर्ववत् समाहारद्वन्द्व, सुँब्लुक्, गुण तथा हकारान्त समाहारद्वन्द्व होने के कारण प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त टच् हो कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'छत्रोपानहम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) स्रुक् च त्वक् चानयोः समाहारः स्रुक्त्वचम् ।

(२) समिधश्च दृषदश्च समाहृताः समिद्दृषदम् ।

(३) सम्पदश्च विपदश्चासां समाहारः सम्पद्विपदम् ।

(४) धेनूनां गोदुहाञ्च समाहारः धेनुगोदुहम् ।

(५) वाक् च विप्रुषश्च समाहृताः वाक्विप्रुषम्[1] ।

यह समासान्त टच् प्रत्यय समाहारद्वन्द्व से ही विधान किया गया है इतरेतरद्वन्द्व से नहीं । तथाहि—प्रावृट् च शरच्च प्रावृट्शरदौ (वर्षा और शरदृतु) । यहां 'प्रावृष् सुँ+शरद् सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से इतरेतरद्वन्द्व हो कर सुँब्लुक्, पदान्त षकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) द्वारा जश्त्वेन डकार तथा **खरि च** (७४) से चर्त्वेन टकार हो कर विभक्ति लाने से 'प्रावृट्शरदौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इतरेतरद्वन्द्व होने के कारण यहां टच् नहीं होता ।

समाहारद्वन्द्व भी यदि चु-द-ष-हान्त नहीं होगा तो उस से भी टच् न होगा । यथा—दृषच्च समिच्च अनयोः समाहारो दृषत्समित् । यहां समिध्शब्द धकारान्त है अतः टच् नहीं होता । इसीप्रकार—यकृच्च मेदश्चानयोः समाहारो यकृन्मेदः । यहां मेदस् शब्द सकारान्त है अतः टच् नहीं होता ।

अभ्यास [७]

(१) समासविशेषवाची द्वन्द्वशब्द पर टिप्पण कीजिये ।

(२) 'च' के चार अर्थों का सोदाहरण विवेचन कर यह बतायें कि किस किस अर्थ में द्वन्द्वसमास होता है और क्यों ?

(३) द्वन्द्वसमास के पूर्वनिपात पर सोदाहरण एक टिप्पणी लिखें ।

(४) निम्नस्थ वचनों को स्पष्ट कीजिये—

[क] धर्मादिष्वनियमः ।

[ख] समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ ।

[ग] अनयोरसामर्थ्यात् समासो न ।

[घ] अन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचयः ।

[ङ] परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः ।

(५) समाहारद्वन्द्व और इतरेतरद्वन्द्व में किस किस लिङ्ग और किस किस वचन का प्रयोग किया जाता है ?

(६) निम्नस्थ प्रयोगों में एकशेषविधि का आश्रय कर सप्रमाण रूप सिद्ध करें—

[क] स्वसा च भ्राता च ।

---

१. वाणी तथा मुख से निकले जलकण ।

[ख] दुहिता च पुत्रश्च ।
[ग] हंसी च हंसश्च ।
[घ] माता च पिता च ।
[ङ] श्वश्रूश्च श्वशुरश्च ।

(७) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे । २. अजाद्यदन्तम् । ३. चार्थे द्वन्द्वः । ४. राजदन्तादिषु परम् । ५. पिता मात्रा । ६. द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् । ७. द्वन्द्वे घि । ८. पुमान् स्त्रिया । ९. अल्पाच्तरम् । १०. अभ्यर्हितञ्च (वा०) ।

(८) अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पाणिपादम् । २. दम्पती । ३. संज्ञापरिभाषम् ४. धवखदिरौ । ५. छत्त्रोपानहम् । ६. द्वादश । ७. मातापितरौ । ८. रथिकाश्वारोहम् । ९. वाक्त्विषम् । १०. राजदन्तः । ११. अर्थधर्मौ । १२. मार्दङ्गिक-वैणविकम् । १३. शिरोग्रीवम् । १४. वाक्त्वचम् ।

(९) निम्नस्थ विग्रहों के द्वन्द्व में किस का पूर्वनिपात होना चाहिये ? सप्रमाण लिखें—

१. इन्द्रश्च वायुश्च । २. सखा च सुतश्च । ३. अर्जुनश्च भीमश्च । ४. त्रयश्च दश च । ५. ईशश्च कृष्णश्च । ६. अर्जुनश्च वासुदेवश्च । ७. उष्ट्राणां खराणाञ्च समाहारः । ८. रोहिणी च कृत्तिका च । ९. वीणा च दुन्दुभिश्च शङ्खश्च । १०. हरश्च हरिश्च । ११. हरिश्च हरश्च गुरुश्च । १२. धर्मश्च अर्थश्च । १३. अर्कश्च इन्दुश्च । १४. क्षत्त्रियश्च ब्राह्मणश्च । १५. शूद्रश्च विट् च । १६. वसन्तश्च शिशिरश्च । १७. पतिश्च भार्या च । १८. पतिश्च पुत्रश्च ।

[लघु०]   **इति द्वन्द्वः**

यहां पर द्वन्द्वसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:०:——

अथ समासान्तप्रकरणम्

अब सर्वसमासोपयोगी कुछ समासान्त प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९३) **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** ।५।४।७४।।

'अ+अनक्षे' इतिच्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अः प्रत्ययोऽन्ता-वयवः स्यात्, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः । राजधुरा । अक्षे तु- अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।।

अर्थः—सूत्रगत 'आनक्षे' का 'अ+अनक्षे' इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये। ऋच्, पुर्, अप्, धुर् और पथिन्—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे समास से परे समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है, परन्तु यदि धुर्शब्द अक्ष (रथचक्र) के साथ सम्बद्ध हो तो उस धुर्शब्दान्त समास से यह प्रत्यय नहीं होता।

व्याख्या—ऋक्-पूरब्धूः-पथाम् ।६।३। अ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। अनक्षे ।७।१। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। ऋक् च पूश्च आपश्च धूश्च पन्थाश्च ऋक्पूरब्धूःपन्थानः, तेषाम् ऋक्पूरब्धूःपथाम्। इतरेतरद्वन्द्वसमासः। न अक्षः अनक्षः, तस्मिन्=अनक्षे, नञ्तत्पुरुषः। सम्बन्धस्याधिकरणविवक्षायां सप्तमी। समासस्य अन्तः (अन्तावयवः) समासान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः। 'समासस्य' का वचनविपरिणाम कर 'समासानाम्' कर लिया जाता है। 'ऋक्पूरब्धूः-पथाम्' यह 'समासानाम्' का विशेषण है अतः तदन्तविधि हो कर 'ऋगाद्यन्तानां समासानाम्' बन जाता है। 'अनक्षे' यह निषेध यद्यपि साधारणतया कहा गया है तथापि अन्यों के साथ असम्भव होने से सम्बद्ध नहीं होता केवल धुर् के साथ ही सम्बद्ध होता है। अर्थः—(ऋक्पूरब्धूःपथाम्=ऋगाद्यन्तानाम्) ऋच्, पुर्, अप्, धुर् और पथिन्—ये शब्द जिन के अन्त में हों ऐसे (समासानाम्) समासों का (अन्तः=अन्तावयवः) अन्तावयव (अः प्रत्ययः) 'अ' प्रत्यय हो जाता है परन्तु (अनक्षे) अक्ष=रथचक्र के विषय में जो धुर् शब्द तदन्त समास को यह समासान्त नहीं होता।

ऋक्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ऋचोऽर्धम् अर्धर्चः, अर्धर्चं वा (ऋचा अर्थात् ऋक्मन्त्र का ठीक आधा भाग)। अलौकिकविग्रह—ऋच् ङस्+अर्ध सुँ। यहां **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) से तत्पुरुषसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट 'अर्ध' शब्द का पूर्वनिपात तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण-रपर करने पर 'अर्धर्च्' बना। यहां समास के अन्त में ऋच् शब्द विद्यमान है अतः **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) इस प्रकृतसूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है—अर्धर्च्+अ=अर्धर्च। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से प्राप्त परवल्लिङ्गता का बाध कर **अर्धर्चाः पुंसि च** (९६४) से पुंलिङ्ग में प्रथमैकवचन की विवक्षा में 'अर्धर्चः' तथा नपुंसक में सुँ को अम् आदेश कर पूर्वरूप करने से 'अर्धर्चम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—अविद्यमाना ऋचो यस्य सोऽनृचो माणवः (वह बालक जिस ने ऋचाओं का अध्ययन नहीं किया)। यहां **नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६६) वार्तिक से बहुव्रीहिसमास, उत्तरपद का लोप, नुँट् का आगम तथा प्रकृत **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय करने पर 'अनृचः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह—बहव ऋचो यस्यासौ बह्वृचः (ऋग्वेद का

---

१. पीछे (९६४) सूत्र पर इस की सविस्तर सिद्धि लिख चुके हैं उस का भी यहां ध्यान कर लेना चाहिये।

अध्ययन करने वाला)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो प्रकृतसूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है।[1]

पुर्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा —

लौकिकविग्रह = विष्णोः पूः—विष्णुपुरम् (विष्णु की नगरी)। अलौकिकविग्रह —विष्णु ङस् + पुर् सुँ। यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्र से तत्पुरुषसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, एवं प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (ङस् और सुँ) का लुक् कर **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय करने से—विष्णुपुर् + अ = विष्णुपुर। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता अर्थात् पुर्शब्द के समान स्त्रीलिङ्गता प्राप्त होती है परन्तु लोक में इस प्रकार के शब्द नपुंसक में ही प्रयुक्त होते देखे जाते हैं अतः लिङ्ग के लोकाश्रित होने के कारण[2] यहां नपुंसक में विभक्तिकार्य करने पर 'विष्णुपुरम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—नन्दीपुरम्, श्रीपुरम्, ललाटपुरम् आदि प्रयोगों में समासान्त समझना चाहिये।

अप्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विमला आपो[3] यस्य तद् विमलापं सरः (स्वच्छ है जल जिस का ऐसा तालाब)। अलौकिकविग्रह—विमला जस् + अप् जस्। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा 'विमला' को पुंवद्भाव से 'विमल' हो सवर्णदीर्घ करने से 'विमलाप्' हुआ। 'विमलाप्' के अन्त में 'अप्' शब्द होने के कारण **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (९९३)** सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय करने पर विशेष्य (सरः) के अनुसार नपुंसक प्रथमैकवचन में 'विमलापम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—शुद्धापम्, स्वच्छापम्, शीतापम् आदि प्रयोगों में समासान्त 'अ' प्रत्यय समझना चाहिये।

धुर्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

---

१. 'अनृचः' और 'बहृवृचः' ये दोनों अध्येता वाच्य होने पर ही इष्ट हैं—**अनृचबह्वृचावध्येतर्येव** (वा०)। अध्येता वाच्य न हो तो इन से समासान्त नहीं होता। यथा—बहव ऋचो यस्मिन् तद् बह्वृक् सूक्तम्। अविद्यमाना ऋक् यस्मिन् तद् अनृक् साम। अन्यत्र ऋक्शब्दान्त शब्दों में यह नियम लागू नहीं होता। यथा—सप्त ऋचो यस्य तत् सप्तर्चं सूक्तम्। यहां समासान्त हो जाता है निषेध नहीं होता।

२. **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्ये ४.१.३)।

३. 'अप्' (जल) शब्द सदा स्त्रीलिङ्ग एवं बहुवचनान्त हुआ करता है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया (३६१) सूत्र पर देखें।

लौकिकविग्रह—राज्ञो धूः—राजधुरा (राजा का कार्यभार)। अलौकिक-विग्रह—राजन् ङस्+धुर् सुँ। यहां **षष्ठी (९३१)** सूत्र से तत्पुरुषसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०)** सूत्रद्वारा 'राजन्' के पदान्त नकार का लोप करने पर 'राजधुर्' बना। 'राजधुर्' के अन्त में धुर् शब्द है अतः **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है—राजधुर्+अ=राजधुर। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप् (१२४९)** से टाप्, अनुबन्धों का लोप, सवर्णदीर्घ तथा प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) सूत्रद्वारा लोप करने पर 'राजधुरा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—रणस्य धूः—रणधुरा। महती धूः—महाधुरा। महती धूर्यस्य तद् महाधुरं शकटम्[1]। इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये।

सूत्र में 'अनक्षे' कहा गया है अतः धुर्शब्द का सम्बन्ध यदि अक्ष (चक्र) के साथ होगा तो प्रकृतसूत्र से समासान्त न होगा। यथा—अक्षस्य धूः—अक्षधूः (चक्र की धुरी अर्थात् मध्यभाग)। यहां समासान्त नहीं होता। इसीप्रकार—दृढा धूर्यस्य स दृढधूरक्षः (मज़बूत धुरी वाला चक्र)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहि-समास में **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा पुंवद्भाव करने से 'दृढधूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'अक्ष' के साथ सम्बन्ध होने के कारण समासान्त 'अ' प्रत्यय नही होता।

पथिन्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सख्युः पन्थाः सखिपथः (मित्र का मार्ग)। अलौकिकविग्रह—सखि ङस्+पथिन् सुँ। यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास कर सुँपों का लुक् करने से 'सखिपथिन्' बना। अब समास में पथिन्शब्द अन्त में होने के कारण **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर पूर्व की भसञ्ज्ञा तथा **भस्य टेर्लोपः** (२६६) सूत्र से पथिन् की टि (इन्) का लोप करने पर 'सखिपथ्+अ=सखिपथ' यह अकारान्त शब्द निष्पन्न होता है। तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार पुंस्त्व में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग करने से 'सखिपथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पथिन्शब्दान्त का दूसरा उदाहरण बहुव्रीहिसमास से यथा—

लौकिकविग्रह—रम्याः पन्थानो यस्य यस्मिन् वा स रम्यपथो देशः (रमणीय मार्गों वाला देश)। अलौकिकविग्रह—रम्य जस्+पथिन् जस्। यहां **अनेकमन्य-पदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय करने पर—रम्यपथिन्+अ। अब **भस्य टेर्लोपः** (२६६)

---

1. इन में **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) सूत्रद्वारा महत् शब्द के तकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ (४२) हो जाता है।

में भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'रम्यपथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—विशालाः पन्थानो यत्र तद् विशालपथं नगरम्। दृशोः पन्था: दृक्पथः[1]। राजपथः, जलपथः, स्थलपथः, महापथः आदियों में समासान्त प्रत्यय जानना चाहिये।

अब समासान्त अच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९४) **अक्ष्णोऽदर्शनात्** ।५।४।७६।।

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात् समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः ।।

अर्थः—जब अक्षिशब्द चक्षुर्वाचक न हो तो अक्षिशब्दान्त समास से समासान्त अच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अक्ष्णः ।५।१। अदर्शनात् ।५।१। अच् । १।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्=नेत्रम्, करणे ल्युट्[2]। न दर्शनम् अदर्शनम्, तस्माद्= अदर्शनात्, नञ्तत्पुरुषः। 'अदर्शनात्' पद 'अक्ष्णः' के साथ अन्वित होता है। 'अक्ष्णः' पद 'समासात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः— (अदर्शनात्) जो चक्षुर्वाचक नहीं ऐसा जो (अक्ष्णः) अक्षिशब्द तदन्त समास से (परः) परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अच् प्रत्ययः) अच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) इस समास का अन्तावयव होता है। अच्प्रत्यय का चकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय का चित्करण स्वरार्थ है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—गवाम् अक्षीव गवाक्षः (गौओं की आंखसदृश आकार वाला अर्थात् झरोखा, रोशनदान)[3]। अलौकिकविग्रह—गो आम्+अक्षि सुँ। यहां अक्षिशब्द चक्षुर्वाचक नहीं अपितु आंख के सदृश अर्थ में लाक्षणिक है[4]। **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास में सुँब्लुक् करने पर 'गो+अक्षि' हुआ। **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र से 'गो' के ओकार को नित्य अवङ् (अव) आदेश कर[5] सवर्णदीर्घ करने से 'गवाक्षि'

---

१. षत्वे (३०७) कुत्वम् (३०४)। **पतगस्य जगाम दृक्पथम्**—(नैषध० २.७३)।

२. करणल्युडन्तदर्शनशब्दो योगरूढिभ्यां चक्षुःपर्याय इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः।

३. **वातायनं गवाक्षः**—इत्यमरः।

४. अक्षिशब्दोऽत्र तत्सदृशे लाक्षणिक इति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इवशब्द उपात्तः।

५. अवङ् में वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं अतः उस की इत्संज्ञा नहीं होती, केवल ङकार की ही **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा होती है। अतः 'अवङ्' का 'अव' शेष रहता है। ध्यान रहे कि **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र में व्यवस्थित-विभाषा का आश्रय ले कर यहां अवङ् आदेश नित्य हो जाता है विकल्प से नहीं। एतद्विषयक एक टिप्पण उसी सूत्र पर लिख चुके हैं वह भी यहां अनुसन्धेय है।

बना। अब प्रकृत **अक्ष्णोऽदर्शनात्** (९९४) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय हो कर 'गवाक्षि + अ' इस स्थिति में तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसंज्ञक इकार का लोप कर—गवाक्ष् + अ = गवाक्ष। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९९२) के अनुसार परवल्लिङ्गता (नपुंसकत्व) के प्राप्त होने पर उस का बाध कर लोक-प्रसिद्धिवश पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'गवाक्षः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूत्र में 'अदर्शनात्' कथन के कारण 'ब्राह्मणस्य अक्षि ब्राह्मणाक्षि' इत्यादियों में अक्षिशब्द के चक्षुर्वाचक होने के कारण प्रकृतसूत्र से समासान्त अच् नहीं होता।

अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः इसी समासान्त का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९९५) उपसर्गादध्वनः ।५।४।८५।।**

[प्रादिभ्योऽध्वनोऽच् स्यात् समासान्तः]। प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।।

अर्थः—प्रादियों से परे जो अध्वन् शब्द, तदन्त समास से अच् प्रत्यय हो और वह इस समास का अन्तावयव हो।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। अध्वनः ।५।१। अच् ।१।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। 'उपसर्ग' से तात्पर्य यहां प्रादियों से है[1]। 'अध्वनः' यह 'समासात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(उपसर्गात्) प्र आदि से परे जो (अध्वनः) अध्वन् शब्द तदन्त समास से (परः) परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अच् प्रत्ययः) अच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) उस समास का अन्तावयव होता है।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः (वह रथ जो मार्ग पर चल पड़ा है)। अलौकिकविग्रह— प्र + अध्वन् अम्। यहां पर **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिक से प्रादितत्पुरुषसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **उपसर्गादध्वनः** (९९५) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय हो कर—प्र + अध्वन् अ। अब अच् तद्धित के परे रहते **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप हो सवर्ण-दीर्घ कर विभक्ति लाने से 'प्राध्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अतिक्रान्तोऽध्वानम् अत्यध्वो रथः। अत्यध्वं शकटम्। निर्गतोऽध्वनो निरध्वो रथः। निरध्वं शकटम्। दुष्टोऽध्वा दुरध्वः। सम्प्राप्ता अध्वानं समध्वाः[2]। इत्यादि प्रयोगों में प्रकृत समासान्त जान लेना चाहिये।

---

१. अध्वशब्दस्य अक्रियावचनत्वात् तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाऽभावाद् उपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणम् इति हरदत्तः।

२. **द्रुतं समध्वा रथवाजिनागैर्मन्दाकिनीं रम्यवनां समीयुः** (भट्टि० ३.४५)।

परमश्चासौ अध्वा परमाध्वा । उत्तमश्चासौ अध्वा उत्तमाध्वा । इन प्रयोगों में अध्वन् शब्द प्रादियों से परे नहीं अतः प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त अच् नहीं होता ।

अब समासान्त प्रत्ययों का निषेधस्थल दर्शाते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(९९६) न पूजनात् ।५।४।६९।।

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः । स्वतिभ्यामेव[1] । सुराजा । अतिराजा ।।

अर्थः—पूजनार्थक शब्द से परे जो प्रातिपदिक तदन्त समास से परे समासान्त प्रत्यय न हों ।

स्वतिभ्यामेव—यह निषेध 'सु' और 'अति' पूजनार्थक निपातों से परे ही प्रवृत्त होता है अन्य पूजनार्थकों से परे नहीं ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । पूजनात् ।५।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(पूजनात्) पूजनार्थक से परे (यत् प्रातिपदिकम्, तदन्तात्) जो प्रातिपदिक, तदन्त समास से परे (समासान्ताः) समासान्त (प्रत्ययाः) प्रत्यय (न) नहीं होते । यहां पर एक इष्टि है—**स्वतिभ्यामेव** । इस का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पूजनार्थक से यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता अपितु 'सु' और 'अति' इन दो पूजनार्थक निपातों से परे ही यह निषेध प्रवृत्त होता है ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सुशोभनो राजा सुराजा (सुन्दर या अच्छा राजा) । अलौकिकविग्रह—सु+राजन् सुँ । यहां **कुगतिप्रादयः** (९४९) सूत्र से प्रादितत्पुरुषसमास हो कर सुँब्लुक् करने से 'सुराजन्' बना । अब यहां **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय प्राप्त होता है । परन्तु प्रकृत **न पूजनात्** (९९६) सूत्र से पूजनार्थक 'सु' निपात से परे राजन् को समासान्त टच् का निषेध हो जाता है । पुनः समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** (१७७) से उपधादीर्घ, सुँ के अपृक्त सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) से लोप तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का भी लोप करने से 'सुराजा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अतिशयितो राजा अतिराजा (अच्छा राजा) । यहां पूर्ववत् समास करने पर 'अति' इस पूजनार्थक निपात से परे राजन्-शब्दान्त समास को प्राप्त समासान्त टच् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है ।

इस के अन्य उदाहरण—

---

१. पाठोऽयं बहुषु संस्करणेषु नोपलभ्यते । इष्टिरियं सूत्रेऽस्मिन् **पूजायां स्वतिग्रहणम्** इतिभाष्यपठितवार्त्तिकादेवोद्धृतेति ।

सुशोभना गौः सुगौः । अतिशयिता गौः—अतिगौः । इन में **गोरतद्धितलुकि** (९३९) से प्राप्त समासान्त टच् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है ।

स्वतिभ्यामेव—इस इष्टि के अनुसार 'सु' और 'अति' के अतिरिक्त अन्य पूजनार्थकों से परे यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता । यथा—परमश्चासौ **राजा** परमराजः (उत्तम राजा) । यहां **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्रद्वारा विहित कर्मधारय समास में पूजनार्थक 'परम' शब्द से परे राजन् को समासान्त टच् प्रत्यय हो कर **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से टि (अन्) का लोप करने से 'परमराजः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

वार्त्तिककार के अनुसार यह निषेध अष्टाध्यायी में **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (५.४.११३) सूत्र से पूर्व के समासान्तों में ही प्रवृत्त होता है षच् आदि आगे के समासान्तों में नहीं[1] । अत एव 'सुशोभने अक्षिणी यस्य स स्वक्षः' (सुन्दर आंखों वाला) । यहाँ बहुव्रीहिसमास में **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) सूत्र से षच् (अ) प्रत्यय हो जाता है उस का निषेध नहीं होता ।

'पूजनात्' कथन के कारण पूजनवाचकों से अन्यत्र समासान्त का निषेध नहीं होता । यथा—गामतिक्रान्तोऽतिगवः, यहां **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिकद्वारा किये समास में पूजनार्थक से भिन्न 'अति' पद से परे **गोरतद्धितलुकि** (९३९) सूत्र से होने वाले समासान्त टच् का निषेध नहीं होता ।

अभ्यास [८]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का यथोचित उत्तर दीजिये—

[क] **उपसर्गादध्वनः** में उपसर्गपद का क्या अभिप्राय है ?

[ख] 'परमराजः' में समासान्त का निषेध क्यों नहीं होता ?

[ग] 'स्वक्षः' में **न पूजनात्** सूत्र की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[घ] 'विप्रस्याक्षि विप्राक्षि' यहां समासान्त अच् क्यों नहीं होता ?

[ङ] 'विष्णुपुरम्' और 'अर्धर्चम्' में परवल्लिङ्गता क्यों नहीं होती ?

[च] वैकल्पिक भी अवङादेश 'गवाक्षः' में क्यों नित्य हो जाता है ?

[छ] 'बह्वृक् सूक्तम्' में **ऋक्पूरब्धूः०** द्वारा समासान्त क्यों नहीं होता ?

[ज] 'परमोऽध्वा परमाध्वा' में समासान्त अच् क्यों नहीं होता ?

(२) निम्नस्थ सूत्र-वार्त्तिक-वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—

[क] स्वतिभ्यामेव ।

[ख] अक्षे तु दृढधूरक्षः ।

[ग] अनृचबह्वृचावध्येतर्येव ।

[घ] प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

[ङ] ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ।

---

१. **प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं कर्त्तव्यम्** (वा०) इति वार्त्तिकं महाभाष्ये पठितम् ।

[च] अक्ष्णोऽदर्शनात् ।
[छ] उपसर्गादध्वनः ।
[ज] न पूजनात् ।

(३) द्विविध विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. विमलापम् । २. सखिपथः । ३. प्राध्वः । ४. राजधुरा । ५. रम्यपथम् । ६. गवाक्षः । ७. अनृक् साम । ८. बह्वृचो माणवकः । ९. सुराजा । १०. अक्षधूः ।

(४) निम्नस्थों में समासान्त की अशुद्धि ससूत्र निर्दिष्ट करें—
[१] जयन्ति ते सत्यगवाः पूतवाचा मुनीश्वराः ॥[1]
[२] प्रायेणोपशरन्नद्यो जायन्ते स्वच्छवारयः ।[2]
[३] कृष्णसख्युः समाख्यानं सुदाम्नः परमद्भुतम् ॥[3]
[४] अन्तर्लोमा बहिर्लोम्नः कम्बलाद् मृदुरुच्यते ॥[4]
[५] अनर्थं हि वचो मित्र ! सदाऽकीर्त्तिकरम्मतम् ॥[5]
[६] सभायां शूद्रराज्ञोऽस्य न कोऽपि चतुरो जनः ॥[6]
[७] व्यूढोरा यात्ययं वीरो रणे दर्शित-विक्रमः ॥[7]
[८] कुराजा भण्यते लोके प्रजाः सम्यगपालयन् ॥[8]

---

१. सत्या गौः (वाक्) यस्य स सत्यगुः, ते=सत्यगवः । यहां बहुव्रीहिसमास में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व तो हो जायेगा किन्तु **गोरतद्धितलुकि** (९३९) से समासान्त टच् न होगा क्योंकि वह तत्पुरुष से ही विधान किया गया है । इसीप्रकार—पूता वाग्येषां ते पूतवाचः । टच् यहां दुर्लभ है । अतः 'जयन्ति ते सत्यगवः पूतवाचो मुनीश्वराः' ऐसा होना चाहिये ।

२. शरदः समीपम् उपशरदम् । यहां **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) सूत्र से समासान्त टच् होना चाहिये ।

३. **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् हो कर 'कृष्णस्य सखा कृष्णसखः, तस्य=कृष्णसखस्य' होना चाहिये ।

४. यहां **अन्तर्बहिर्भ्याञ्च लोम्नः** (९७३) सूत्रद्वारा समासान्त अप् प्रत्यय हो कर टिलोप करने से 'अन्तर्लोमो बहिर्लोमात्' ऐसा बनेगा ।

५. 'अविद्यमानोऽर्थो यस्य' इस बहुव्रीहिसमास में उरःप्रभृतियों में पढ़े गये **अर्थान्नञः** इस गणसूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय हो कर 'अनर्थकम्' बनना चाहिये ।

६. यहां तत्पुरुषसमास में **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से टच् समासान्त प्रत्यय हो कर 'शूद्राणां राजा शूद्रराजः, तस्य शूद्रराजस्य' ऐसा होना चाहिये ।

७. 'व्यूढोराः' के स्थान पर 'व्यूढोरस्कः' होना चाहिये । **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) से समासान्त कप् अनिवार्य है ।

८. यहां 'कु' कुत्सावाचक है अतः **न पूजनात्** (९९६) से समासान्त का निषेध न होगा । **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्र से समासान्त टच् हो कर टि का लोप करने से 'कुराजः' बनना चाहिये ।

[९] सुराजस्त्वं महाभाग पालयन् पुत्रवत्प्रजाः ॥[१]
[१०] न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति ॥[२]
[११] गृहीतमधवो बालाः पिबन्ति विरसौषधम् ॥[३]
[१२] विरम विरम कोपादर्धरात्रिर्गतेयम् ॥[४]
[१३] एकपादो भवेद् धर्मः कलौ घोरे समागते ॥[५]
[१४] विपथेन तु यात्येकः सुपथेन तथाऽपरः ॥[६]
[१५] द्विमूर्धानस्त्रिमूर्धानः श्रूयन्ते राक्षसाः पुरा ॥[७]
[१६] सुपादा ललना भाति नृत्यकाले विशेषतः ॥[८]
[१७] अहोरात्रिगता चर्या कीदृश्यासीन्महात्मनः ॥[९]

---

१. यहां 'सु' पूजार्थक है अतः **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से प्राप्त समासान्त टच् का **न पूजनात्** (९९६) से निषेध हो कर 'सुराजा' बनेगा।

२. वाजिनां धूः—वाजिधुरा, ताम्=वाजिधुराम्। यहां **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर परवल्लिङ्गता के कारण स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय ला कर द्वितीयैकवचन में 'वाजिधुराम्' होना चाहिये।

३. गृहीतं मधु यैस्ते गृहीतमधुकाः। मधुशब्द उरःप्रभृतिगण में साक्षात् पढ़ा गया है अतः बहुव्रीहिसमास में **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) सूत्र से समासान्त कप् अनिवार्य है।

४. रात्रेरर्धम् अर्धरात्रः। **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) से तत्पुरुषसमास और **अहःसर्वैकदेश-संख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंस्त्व में 'अर्धरात्रः' बनेगा अतः तदनुसार यहां 'अर्धरात्रो गतोऽयम्' पाठ होना चाहिये।

५. एकः पादो यस्य स एकपाद्। बहुव्रीहिसमास में **संख्या-सु-पूर्वस्य** (९७५) सूत्र द्वारा पादशब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जाता है अतः उपर्युक्त प्रयोग अशुद्ध है।

६. 'विपथेन' यह युक्त है। विरुद्धः पन्थाः—विपथः, तेन=विपथेन। यहां प्रादितत्पुरुष-समास में **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर टि का लोप हो गया है। परन्तु 'सुपथेन' अशुद्ध है, यहां **न पूजनात्** (९९६) से समासान्त का निषेध होगा अतः तृतीया के एकवचन में 'सुपथिन्' शब्द का 'सुपथा' होना चाहिये।

७. **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो कर 'द्विमूर्ध' और 'त्रिमूर्ध' शब्द बनते हैं अतः 'द्विमूर्धास्त्रिमूर्धाश्च' कहना चाहिये।

८. 'सुपादा' के स्थान पर 'सुपाद्' होना उचित है। 'सुशोभनौ पादौ यस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में **संख्या-सुपूर्वस्य** (९७५) द्वारा सुपूर्वक पादशब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जायेगा। **न पूजनात्** (९९६) से समासान्त का निषेध न होगा क्योंकि वह बहुव्रीहि में प्रवृत्त नहीं होता।

९. अहश्च रात्रिश्चानयोः समाहारः—अहोरात्रः। द्वन्द्वसमास में **अहःसर्वैकदेश-संख्या-तपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) द्वारा पुंस्त्व में 'अहोरात्रः'। अहोरात्रं गता—'अहोरात्रगता' ऐसा कहना चाहिये।

[१८] हस्तिपाद् मानवो लोके शक्तो गन्तुं न कर्हिचित् ।।[1]
[१९] अवमूर्धोऽसि किं विप्र ! कच्चित्ते कुशलं गृहे ?[2]
[२०] नैवाधीता ऋचो येन सोऽनृचो वटुरुच्यते ।
तथा बह्वय ऋचो यस्य बह्वृचं सूक्तमेव तत् ।।[3]
[२१] सप्त सन्ति ऋचो यस्य सप्तर्कं सूक्तं तदुच्यते ।।[4]
[२२] नवप्रसूतगावस्तु भण्यन्ते धेनवो बुधैः ।।[5]
[२३] अत्यन्तं खेदमाधत्ते सर्वरात्रिप्रजागरः ।।[6]
[२४] द्विमूर्धा बहुमूर्धाश्च जायन्ते केऽपि जन्तवः ।।[7]
[२५] न नारी शोभते लोके दीर्घसक्था भवेद् यदि ।।[8]

---

१. **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) सूत्र में 'अहस्त्यादिभ्यः' कहा गया है अतः यहां पादशब्द के अन्त्य अल् का लोप न हो कर 'हस्तिपादः' होना चाहिये ।

२. **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) सूत्र से द्वि और त्रि शब्दों से परे ही मूर्धन् को 'ष' समासान्त होता है । अतः यहां 'अवनतो मूर्धा यस्य' इस विग्रह में समासान्त न होगा अतः 'अवमूर्धा' प्रयोग होना चाहिये ।

३. **अनृच-बह्वृचौ अध्येतर्येव** इस नियम के कारण 'अनृचो वटुः' यहां बहुव्रीहि में तो **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जायेगा परन्तु सूक्त वाच्य होने पर 'बह्वय ऋचो यस्य' में समासान्त न होगा । अतः 'बह्वृक् सूक्तम्' कहा जायेगा ।

४. 'सप्त ऋचो यस्य' इस बहुव्रीहि में **ऋक्पूरब्धूः०** (९९३) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर 'सप्तर्चं सूक्तम्' बनेगा । 'अध्येतर्येव' वाला नियम यहां लागू नहीं होता क्योंकि वह अनृच और बह्वृच शब्दों तक ही सीमित है ।

५. **गोरतद्धितलुकि** (९३९) द्वारा समासान्त टच् प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय लाने से 'नवप्रसूत-गव्यः' प्रयोग होना चाहिये ।

६. 'सर्वरात्रिप्रजागरः' के स्थान पर 'सर्वरात्रप्रजागरः' पाठ होना चाहिये । **अहः-सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंस्त्व में 'सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः' बनता है । सर्वरात्रस्य प्रजागरः सर्वरात्रप्रजागरः ।

७. **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) द्वारा द्विपूर्वक या त्रिपूर्वक मूर्धन् से ही बहुव्रीहि में 'ष' समासान्त का विधान किया गया है; बहुपूर्वक से नहीं । अतः 'बहवो मूर्धानो येषां ते बहुमूर्धानः' होना चाहिये ।

८. 'दीर्घे सक्थिनी यस्याः' इस बहुव्रीहि में **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) सूत्र से समासान्त षच् प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) से ङीष् प्रत्यय करने पर 'दीर्घसक्थी' प्रयोग होना चाहिये ।

[२६] भूजायो नृपतिश्चेति पर्यायावेव तत्त्वतः ॥[1]
[२७] वीरोऽधिज्यधनुः कस्य कुलस्यासीद् धुरंधरः ॥[2]
[२८] समवेलाः समध्वानो राजानः समरस्थले ॥[3]
[२९] ता नार्यो युवपञ्चम्यो वह्नौ दग्धाः पतङ्गवत् ॥[4]
[३०] द्वित्रीन् शब्दान् स संश्रुत्य पुनर्मोहमुपागतः ॥[5]

[लघु०] **इति समासान्ताः**

यहां पर समासान्तों का विवेचन समाप्त होता है ।

समाप्तञ्चेद समासप्रकरणम् ॥

(यहां समासप्रकरण भी समाप्त होता है ।)

इति **भूतपूर्वाऽखण्डभारताऽन्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईल-खानाख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-श्रीमद्रामचन्द्र-वर्मसूनुना एम्. ए. साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधि-भृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां समासप्रकरणात्मकश्चतुर्थो भागः पूर्त्तिमगात् ॥**

---

१. 'भूर्जाया यस्य' इस बहुव्रीहि में **जायाया निङ्** (५.४.१३४) से जाया के अन्त्य आकार को निङ् (नि) समासान्त हो कर **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से यकार का लोप करने पर 'भूजानिः' प्रयोग बनना चाहिये ।

२. 'अधिज्यं धनुर्यस्य' यहां बहुव्रीहिसमास में 'अधिज्यधनुष्' शब्द के अन्त्य षकार को **धनुषश्च** (५.४.१३२) सूत्र से समासान्त अनँङ् (अन्) आदेश कर यण् करने से 'अधिज्यधन्वन्' शब्द बन जाता है । इस की रूपमाला यज्वन्शब्दवत् होने से 'अधिज्यधन्वा' प्रयोग बनेगा ।

३. सङ्क्रान्ता अध्वानम्—समध्वाः । **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इस वार्त्तिकद्वारा प्रादितत्पुरुष में **उपसर्गादध्वनः** (९९५) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर टि का लोप करने से प्रथमाबहुवचन में 'समध्वाः' बनना चाहिये ।

४. युवतिः पञ्चमी यासां ताः = युवतिपञ्चमाः । यहां बहुव्रीहिसमास में **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कथन के कारण पूरणी (पञ्चमी) के परे रहते 'युवति' को पुंवद्भाव न होगा । किञ्च **अप् पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) सूत्र से पूरण्यन्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक ईकार का लोप करने पर 'युवतिपञ्चमाः' होना चाहिये ।

५. **द्वौ** वा त्रयो वा द्वित्राः, तान् = द्वित्रान् । **संख्ययाऽव्ययासन्ना०** (२.२.२५) सूत्रद्वारा किये बहुव्रीहिसमास में **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३) सूत्र से समासान्त डच् (अ) प्रत्यय हो कर टिलोप करने से 'द्वित्र' बनता है अतः यहाँ 'द्वित्रान्' होना चाहिये ।

[१] परिशिष्टे—विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला

[**भैमीव्याख्या-चतुर्थभागस्थ दर्जनों पद्यों में से व्याकरणसम्बन्धी कुछ विशेष स्मरणीय पद्य यहां संकलित किये गये हैं।**]

(१) पदानां लुप्यते यत्र प्रायः स्वाः स्वा विभक्तयः ।
पुनरेकपदीभावः समास उच्यते तदा ।। (पृष्ठ २)

(२) द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरपि च गृहे च मे सततमव्ययीभावः ।
तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ।। (पृष्ठ ५)

(३) द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च ।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः ।। (पृष्ठ १८५)

(४) विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु ।
समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च ।। (पृष्ठ ४)

(५) अव्ययीभाव इत्यत्र भवतेः कर्तरीह णः ।। (पृष्ठ १७)

(६) सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।
वाक्यवत्सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ।। (पृष्ठ ७)

(७) लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि ।
समो वा हिततयोर्मांसस्य पचि युड्घञोः ।। (पृष्ठ १४)

(८) अदन्तादव्ययीभावात् सुपो लुक् प्रतिषिध्यते ।
पञ्चमीवर्जितानां तु सुपामम्भाव इष्यते ।।

(९) बहुलं स्यादमो भावस्तृतीयासप्तमीगतः ।
पञ्चमी श्रूयते नित्यम् उपकृष्णान्निदर्शनम् ।। (पृष्ठ २८)

---

१. पूर्वाचार्यों का यह श्लोक काशिका (६.१.१४४) से उद्धृत किया गया है। इस में समास या संहिता की विवक्षा में चार नियमों का प्रतिपादन किया गया है। (१) कृत्यप्रत्ययान्त के परे रहते 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है। यथा—अवश्यकर्त्तव्यम्, अवश्यकरणीयम्। (२) 'काम' और 'मनस्' शब्दों के परे रहते 'तुम्' प्रत्यय के मकार का लोप हो जाता है। यथा—कर्तुं कामोऽस्येति कर्तुकामः, कर्तुं मनोऽस्येति कर्तुमनाः। (३) हितशब्द या ततशब्द के परे होने पर 'सम्' के मकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यथा—सम्+हितम्=सहितं संहितं वा। सम्+ततम्=सततं सन्ततं वा। (४) ल्युडन्त या घञन्त पच्धातु के परे रहते 'मांस' शब्द के अन्त्य अकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यथा—मांसस्य पचनम्—मांस्पचनम् मांसपचनं वा। मांसस्य पाकः—मांस्पाको मांस-पाको वा।

(१०) अनदन्ते समासेऽस्मिन् नित्यं सुब्लुप्यते ततः ।
कार्यो ह्रस्वोऽन्त्यदीर्घस्य क्लीबत्वात्सुविचक्षणैः ।। (पृष्ठ २८)

(११) स्यात्तस्य पुरुषस्तत्पुरुषः षष्ठीसमासतः ।
तेन तज्जातिजाः सर्वे कृद्वत् तत्पुरुषाः स्मृताः ।। (पृष्ठ ६०)

(१२) कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरच् प्रत्ययः स्मृतः ।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ।। (पृष्ठ ४८)

(१३) इहानुक्तं समासार्थं द्वितीयेत्यादि खण्ड्यताम् ।
कृता बहुलमित्येतद् बाहुल्यं वा विजृम्भताम् ।।

(१४) सुप्सुपेति समासो वा बोध्यः शिष्टप्रयुक्तिषु ।
शब्दाः शिष्टैः प्रयुक्तास्तु सर्वथा साधवो मताः ।। (पृष्ठ ६७)

(१५) भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम् ।
प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम् ।। (पृष्ठ ११२)

(१६) क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ।। (पृष्ठ ११२)

(१७) तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ।। (पृष्ठ १२६)

(१८) बहवो व्रीहयोऽस्येति यत्र स्यात् स तथोच्यते ।। (पृष्ठ १८५)

(१९) यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते ।
क्लीबवृत्तौ तदेव स्याद् भाषितपुंस्कं तदुच्यते ।। (पृष्ठ १९८)

उरःप्रभृतिगण यथा --

(२०) उरः सर्पिर्मधूपानद् दधि शालिः पयः पुमान् ।
अनड्वान्नौस्तथा लक्ष्मीर्नञ्पूर्वान्नित्यमर्थतः ।। (पृष्ठ २१८)

प्रियादिगण यथा—

(२१) प्रिया-कान्ता-मनोज्ञा-स्वा-कल्याणी-भक्ति-दुर्भगाः ।
सचिवा-वामना-क्षान्ता-चपला-निचिता-समाः ।।
सुभगा दुहिता बाल्या वामाऽथ तनया तथा ।। (पृष्ठ २०३)

(२२) विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्या संख्येय-संख्ययोः ।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियाः ।। (पृष्ठ २०४)

(२३) परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ।। (पृष्ठ २२२)

——: × :——

[२] परिशिष्टे—समासप्रकरणान्तर्गताऽष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में इस ग्रन्थ में प्रयुक्त अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादिवर्णानुक्रम से तालिका दी गई है। मूलोक्त सूत्र स्थूलाक्षरों में तथा व्याख्योक्त पतले अक्षरों में मुद्रित किये गये है। सूत्रों के आगे पृष्ठसंख्या जाननी चाहिये।]

[अ]

अक्ष्णोऽदर्शनात् २४६
अजाद्यदन्तम् २३६
अधिकरणवाचिना च ८५
अनश्च ५२
अनेकमन्यपदार्थे १८४
अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः २१०
अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् ४६
अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ४६
अपेतापोढमुक्तपतिता० ८०
अप्पूरणीप्रमाण्योः २००
अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे २०५
अर्धर्चाः पुंसि च १७६
अर्धं नपुंसकम् ८८
अल्पाच्तरम् २३७
अव्ययं विभक्ति-समीप० १८
अव्ययीभावश्च २३
अव्ययीभावः १७
अव्ययीभावे चाऽकाले ३६
अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ४८
अहःसर्वैकदेशसंख्यात० १५६

[आ]

आङ् मर्यादाभिविध्योः ४५
आनङ् ऋतो द्वन्द्वे २३९
आन्महतः समानाधिकरण० १६३

[इ]

इणः षः २२१

[ई]

ईषदर्थे १२८

[उ]

उद्विभ्यां काकुदस्य २१४
उपपदमतिङ् १४७
उपमानानि सामान्यवचनैः ११७
उपसर्गादध्वनः २५०
उपसर्जनं पूर्वम् २१
उरःप्रभृतिभ्यः कप् २१७

[ऊ]

ऊर्यादिच्विडाचश्च १२९

[ऋ]

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे २४५

[ए]

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १३६

[क]

कर्तृकरणे कृता बहुलम् ६६
कर्मणि च ८५
कवञ्चोष्णे १२८
कस्कादिषु च २२३
कु-गति-प्रादयः १२७
कृत्यैर्ऋणे ९३
कोः कत्तत्पुरुषेऽचि १२८
क्तेन च पूजायाम् ८५
क्तेनाहोरात्रावयवाः ९३
क्षेपे ९३

[ग]

गिरेश्च सेनकस्य ५६
गोरतद्धितलुकि १०७
गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १३७

[च]

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहित० ७१
चार्थे द्वन्द्वः २३०

[ज]

जायाया निङ् १९९

[क्ष]

क्षयः ५५

[त]

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्या० १५३
तत्पुरुषः ५९
तत्पुरुषः समानाधिकरणः० १०८
तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् १४४
तद्धिताः ४७
तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च १०२
तद्धितेष्वचामादेः १०४
तस्मान्नुँडचि १२३
तृजकाभ्यां कर्त्तरि ८३
तृतीया तत्कृतार्थेन० ६४
तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २५
तेन सहेति तुल्ययोगे २०३
त्रेस्त्रयः १६७

[द]

दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः १०३
दिक्संख्ये संज्ञायाम् ९९
दिङ्नामान्यन्तराले २०५
द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य० २४०
द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्० २४२
द्वन्द्वे घि २३५
द्विगुरेकवचनम् १०९
द्विगुश्च ६०
द्वितीया श्रितातीत० ६१
द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः २०९
द्व्यष्टनः संख्यायामबहु० १६५

[ध]

धनुषश्च १९४
ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ९२

[न]

नञ् १२१
नदीभिश्च ४२
नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५६
न निर्धारणे ८३
नपुंसकादन्यतरस्याम् ५३
न पूजनात् २५१
न लोपो नञः १२२
नस्तद्धिते ५२
नाव्ययीभावादतोऽम्० २४
निष्ठा २२५

[प]

पञ्चमी भयेन ७६
पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ७८
परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः १६९
परस्य च ६६
पात्रेसमितादयश्च ९४
पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः २१८
पारे मध्ये षष्ठ्या वा ४४
पितरामातरा च च्छन्दसि २४०
पिता मात्रा २३९
पुमान् स्त्रिया २४०
पुंवत्कर्मधारयजातीय० १०८
पूरणगुणसुहितार्थसदव्यय० ८४
पूर्णाद्विभाषा २१५
पूर्वसदृशसमोनार्थ० ७०
पूर्वापराधरोत्तरमेक० ८६
प्रकारवचने जातीयर् १६४
प्रथमानिर्दिष्टं समास० २०
प्राक्कडारात्समासः ७
प्राप्तापन्ने च द्वितीयया १७२

[ब]

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० २०६
बहुव्रीहौ संख्येये डजबहु० २०४

[भ]

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् २४०

[म]

मातरपितरावुदीचाम् २४०

[य]

यथाऽसादृश्ये ३६
याजकादिभिश्च ८४
यावदवधारणे ४६

[र]

रथवदयोश्च १२८
राजदन्तादिषु परम् २३३
राजाहःसखिभ्यष्टच् १६२
रात्राह्नाहाः पुंसि १५७

[ल]

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ४७

[व]

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ० १६६
विभाषा पुरुषे १२८
विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ११२
वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ६६

[श]

शेषाद्विभाषा २२६
शेषो बहुव्रीहिः १८३
श्वशुरः श्वश्र्वा २४०

[ष]

षष्ठी ८१

[स]

स नपुंसकम् ११०
सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ १८६
सप्तमी शौण्डैः ९०
समर्थः पदविधिः ५
समासान्ताः ४८
सह सुंपा ६
संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्ना० २०४
संख्यापूर्वो द्विगुः १०९
संख्या-सु-पूर्वस्य २१३
संज्ञायाम् १८९
सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च ९२
सुंप्प्रतिना मात्रार्थे ८५
सुहृद्-दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः २१६
सोऽपदादौ २२०
स्तोकान्तिक-दूरार्थ० ७८
स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्काद० १९७

[ह]

हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् १८८

——:o:——

[३] परिशिष्टे—समासप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में वार्त्तिकों, इष्टियों, परिभाषाओं, गणसूत्रों, लिङ्गानुशासनीय-वचनों एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यादिवचनों की अकारादिक्रम से सूची दी जा रही है। इन के आगे **पृष्ठसंख्या दी गई है।]**

[अ]

अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः० (वा०) १११
अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे० (वा०) १३५
अभ्यर्हितञ्च (वा०) २३८
अर्थान्नञः (गण०) २१९
अर्थेन नित्यसमासो० (वा०) ७३
अवरस्योपसंख्यानम् (वा०) ७१
अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे० (वा०) १३९

अविहितलक्षण उपचार:० (का०) २२४

[इ]

इवेन समासो विभक्त्य० (वा०) १४

[उ]

उक्तार्थानामप्रयोग: (न्याय०) २२

[ऋ]

ऋतुनक्षत्राणां समा० (वा०) २३८

[ए]

एकदेशविकृतमनन्यवत् (न्याय०) २१

एकविभक्तावषष्ठ्यन्त० (वा०) ८६

[क]

कृद्ग्रहणे गतिकारक० (प०) ७०

क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं० (का०) १८०

क्वचित्प्रवृत्ति: क्वचिद० (कारि०) ११२

[ग]

गतिकारकोपपदानां० (प०) १५०

गम्यादीनामुपसंख्यानम् (वा०) ६३

[छ]

छन्दसि च सर्वे विधयो० १६७

छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति १६७

[ज]

जराया जरस् च (गण०) ५०

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र (प०) १८८

[त]

तदर्थेन प्रकृतिविकृति० (इष्टि०) ७२

त्री च (वा०) १२८

[द]

द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे० (वा०) १०६

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं० (न्याय) १८

द्विगुप्राप्तालम्पूर्व० (वा०) १७०

[ध]

धर्मादिष्वनियम: (गण०) २३४

[न]

नञाऽस्त्यर्थानां वाच्यो० (वा०) १६५

निरादय: क्रान्ताद्यर्थे० (वा०) १४१

[प]

पत्र-पात्र-पवित्र-सूत्र० (लिङ्गा०) १७८

परार्थाभिधानं वृत्ति: (महा०) १०

परिभाषा पुनरेकदेशस्था० (महा०) ६

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे० (वा०) १४०

पात्राद्यन्तस्य न (वा०) १११

पुंसानुजो जनुषान्ध० (वा०) ६५

पूजायां स्वतिग्रहणम् (वा०) २५१

प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण: (गण०) ५१

प्रहरणार्थेभ्य: परे निष्ठा० (वा०) १८६

प्राक्शतादिति वक्तव्यम् (वा०) १६६

प्रादयो गताद्यर्थे० (वा०) १३३

प्रादिभ्यो धातुजस्य० (वा०) १६३

प्रायेणाविग्रहोऽस्वपद० (का०) १६

[भ]

भयभीतभीति० (वा०) ७७

भृत्रामित्रच्छात्रपुत्र० (लिङ्गा०) २१६

भ्रातुर्ज्यायस: (वा०) २३८

[य]

य: शिष्यते स लुप्यमान० (न्याय०) २३६

योगविभागादिष्टसिद्धि: (प०) १३, ६५

[ल]

लघ्वक्षरं पूर्वम् (वा०) २३८

लिङ्गमशिष्यं लोका० (महा०) २४७

लुम्पेदवश्यम: कृत्ये (वा०) १४

[व]

वर्णानामानुपूर्व्येण (वा०) २३८

[श]

शक्यं चानेन श्वमांसा० (महा०) २०३

शतसहस्रौ परेणेति० (वा०) ८१

शाकपार्थिवादीनां० (वा०) ११६

शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी (का०) ६५

[स]

सङ्ख्यापूर्वं रात्रे: क्लीबम् (लिङ्गा०) १६१

सङ्ख्यापूर्वा रात्रिः (लिङ्गा०) १६१
सङ्ख्याया अल्पीयस्याः० (वा०) २३८
सप्तम्युपमानपूर्वपदस्यो० (वा०) २०५
समासस्य प्रयोजनमैकपद्यम्०(का०) २
समासप्रत्ययविधौ० (वा०) ६६
समाहारे चाऽयमिष्यते (इष्टि०) ४२
समुदाये दृष्टाः शब्दाः० (न्याय०) ६०
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे० (वा०) १०३
सविशेषणानां वृत्तिर्न० (महा०) ७
सामान्ये नपुंसकम् (वा०) १७८
स्वतिभ्यामेव (इष्टि०)[1] २५१

——:×:——

[४] परिशिष्टे—समासोदाहरणतालिका

[भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग के अन्तर्गत उदाहरणरूप से उद्धृत प्रायः समस्त समासरूपों की अकारादिवर्णानुक्रमणी यहां प्रस्तुत की जा रही है। इन रूपों के आगे कोष्ठकों में समास का संक्षिप्त नाम तथा उस के आगे उन की पृष्ठसंख्या दी गई है। समासनामों के संकेत इस प्रकार समझने चाहियें—

द्वि. त.=द्वितीयातत्पुरुषसमास। तृ. त.=तृतीयातत्पुरुषसमास। च. त.=चतुर्थीतत्पुरुषसमास। प. त.=पञ्चमीतत्पुरुषसमास। ष. त.=षष्ठीतत्पुरुषसमास। स. त.=सप्तमीतत्पुरुषसमास। नञ्त.=नञ्तत्पुरुषसमास। त०=तत्पुरुषसमास। प्रादि०=प्रादितत्पुरुषसमास। द्विगु=द्विगुसमास। उपपद०=उपपदतत्पुरुषसमास। उप. त.=उपमानपूर्वतत्पुरुषसमास। शाक. त.=शाकपार्थिवादितत्पुरुषसमास। एकदेशि०=एकदेशिसमास। कर्म०=कर्मधारयसमास। एकशेष०=एकशेषवृत्ति। गति. स.=गतिसमास। अव्ययी०=अव्ययीभावसमास। बहु०=बहुव्रीहिसमास। द्वन्द्व=द्वन्द्वसमास। सुप्सुपा=सुप्सुपासमास (केवलसमास)।

[अ]

अकरुणः (बहु०) १६६
अकर्मकः (बहु०) १६६
अकायम् (बहु०) १६६
अकृपा (नञ्त.) १२३
अकृशलक्ष्मीः (बहु०) २२०
अक्रोधः (बहु०) १६६
अक्षकितवः (स. त.) ६१
अक्षधूः (ष. त.) २४८
अक्षशौण्डः (स. त.) ६१
अखिलभूषणानि (कर्म०) ११४
अग्न्यर्था (च. त.) ७४
अग्रजन्मा (बहु०) १८७
अजपादः (बहु०) २१३
अज्ञः (नञ्त.) १२२
अतस्मै (नञ्त.) १२६
अतिकम्बलम् (अव्ययी०) ३२
अतिकशः (प्रादि०) १३८
अतिकोकिलः (प्रादि०) १३८
अतिगवः (प्रादि०) २५२

---

१. संकेताः—वा०=वार्त्तिक; महा०=महाभाष्य; का०=काशिका; गण०=गणसूत्र; लिङ्गा०=लिङ्गानुशासनसूत्र; प०=परिभाषा; न्याय०=न्यायमूलकपरिभाषा; इष्टि०=इष्टिवार्त्तिक; कारि०=कारिका।

अतिगौः (प्रादि०) २५२
अतिनिद्रम् (अव्ययी०) ३१
अतिमानुषम् (प्रादि०) १३८
अतिमायः (प्रादि०) १३८
अतिमालः (प्रादि०) १३५
अतिराजा (प्रादि०) २५१
अतिरात्रः (प्रादि०) १६१
अतिलक्ष्मीः (प्रादि०) १३९
अतिशीतम् (अव्ययी०) ३१
अतिश्रीः (प्रादि०) १३९
अतिसर्वः (प्रादि०) १३९
अतिहिमम् (अव्ययी०) ३०
अत्यङ्कुशः (प्रादि०) १३८
अत्यङ्गुलम् (प्रादि०) १५५
अत्यर्थम् (प्रादि०) १३९
अदूरदशाः (बहु०) २०४
अदृष्टपूर्वः (सुप्सुपा) १३
अधमर्णः (सुप्सुपा) १३
अधर्मजुगुप्सुः (प. त.) ७७, ९६
अधर्मः (नञ्त.) १२३
अधिककुप् (अव्ययी०) ५६
अधिककुभम् (अव्ययी०) ५६
अधिकदशाः (बहु०) २०४
अधिकन्यम् (अव्ययी०) २५
अधिकविंशाः (बहु०) २०४
अधिखट्वम् (अव्ययी०) २५
अधिगोपम् (अव्ययी०) २३
अधिजरसम् (अव्ययी०) ५१
अधिज्यधन्वा (बहु०) १९४, २५६
अधिज्यम् (बहु०) १९४
अधिदन्तः (प्रादि०) १३५
अधिनदि (अव्ययी०) २५
अधिमालम् (अव्ययी०) २५
अधिमूर्धम् (अव्ययी०) ५३
अधिमूर्धा (प्रादि०) १३८
अधिराजम् (अव्ययी०) ५३
अधिसाम (अव्ययी०) ५५
अधिसामम् (अव्ययी०) ५५
अधिस्त्रि (अव्ययी०) ९२
अधिस्रक् (अव्ययी०) ५६
अधिस्रजम् (अव्ययी०) ५६
अधिहरि (अव्ययी०) २१
अधिहिमवतम् (अव्ययी०) ५१
अध्यध्वम् (अव्ययी०) ५३
अध्यवसायभीरुः (प. त.) ७७, ९६
अध्यात्मम् (अव्ययी०) ५३
अध्युपानहम् (अव्ययी०) ५१
अनद्यतनम् (नञ्त.) १२४
अनन्तः (बहु०) १९६
अनर्थकम् (बहु०) २१९
अनश्वः (नञ्त.) १२३
अनश्वः (बहु०) १९६
अनागत्य (नञ्त.) १२४
अनातपः (बहु०) १९६
अनात्मा (नञ्त.) १२४
अनाथः (बहु०) १९६
अनामयः (बहु०) १९६
अनार्यः (नञ्त.) १२४
अनाशा (नञ्त.) १२४
अनाहूय (नञ्त.) १२४
अनीश्वरः (नञ्त.) १२४
अनीहा (नञ्त.) १२४
अनुकूलम् (अव्ययी०) ३४
अनुक्त्वा (नञ्त.) १२४
अनुगिरम् (अव्ययी०) २२
अनुगुणम् (अव्ययी०) ३४
अनुज्येष्ठम् (अव्ययी०) ३७
अनुत्साहः (नञ्त.) १२४
अनुदरा (बहु०) १२७

अनुनदि (अव्ययी०) २७
अनुपदम् (अव्ययी०) ३३
अनुपलब्धिः (नञ्त.) १२५
अनुरथम् (अव्ययी०) ३२
अनुरूपम् (अव्ययी) ३३
अनुलोम (अव्ययी०) ५५
अनुलोमम् (अव्ययी०) ५५
अनुवनान्तम् (अव्ययी०) २२
अनुविष्णु (अव्ययी०) ३२
अनुवृद्धम् (अव्ययी०) ३७
अनुस्वारः (प्रादि०) १३९
अनृचः (बहु०) २४६
अनृणी (नञ्त.) १२४
अनेकः (नञ्त.) १२४
अनैक्यम् (नञ्त.) १२४
अनौत्सुक्यम् (नञ्त.) १२४
अन्तर्गिरम् (अव्ययी०) २२, ५६
अन्तर्गिरि (अव्ययी०) ५६
अन्तर्लोमः (बहु०) २११
अन्तर्वणम् (अव्ययी०) ९२
अन्तादी (द्वन्द्व) २३४
अन्तिकादागतः (प. त.) ७९
अन्नबुभुक्षुः (द्वि. त.) ६३
अन्यपुष्टा (तृ. त.) ६८
अन्वक्षम् (अव्ययी०) ५१
अपक्रमम् (प्रादि०) १४२
अपगतमन्युः (बहु०) १९४
अपण्डितः (नञ्त.) १२३
अपत्रिगर्तम् (अव्ययी०) ४६
अपमन्युः (बहु०) १९४
अपरकायः (एकदेशि०) ८७
अपररात्रः (एकदेशि०) १५९
अपररात्रकृतम् (स. त.) ९३
अपराह्णः (एकदेशि०) ८८, १५८
अपराह्णकृतम् (स. त.) ९३
अपशवः (नञ्त.) १२७
अपशाखः (प्रादि०) १४२
अपहस्तः (प्रादि०) १३५
अपापः (नञ्त.) १२३
अपापम् (अव्ययी०) १२७
अपार्थम् (प्रादि०) १४२
अपुत्रः (बहु०) १९६
अब्राह्मणः (नञ्त.) १२२, १२६
अभार्यः (बहु०) १९६
अभिमुखः (प्रादि०) १३८
अभूतपूर्वः (सुप्सुपा) १३
अभ्यग्नि (अव्ययी०) ४७
अभ्ययोध्यम् (अव्ययी०) ४७
अभ्यस्तविविधशास्त्रः (बहु०) १९३
अभ्याशादागतः (प. त.) ७९
अयोध्यानगरी (कर्म०) ११६
अरण्यातीतः (द्वि. त.) ६३
अरण्येतिलकाः (स. त.) १८९
अरण्येमाषकाः (स. त.) १८९
अरोगः (बहु०) १९६
अरोगी (नञ्त.) १२२
अर्केन्दू (द्वन्द्व) २३७
अर्थकामौ (द्वन्द्व) २३४
अर्थगौरवम् (ष. त.) ८४
अर्थधर्मौ (द्वन्द्व) २३४
अर्थशब्दौ (द्वन्द्व) २३४
अर्धकोशातकी (एकदेशि०) ९०
अर्धचतस्रः (तृ. त.) ६६
अर्धर्चः (एकदेशि०) १७६
अर्धर्चम् (एकदेशि०) १७६
अर्धपणः (एकदेशि०) ९०
अर्धपिप्पली (एकदेशि०) ८९
अर्धरात्रः (एकदेशि०) २५४
अर्धरूप्यकम् (एकदेशि०) ९०

अर्धवेदि: (एकदेशि०) ९०
अर्धशरीरम् (एकदेशि०) ९०
अर्धासनम् (एकदेशि०) ९०
अलङ्कुमारिः (त०) १७४
अलंजीविकः (त०) १७५
अल्पवयस्कः (बहु०) २२७
अल्पवयाः (बहु०) २२७
अल्पान्मुक्तः (प. त.) ७६
अलिविधिः (शाक. त.) १२१
अवकोकिलः (प्रादि०) १३९
अवतप्तेनकुलस्थितम् (स. त.) ९३
अवमुक्तोपानत्कः (बहु०) २१९
अवमूर्धा (बहु०) २५५
अवश्यस्तुत्यः (सुप्सुपा) १४
अविघ्नम् (अव्ययी०) १२५
अविद्यमानकरुणः (बहु०) १९६
अविद्यमानकर्मकः (बहु०) १९६
अविद्यमानकायम् (बहु०) १९६
अविद्यमानक्रोधः (बहु०) १९६
अविद्यमाननाथः (बहु०) १९६
अविद्यमानपुत्रः (बहु०) १९६
अविद्यमानभार्यः (बहु०) १९६
अविद्यमानरोगः (बहु०) १९६
अविवादः (नञ्त.) १२५
अविवेकः (नञ्त.) १२३
अश्वक्रीती (उपपद०) १५२
अश्वघासः (ष. त.) ७३, ८३
अश्वपादः (बहु०) २१३
अश्वरथः (शाक. त.) १२०
अश्वरथम् (द्वन्द्व) २३७
अश्वरथेन्द्राः (द्वन्द्व) २३७
अष्टचत्वारिंशत् (द्वन्द्व) १६७
अष्टनवतिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टपञ्चाशत् (द्वन्द्व) १६७
अष्टशतम् (द्वन्द्व) १६७
अष्टषष्टिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टसप्ततिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टाचत्वारिंशत् (द्वन्द्व) १६७
अष्टात्रिंशत् (द्वन्द्व) १६७
अष्टादश (द्वन्द्व) १६६
अष्टाध्यायी (द्विगु) १११
अष्टानवतिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टापञ्चाशत् (द्वन्द्व) १६७
अष्टाविंशतिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टाशीतिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टाषष्टिः (द्वन्द्व) १६७
अष्टासप्ततिः (द्वन्द्व) १६७
असन्देहः (नञ्त.) १२५
असन्देहम् (अव्ययी०) १२५
असर्वः (नञ्त.) १२२
असंशयम् (अव्ययी०) ३०
असः (नञ्त.) १२६
असाधुः (नञ्त.) १२२
असारः (नञ्त.) १२३
असिपाणिः (बहु०) १८९
असुरः (नञ्त.) १२७
अस्तिक्षीरा (बहु०) १९२
अहिहतः (तृ. त.) ६८
अहोरात्रः (द्वन्द्व) १५७
अहोरात्रे (द्वन्द्व) १५९

[आ]

आकुमारम् (अव्ययी०) ४५
आचारश्लक्ष्णः (तृ. त.) ७१
आतपशुष्कः (स. त.) ९२
आतुरार्था (च. त.) ७५
आत्मज्ञानम् (ष. त.) ८२
आत्मनेपदम् (च. त.) ९६
आद्यन्तौ (द्वन्द्व) २३४
आपद्गतः (द्वि. त.) ६३
आपन्नजीविकः (त०) १७३

आपरशाल: (त०) १०५
आपाटलिपुत्रम् (अव्ययी०) ४५
आपातरमणीय: (स. स.) ९७
आबद्धम् (प्रादि०) १३३
आमुक्ति (अव्ययी०) ४५
आम्रवृक्ष: (कर्म०) ११६
आयताक्षी (बहु०) २०८
आरूढबहुवानर: (बहु०) १८६
आरूढसैनिक: (बहु०) १९०
आविर्भूय (गति. स.) १३०
आसन्नदशा: (बहु०) २०४
आसन्नविंशा: (बहु०) २०४
आस्यप्रयत्न: (स. त.) ९७
आस्वाद्यतोया (बहु०) १९२
आहिमवतम् (अव्ययी०) ५१

[इ]

इतिपाणिनि (अव्ययी०) ३२
इतिहरि (अव्ययी०) ३२
इन्दुमौलि: (बहु०) १८७
इन्द्रवायू (द्वन्द्व) २३७
इन्द्राग्नी (द्वन्द्व) २३७
इन्द्रार्थम् (च. त.) ७४
इन्द्राश्वरथा: (द्वन्द्व) २३७

[ई]

ईशकृष्णौ (द्वन्द्व) २३६
ईश्वराधीना (स. त.) ९२

[उ]

उच्छृङ्खल: (प्रादि०) १४२
उत्काकुत् (बहु०) २१४
उत्कुला (प्रादि०) १४२
उत्तमगव: (कर्म०) १०८
उत्तमर्ण: (सुप्सुपा) १३
उत्तमाध्वा (कर्म०) २५१
उत्तमाह: (कर्म०) १६४
उत्तरकाय: (एकदेशि०) ८७
उत्तरपूर्वा (बहु०) २०५
उत्तरमास: (कर्म०) १०१
उत्तररात्र: (एकदेशि०) १५९
उत्तरसूत्रम् (कर्म०) १०१
उत्तराह्ण: (एकदेशि०) १५८
उत्संग्राम: (प्रादि०) १४१
उत्सूत्रम् (प्रादि०) १४२
उदकार्थ: (च. त.) ७५
उद्गतकाकुद: (बहु०) २१५
उद्धृतौदना (बहु०) १९१
उद्रश्मि: (बहु०) १९५
उद्विक्रमादित्यम् (अव्ययी०) ३२
उद्विग्नमना: (बहु०) १९२
उद्वेल: (प्रादि०) १३८, १४२
उन्मत्तगङ्गम् (अव्ययी०) ४६
उपकनिष्ठिका (प्रादि०) १३९
उपकूपम् (अव्ययी०) २७
उपकृष्णम् (अव्ययी०) २६
उपगिरम् (अव्ययी०) ५६
उपगिरि (अव्ययी०) ५६
उपचर्म (अव्ययी०) ५४
उपचर्मम् (अव्ययी०) ५४
उपजरसम् (अव्ययी०) ५१
उपजातकुतूहल: (बहु०) १९३
उपतक्षम् (अव्ययी०) ५३
उपदशा: (बहु०) २०४
उपदृषत् (अव्ययी०) ५५
उपदृषदम् (अव्ययी०) ५५
उपदृशम् (अव्ययी०) ५१
उपधाम (अव्ययी०) ५५
उपधामम् (अव्ययी०) ५५
उपनीतभोजन: (बहु०) १९१
उपपति: (प्रादि०) १३४, १४०
उपपदम् (प्रादि०) १३५
उपपौर्णमासम् (अव्ययी०) ५६

उपपौर्णमासि (अव्ययी०) ५६
उपप्रधानः (प्रादि०) १४०
उपबहवः (बहु०) २०४
उपभस्म (अव्ययी०) ५५
उपभस्मम् (अव्ययी०) ५५
उपभैमि (अव्ययी०) २७
उपराजम् (अव्ययी०) ५२
उपविपाशम् (अव्ययी०) ५०
उपविंशाः (बहु०) ०४
उपशरदम् (अव्ययी०) ४६
उपसमित् (अव्ययी०) ५५
उपसमिधम् (अव्ययी०) ५५
उपस्रुक् (अव्ययी०) ५६
उपस्रुचम् (अव्ययी०) ५६
उपहिमवतम् (अव्ययी०) ५१
उपहृतपशुः (बहु०) १६०
उपाग्नि (अव्ययी०) २७
उपाग्रहायणम् (अव्ययी०) ५६
उपाग्रहायणि (अव्ययी०) ५६
उपात्मम् (अव्ययी०) ५३
उपेन्द्रः (प्रादि०) १३८
उररीकृत्य (गति. स.) १३०
उरसिलोमा (बहु०) १८७, २०५
उरःकम्पः (ष. त.) ८२
उष्ट्रखरम् (द्वन्द्व) २३७
उष्ट्रशशकम् (द्वन्द्व) २३७
उष्णभोजी (उपपद०) १४६

[ऊ]

ऊढरथः (बहु०) १६०
ऊरीकृत्य (गति. स.) १३०

[ए]

एकद्वाः (बहु०) २०५
एकपात् (बहु०) २५४
एकादश (द्वन्द्व) (शाक. त.) १२१
एतभार्यः (बहु०) १६६

[ओ]

ओष्णम् (प्रादि०) १३३

[क]

कच्छपी (उपपद०) १५२
कटप्रूः (उपपद०) १४८
कण्ठेकालः (बहु०) १८८, २०५
कत्त्रयः (त०) १२८
कदन्नम् (त०) १२८
कदश्वः (त०) १२८
कदुष्णम् (त०) १२८
कद्रथः (त०) १२८
कपोतपादः (बहु०) २१३
कमलाक्षी (बहु०) २०८
कर्णेटिट्टिभः (स. त.) ६४
कर्तुकामः (बहु०) २५७
कर्तुमनाः (बहु०) २५७
कर्पूरगौरः (उप. त.) ११८
कल्पनापोढः (प. त.) ८१
कल्याणीतनयः (बहु०) २०२
कल्याणीदशमाः (बहु०) २०१
कल्याणीपञ्चमाः (बहु०) २०१
कल्याणीप्रियः (बहु०) २०२
कवोष्णम् (त०) १२८
काकबलिः (च त.) ७५
कापुरुषः (त०) १२८
कामधुरम् (त०) १२८
कामान्धः (तृ० त०) ६६
कामार्थौ (द्वन्द्व) २३४
काम्लम् (त०) १२८
काराबन्धः (स. त०) ६२
कालवणम् (त०) १२८
काव्यनिपुणः (स. त.) ६१
काशीनगरी (कर्म०) ११६
किरिकाणः (तृ० त.) ६१
कुक्कुटमयूर्यौ (द्वन्द्व) १६६

कुङ्कुमशोणः (तृ. त.) ६५
कुण्डलहिरण्यम् (च. त.) ७२
कुदृष्टम् (त.) १२८
कुदृष्टिः (त.) १२८
कुन्देन्दुतुषारहारधवला (उप. त.) ११६
कुपरिज्ञातम् (त.) १२८
कुपरीक्षकाः (त.) १२८
कुपरीक्षितम् (त.) १२८
कुपुत्रः (त.) १२८
कुपुरुषः (त.) १२७
कुब्जखञ्जः (कर्म०) ११६
कुमाता (त.) १२८
कुमुदश्येनी (उप. त.) ११६
कुम्भकारः (उपपद०) १४८
कुराजः (त.) २५३
कुरुचरः (उपपद०) १४८
कुशकाशम् (द्वन्द्व) २३८
कुश्रुतम् (त.) १२८
कुसुमसुरभिः (तृ. त.) ६५
कुसूलपादः (बहु०) २१२
कूपपतितः (द्वि. त.) ६३
कूपमण्डूकः (स. त.) ६४
कृच्छ्रगतः (द्वि. त.) ६३
कृच्छ्रादागतः (प. त.) ८०
कृच्छ्राल्लब्धः (प. त.) ८०
कृतकार्यः (बहु०) २२५
कृतकृत्यः (बहु०) २२५
कृत्तिकारोहिण्यौ (द्वन्द्व) २३८
कृशधनः (बहु०) १६२
कृष्णगङ्गम् (अव्ययी०) ४६
कृष्णचतुर्दशी (कर्म०) ११४
कृष्णश्रितः (द्वि. त.) ६२
कृष्णसखः (ष. त.) १६५
कृष्णसर्पः (कर्म०) ११५
कृष्णीकृत्य (गति. स.) १३१
कृष्णीभूय (गति. स.) १३१
कैलासाद्रिः (कर्म०) ११६
कोष्णम् (त०) १२८
क्रोडासरः (ष. त.) ७३
क्षारशुक्लः (तृ० त.) ६५
क्षीणबलः (बहु०) १८६
क्षीणवित्तम् (बहु०) १८६
क्षीणवित्तः (बहु०) १८६
क्षीणवित्ता (बहु०) १८६
क्षुद्रजन्तवः (कर्म०) ११५

[ख]

खञ्जकुब्जः (कर्म०) ११६
खञ्जपाचकः (कर्म०) ११६
खटखटाकृत्य (गति. स.) १३२

[ग]

गङ्गाजलम् (ष. त.) ८३
गङ्गापारम् (ष. त.) ४५
गङ्गामध्यम् (ष. त.) ४५
गजस्थूलः (उप. त.) ११६
गणिकापादः (बहु०) २१३
गण्डपादः (बहु०) २१३
गलेचोपकः (स. त.) ६६
गवाक्षः (ष. त.) २४६
गुडधानाः (शाक. त.) १२०
गुडमिश्राः (तृ. त.) ७०
गुणवृद्धी (द्वन्द्व) २३४
गुरुशुश्रूषुः (द्वि. त.) ६३, ६५
गुरुसमः (तृ. त.) ७०
गुहासंवीतः (स. त.) ६१
गृहस्वामी (ष. त.) ८३
गृहान्तः (स. त.) ६१
गृहीतमधुकाः (बहु०) २५४
गेहेक्ष्वेडी (स. त.) ६४
गेहेनर्दी (स. त.) ६४
गेहेमेही (स. त.) ६४

गेहेशूरः (स. त.) ९४
गोग्रासः (च. त.) ७३
गोदः (उपपद०) १४८
गोरक्षितम् (च. त.) ७६
गोष्ठेपण्डितः (स. त.) ९४
गोसुखम् (च. त.) ७६
गोहितम् (च. त.) ७५
गौरसक्थः (बहु०) २०७
गौरसक्थी (बहु०) २०७
ग्रामगतः (द्वि. त.) ६३
ग्रामगमी (द्वि. त.) ६३
ग्रामगामी (द्वि. त.) ६३
ग्रामनिर्गतः (प. त.) ७७, ९६
ग्रामार्धः (ष. त.) ९०

[घ]

घटमृत्तिका (च. त.) ७२
घटोत्पादकः (ष. त.) ८४
घनश्यामः (उप. त.) ११८
घृतघटः (शाक. त.) १२०

[च]

चक्रपाणिः (बहु०) १८९
चक्रबन्धः (स. त.) ९२
चक्रमुक्तः (प. त.) ८१
चतुरङ्गुलम् (द्विगु) १५५
चतुराननः (बहु०) १९२
चतुर्मुखः (बहु०) १८५
चतुर्युगम् (द्विगु) १११
चतुष्पात् (बहु०) २१४
चतूरात्रम् (द्विगु) १६१
चन्द्रकान्तिः (बहु०) २०६
चन्द्रमौलिः (बहु०) १८७
चित्रगुः (बहु०) १९३, १९८
चेतःप्रसादः (ष. त.) ८२
चेतोवृत्तिः (ष. त.) ८२
चौरभयम् (प. त.) ७७
च्युतफलः (बहु०) १९१

[छ]

छत्त्रोपानहम् (द्वन्द्व) २४३
छायातरुः (शाक. त.) १२०
छायाद्वितीयः (तृ. त.) ९५
छिन्नकर्णः (बहु०) १९३
छिन्नमूलः (बहु०) १८६

[ज]

जठरनैयायिकः (कर्म०) ११५
जनुषान्धः (तृ. त.) ९५
जम्पती (द्वन्द्व) २३५
जम्बूपादपः (कर्म०) ११६
जलजाक्षी (बहु०) २०८
जलपथः (ष. त.) २४९
जायापती (द्वन्द्व) २३५
जालपादः (बहु०) २१३
जीमूतस्येव (सुप्सुपा) १५
जीविकापन्नः (द्वि. त.) १७३
जीविकाप्राप्तः (द्वि. त.) १७३

[त]

तडित्पिशङ्गी (कर्म०) ११९
तत्पुरुषः (ष.त.) ८३
तत्त्वबुभुत्सुः (द्वि. त.) ६३
तपोऽन्तः (ष. त.) ८३
तपोवनम् (ष. त.) ७३, ८२
तरङ्गापत्रस्तः (प. त.) ८१
तर्ककुशलः (स. त.) ९१
तिलोदकम् (शाक. त.) १२०
तीर्थकाकः (स. त.) ९३
तीर्थध्वाङ्क्षः (स. त.) ९३
तीर्थवायसः (स. त.) ९३
तुल्यवयस्कः (बहु०) २२७
तुल्यवयाः (बहु०) २२७
तूष्णींगङ्गम् (अव्ययी०) ४६

त्रयस्त्रिंशत् (द्वन्द्व) १६८
त्रयश्चत्वारिंशत् (द्वन्द्व) १६८
त्रयःपञ्चाशत् (द्वन्द्व) १६८
त्रयःषष्टिः (द्वन्द्व) १६८
त्रयःसप्ततिः (द्वन्द्व) १६८
त्रयोदश (द्वन्द्व) १६८
त्रयोनवतिः (द्वन्द्व) १६८
त्रयोविंशतिः (द्वन्द्व) १६८
त्रिकटु (द्विगु) १११
त्रिचतुराः (बहु०) २०५
त्रिचत्वारिंशत् (द्वन्द्व) १६८
त्रिनवतिः (द्वन्द्व) १६८
त्रिपञ्चाशत् (द्वन्द्व) १६८
त्रिपदी (बहु०) २१४
त्रिपात् (बहु०) २१४
त्रिपुष्कराणि (त०) १०१
त्रिभागः (त०) ११६
त्रिभुवनम् (द्विगु) १११
त्रिभुवनविधाता (ष. त.) ८४
त्रिमूर्धः (बहु०) २१०
त्रिमूर्धा (बहु०) २१०
त्रिरात्रम् (द्विगु) १६१
त्रिलोकः (शाक. त.) १२१
त्रिलोकनाथः (ष. त.) १०१, १२१
त्रिलोकी (द्विगु) १११
त्रिशतम् (द्वन्द्व) १६८
त्रिषष्टिः (द्वन्द्व) १६८
त्रिसर्गः (शाक. त.) १२१
त्रिसप्ततिः (द्वन्द्व) १६८
त्र्यङ्गुलम् (द्विगु) १५५
त्र्यशीतिः (द्वन्द्व) १६८
त्र्यहः (द्विगु) १५८
त्र्यूषणम् (द्विगु) १११
त्वक्स्रजम् (द्वन्द्व) २४३
त्वचिसारः (बहु०) १८६
त्वदर्थम् (च. त.) ७४

[द]

दक्षिणपूर्वा (बहु०) २०५
दण्डपाणिः (बहु०) १८६
दण्डमाणवः (शाक. त.) १२१
दण्डमाथः (शाक. त.) १२१
दत्तबलिः (बहु०) १६१
दध्योदनः (शाक. त.) १२०
दमदमाकृत्य (गति. स.) १३२
दम्पती (द्वन्द्व) २३५
दर्शनीयभार्यः (बहु०) १६६
दर्षनीयाकान्तः (बहु०) २०२
दर्शनीयासचिवः (बहु०) २०३
दशगवधनः (बहु०) १०८
दशगुः (द्विगु) १०८
दशमूर्धा (बहु०) २१०
दस्युभयम् (प. त.) ७७
दाक्षिणशालः (त०) १०५, ११०
दात्रलूनः (तृ. त.) ६८
दासीपादः (बहु०) २१३
दीर्घजङ्घः (बहु०) १६६
दीर्घजानुः (बहु०) २०६
दीर्घसक्थः (बहु०) २०७
दीर्घसक्थि (बहु०) २०८
दीर्घसक्थी (बहु०) २०७
दुग्धधवलम् (उप. त.) ११८
दुरध्वः (प्रादि०) २५०
दुर्जनः (प्रादि०) १३३
दुर्दिनम् (प्रादि०) १३३
दुर्यवनम् (अव्ययी०) २६
दुर्हृत् (बहु०) २१७
दुर्हृदयः (बहु०) २१७
दुष्कृतम् (प्रादि०) १३३
दुष्पुरुषः (प्रादि०) १३३
दुःखापन्नः (द्वि. त.) ६३

दुःशकम् (अव्ययी०) २६
दूरादागतः (प. त.) ८०
दृक्पथः (ष. त.) २४६
दृढधूः (बहु०) २४८
दृढभक्तिः (बहु०) २०३
दृढाभक्तिः (बहु०) २०३
दृषत्समित् (द्वन्द्व) २४४
दृष्टमथुरः (बहु०) १६०
दृष्टसकलकुलविनाश (बहु०) १६३
देवत्रातः (तृ. त.) ६८
देवपूजकः (ष. त.) ८४, १२०
दैवरक्षितः (तृ. त.) ६८
द्वाचत्वारिंशत् (द्वन्द्व) १६६
द्वात्रिंशत् (द्वन्द्व) १६६
द्वादश (द्वन्द्व) १६५
द्वानवतिः (द्वन्द्व) १६६
द्वापञ्चाशत् (द्वन्द्व) १६६
द्वारकाष्ठम् (च. त.) ७२
द्वाविंशतिः (द्वन्द्व) १६६
द्वाषष्टिः (द्वन्द्व) १६६
द्वासप्ततिः (द्वन्द्व) १६६
द्विचत्वारिंशत् (द्वन्द्व) १६६
द्विजार्थम् (च. त.) ७४
द्विजार्थः (च. त.) ७४
द्विजार्था (च. त.) ७४
द्वितीयगामी (द्वि त.) ६३
द्वित्राः (बहु०) २०५, २३८
द्विनवतिः (द्वन्द्व) १६६
द्विपञ्चाशत् (द्वन्द्व) १६६
द्विपदी (बहु०) २१४
द्विपात् (बहु०) २१३
द्विमूर्धः (बहु०) २०६
द्विमूर्धा (बहु०) २१०
द्वियमुनम् (अव्ययी०) ४३
द्विरात्रम् (द्विगु) १६०
द्विशतम् (द्वन्द्व) १६६
द्विषष्टिः (द्वन्द्व) १६६
द्विसप्ततिः (द्वन्द्व) १६६
द्विसहस्रम् (द्वन्द्व) १६६
द्व्यशीतिः (द्वन्द्व) १६६
द्व्यङ्गुलम् (द्विगु) १५४
द्व्यहः (द्विगु) १५८

[ध]

धर्मनियमः (च. त.) ६६
धर्मार्थौ (द्वन्द्व) २३४
धवखदिरौ (द्वन्द्व) २३२, २३७
धान्यार्थः (तृ. त.) ६६
धृतवीणः (बहु०) १६३

[न]

नखनिर्भिन्नः (तृ०त०) ७०
नखभिन्नः (तृ. त.) ६८
नगरकाकः (स. त.) ६४
नगरार्धः (ष. त.) ६०
नगेन्द्रसक्ता (स. त.) ६६
नचिरम् (सुप्सुपा) १२
नचिरात् (सुप्सुपा) १२५
नचिरेण (सुप्सुपा) १२५
नन्दीपुरम् (ष. त.) २४७
नभिन्नवृत्तयः (सुप्सुपा) १२६
नवग्रहाः (त०) १०१
नवनीतकोमला (उप. त) ११६
नवप्रसूतगव्यः (कर्म०) २५५
नवरन्ध्रः (बहु०) १६२
नवरात्रम् (द्विगु) १६१
नवावतारः (कर्म०) ११४
नसंहताः (सुप्सुपा) १२६
नसुकरम् (सुप्सुपा) १२५
नाट्यशाला (ष. त.) ७३
नान्तरीयम् (सुप्सुपा) १२५
निकंसः (प्रादि०) १४०

निर्मुनिः (प्रादि०) १४०
निरङ्गुलम् (प्रादि०) १५५
निरध्वः (प्रादि०) २५०
निरर्थकम् (बहु०) १९५
निःशीतम् (अव्ययी०) ३१
निःस्पृहः (बहु०) १९५
निर्गतत्रपः (बहु०) १९९
निर्गतस्पृहः (बहु०) १९९
निर्घृणः (बहु०) १९४
निर्जनः (बहु०) १९४
निर्जितकामः (बहु०) १९०
निर्मक्षिकम् (अव्ययी०) ३०
निर्मलगुणाः (कर्म०) ११४
निर्मशकम् (अव्ययी०) ३०
निर्लङ्कः (प्रादि०) १४२
निर्वाराणसिः (प्रादि०) १४१
निर्विघ्नम् (अव्ययी०) ३०
निर्विन्ध्या (प्रादि०) १४२
निर्हिमम् (अव्ययी०) ३१
निष्कौशाम्बिः (प्रादि०) १४१
निष्प्रत्यूहम् (अव्ययी०) ३०
निष्फलम् (बहु०) १९५
निसर्गनिपुणः (सुप्सुपा) १३
निस्त्रपः (बहु०) १९५
निस्त्रिंशः (प्रादि०) १४२
नीरदश्यामः (उप. त.) ११८
नीलोज्ज्वलवपुः (बहु०) १८६
नीलोत्पलम् (कर्म०) ११३
नृपतिः (ष. त.) ८३
नैकः (सुप्सुपा) १३, १२५
नैकधा (सुप्सुपा) १२५
नैकभेदम् (सुप्सुपा) १२५

[प]

पञ्चकपालः (द्विगु) १०६
पञ्चकुमारि (द्विगु) १११
पञ्चकोशाः (त०) १०१
पञ्चगङ्गम् (अव्ययी०) ४३
पञ्चगवधनः (द्विगु + बहु०) १०६
पञ्चगवप्रियः (द्विगु बहु०) १०८
पञ्चगवम् (द्विगु) ११०
पञ्चगुः (द्विगु) १०८
पञ्चधेनु (द्विगु) १११
पञ्चनदम् (अव्ययी०) ४४
पञ्चपात्रम् (द्विगु) १११
पञ्चपूली (द्विगु) १११
पञ्चमहायज्ञाः (त०) १०१
पञ्चषाः (बहु०) २०५
पञ्चाङ्गुलिः (बहु०) १५६
पटपटाकृत्य (गति. स.) १३१
पटुभार्यः (बहु०) १९९
पण्डितम्मन्यः (उप०) १४९
पद्मनाभः (बहु०) १८७
परभृतः (तृ. त.) ६८
परमगवः (कर्म०) १०८
परमराजः (कर्म०) १६२, २५२
परमात्मभक्तिः (ष. त.) ८२
परमाध्वा (कर्म०) २५१
परमाहः (कर्म०) १६४
परलोकहितम् (च. त.) ७५
परशुच्छिन्नः (तृ. त.) ६८
परशुरामः (शाक. त.) १२०
परश्शताः (प. त.) ८१
परस्मैपदम् (च. त.) ६६
परस्सहस्राः (प. त.) ८१
परार्धम् (कर्म०) ११४

परिणामरमणीयः (स. त.) ९७
परिनाभि (अव्ययी०) २२
परिवीरुत् (प्रादि०) १४०
परिहस्तः (प्रादि०) १३८
पर्णशाला (शाक. त.) १२०
पर्यध्ययनः (प्रादि०) १४०
पर्यश्रुणी (बहु०) १९५
पाचकखञ्जः (कर्म०) ११६
पाचकपाठकः (कर्म०) ११६
पाचकब्राह्मणः (कर्म०) ११६
पाञ्चनापितिः (द्विगु) १०६
पाठकपाचकः (कर्म०) ११६
पाणिपादम् (द्वन्द्व) २४१
पात्रेसमितः (स. त.) ९४
पादहारकः (प. त.) ६९
पादोनम् (तृ. त) ७०
पानशौण्डः (स. त.) ९१
पापानु (द्वि. त.) ९५
पारदृश्वा (उप०) १४८
पारेगङ्गम् (अव्ययी०) ४४
पितरामातरा (द्वन्द्व) २४०
पितरौ (एकशेष०) २३९
पितृसदृशः (तृ. त.) ७०
पितृसमः (तृ. त.) ७०
पितृस्थानः (बहु०) २०६
पित्रर्थम् (च. त.) ७५
पीताम्बरः (बहु०) १९१
पीतोदकः (बहु०) १९०
पुण्यतीर्थम् (कर्म०) ११४
पुण्यरात्रः (कर्म०) १६०
पुण्यार्थः (तृ. त.) ६६
पुण्याहः (कर्म०) १६४
पुत्रौ (एकशेष०) २४०
पुरुषोत्तमः (ष. त.) ८३
पुंसानुजः (तृ. त.) ९६

पूतवाचः (बहु०) २५३
पूर्णकाकुत् (बहु०) २१६
पूर्णकाकुदः (बहु०) २१६
पूर्वकायः (एकदेशि०) ८६
पूर्वमासः (कर्म०) १०१
पूर्वरात्रः (एकदेशि०) १५९
पूर्वरात्रकृतम् (स. त.) ९३
पूर्ववैयाकरणाः (कर्म०) ११४
पूर्वसूत्रम् (कर्म०) १०१
पूर्वार्धम् (कर्म०) ११४
पूर्वाह्णः (एकदेशि०) ८७, १५८
पूर्वाह्णकृतम् (स. त.) ९३
पूर्वाह्णेगेयम् (स. त.) ९३
पूर्वेषुकामशमी (त०) १०८
पौर्वशालः (त०) १०३
प्रकृतिवक्रः (सुप्सुपा०) १४
प्रज्ञाहीनः (तृ. त.) ६८
प्रतिकर्म (अव्ययी०) ५५
प्रतिकर्मम् (अव्ययी०) ५५
प्रतिगृहम् (अव्ययी०) ३४
प्रतिजनः (प्रादि०) १३५
प्रतिदिनम् (अव्ययी०) ३४
प्रतिदिशम् (अव्ययी०) ५१
प्रतिपादम् (अव्ययी०) ३४
प्रतिप्रियम् (प्रादि०) १३५
प्रतिमरुतम् (अव्ययी०) ५६
प्रतिमरुत् (अव्ययी०) ५६
प्रतिमासम् (अव्ययी०) ३४
प्रतियुवम् (अव्ययी०) ५३
प्रतिविपाशम् (अव्ययी०) ५०
प्रत्यक्षः (प्रादि०) १३८
प्रत्यक्षम् (अव्ययी०) ५१
प्रत्यग्नि (अव्ययी०) ४७
प्रत्यनडुहम् (अव्ययी०) ५१
प्रत्यर्थम् (अव्ययी०) ३४

प्रत्यहः (अव्ययी०) ५५
प्रत्यहम् (अव्ययी०) ५५
प्रत्येकम् (अव्ययी०) ३४
प्रपतितपर्णः (बहु०) १९४
प्रपतितपलाशः (बहु०) १९४
प्रपर्णः (बहु०) १९४
प्रपलाशः (बहु०) १९४
प्रपितामहः (प्रादि०) १३४
प्रमातामहः (प्रादि०) १३४
प्रयत्नः (प्रादि०) १३५
प्रवीरः (प्रादि०) १३५
प्रवृद्धोदरः (बहु०) १९४
प्रहस्तः (प्रादि०) १३५
प्राग्ग्रामम् (अव्ययी०) ४६
प्राचार्यः (प्रादि०) १३४
प्रादयः (बहु०) १९३
प्राध्वः (प्रादि०) १३८, २५०
प्राप्तजीविकः (त०) १७२
प्राप्तजीविका (त०) १७४
प्राप्तोदकः (बहु०) १८९
प्रावृट्शरदौ (द्वन्द्व) २४४
प्रियदधिकः (बहु०) २१९
प्रियनौकः (बहु०) २१९
प्रियपयस्कः (बहु०) २१९
प्रियमधुकः (बहु०) २१९
प्रियलक्ष्मीः (बहु०) २२०
प्रियलक्ष्मीकः (बहु०) २१९
प्रियसर्पिष्कः (बहु०) २१८
प्रियानडुत्कः (बहु०) २१९
प्रियावामः (बहु०) २०२
प्रोदरः (बहु०) १९४
प्लक्षन्यग्रोधौ (द्वन्द्व) २३२, २३७

[ब]

बलिपुष्टः (तृ. त.) ६८
बहिर्ग्रामम् (अव्ययी०) ४६
बहिर्लोमः (बहु०) २११
बहुधनः (बहु०) १९३
बहुमालकः (बहु०) २२७
बहुमालः (बहु०) २२७
बहुमालाकः (बहु०) २२७
बहुमूर्धा (बहु०) २१०
बहुविद्यः (बहु०) २२७
बहुविद्यकः (बहु०) २२७
बहुविद्याकः (बहु०) २२७
बहुसर्पिष्कः (बहु०) २१९
बहुसस्यम् (बहु०) १९२
बह्वपत्यः (बहु०) १९३
बह्वृक् (बहु०) २४७
बह्वृचः (बहु०) २४६
बुद्धिमान्द्यम् (ष. त.) ८४
ब्रह्मविचारः (ष. त.) ८२
ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः (द्वन्द्व) २३८
ब्राह्मणयाजकः (ष. त.) ८४
ब्राह्मणहितम् (च. त.) ७५
ब्राह्मणाक्षि (ष. त.) २५०

[भ]

भयभीतः (प. त.) ७७
भस्मनिहुतम् (स. त.) ९४
भस्मसितः (तृ. त.) ६५
भार्याप्रमाणः (बहु०) २०२
भिक्षाचरः (उपपद०) १४९
भीतशत्रुः (बहु०) १९१
भुवनविदितः (स. त.) ९६
भुवनहितम् (च. त.) ७५
भूजानिः (बहु०) १९९
भूतपूर्वः (सुप्सुपा) १२
भूतबलिः (च. त.) ७५
भूदेवः (स. त.) ९७
भूपतिः (ष. त.) ८३
भूभर्त्ता (ष. त.) ८४

भोगोपरतः (प. त.) ७७, ९६
भोजनपरिवेषकः (ष. त.) ८४
भ्रातरौ (एकशेष०) २४०

[म]

मत्तबहुमातङ्गम् (बहु०) १८६
मत्तेभः (कर्म०) ११५
मदर्थम् (च. त.) ७४
मदान्धः (तृ. त.) ९६
मधुपिपासुः (द्वि. त.) ६३
मध्येगङ्गम् (अव्ययी०) ४४
मनःस्थितिः (ष. त.) ८२
मनोऽवस्था (ष. त.) ८३
मनोविकारः (ष. त.) ८२
मन्दराद्रिः (कर्म०) ११६
मयूरीकुक्कुटौ (द्वन्द्व) १६९
महाधुरम् (बहु०) २४८
महाधुरा (कर्म०) २४८
महापथः (कर्म०) २४९
महाबाहुः (बहु०) १९२
महायशाः (बहु०) २२६
महायशस्कः (बहु०) २२६
महाराजः (कर्म०) १६३
महावृक्षः (कर्म०) ११४
मातापितरौ (द्वन्द्व) २३८, २३९
मातृसदृशः (तृ. त.) ७०
मार्दङ्गिकवैणविकम् (द्वन्द्व) २४१
मार्दङ्गिकाश्वारोहौ (द्वन्द्व) २४२
माषविकलम् (तृ. त.) ७०
माषोनम् (तृ. त.) ७०
मासदेयम् (स. त.) ९३
मासपूर्वः (तृ. त.) ७०
मासावरः (तृ. त.) ७१
मांस्पचनम् (ष. त.) २५७
मांस्पाकः (ष. त.) २५७
मूलविभुजः (उपपद०) १४९
मृगचपला (उप. त.) ११९

[य]

यकृन्मेदः (द्वन्द्व) २४४
यक्षबलिः (च. त.) ७५
यथाकामम् (अव्ययी०) ३५
यथाकालम् (अव्ययी०) ३५
यथाकुलम् (अव्ययी०) ३५
यथाचौरम् (अव्ययी०) ३४
यथापण्डितम् (अव्ययी०) ३४
यथापराधम् (अव्ययी०) ३५
यथापूर्वम् (अव्ययी०) ३५
यथाबुद्धि (अव्ययी०) ३५
यथामति (अव्ययी०) ३५
यथामर्यादम् (अव्ययी०) ३५
यथारुचि (अव्ययी०) ३५
यथाविधि (अव्ययी०) ३५
यथावृद्धम् (अव्ययी०) ३४
यथाशक्ति (अव्ययी०) ३५
यथोचितम् (अव्ययी०) ३५
यथोपदिष्टम् (अव्ययी०) ३४
यशस्करी (उपपद०) १४८
यशोऽभिलाषः (ष. त.) ८३
यावच्छ्लोकम् (अव्ययी०) ४६
यावदमत्रम् (अव्ययी०) ४६
यावद्गोपि (अव्ययी०) ३४
यावद्भक्तम् (अव्ययी०) ३४
युक्तयोगः (बहु०) २२५
युधिष्ठिरः (स. त.) १८९
युधिष्ठिरार्जुनौ (द्वन्द्व) २३८
युवजानिः (बहु०) १९९
युवतिदुहितृकः (बहु०) २०२
युवतिपञ्चमाः (बहु०) २५६
यूपदारु (च. त.) ७२
योगयुक्तः (तृ. त.) २२५

[र]

रक्तमुखः (बहु०) १९३
रक्तोत्पलम् (कर्म०) ११४
रणधुरा (ष. त.) २४८
रथिकाश्वारोहम् (द्वन्द्व) २४२
रमाजानिः (बहु०) १९९
रम्यपथः (बहु०) २४८
रससिद्धः (स. त.) ९२
राजदन्तः (ष. त.) २३४
राजधानी (ष. त.) ८२
राजधुरा (ष. त.) २४८
राजपथः (ष. त.) २४९
राजपरिचारकः (ष. त.) ८४
राजपुरुषः (ष. त.) ८२
राजयुध्वा (उपपद०) १४९
राजसखः (ष. त.) १६४
राष्ट्रहितम् (च. त.) ७५
रूपवद्भार्यः (बहु०) १९९
रोगिचर्या (ष. त.) ८२

(ल)

लम्बकर्णः (बहु०) १९३
ललाटपुरम् (ष. त.) २४७
लीलाम्बुजम् (ष. त.) ७३
लोहितगङ्गम् (अव्ययी०) ४६
लोहितशालिः (कर्म०) ११५
लोहिताक्षी (बहु०) २०८

[व]

वचःप्रयोगः (ष. त.) ८३
वनेकिंशुकाः (स. त.) १८९
वनेहरिद्रकाः (स. त.) १८९
वन्येतरः (प. त.) ७७
वशंवदः (उपपद०) १४९
वसनार्थः (तृ. त.) ६६
वाक्कलहः (तृ. त.) ७०
वाक्चपलः (स. त.) ९१
वाक्त्वचम् (द्वन्द्व) २४३
वाक्त्विषम् (द्वन्द्व) २४३
वाक्विप्रुषम् (द्वन्द्व) २४४
वागर्थाविव (सुप्सुपा) १४
वाङ्निपुणः (तृ. त.) ७०
वाजिधुरा (ष. त.) २५४
वामेतरः (प. त.) ९६
वामोरूभार्यः (बहु०) २००
वासगृहम् (प. त.) ७३
वासभवनम् (ष. त.) ७३, ८३
वासुदेवार्जुनौ (द्वन्द्व) २३८
विकाकुत् (बहु०) २१५
विगतकाकुदः (बहु०) २१५
विदितभक्तिः (बहु०) २०३
विदितसकलवेदितव्यः (बहु०) १९३
विदूरादागतः (प. त.) ८०
विदेशः (प्रादि०) १३४
विद्यारहितः (तृ. त.) ६८
विद्वज्जनः (कर्म०) ११४
विधवा (बहु०) १९४
विन्ध्याद्रिः (कर्म०) ११६
विपक्षः (प्रादि०) १३४
विपथः (प्रादि०) २५४
विप्रकृष्टादागतः (प. त.) ८०
विबुधसखः (ष. त.) १६५
विमलाक्षी (बहु०) २०८
विमलापम् (बहु०) २४७
विमाता (प्रादि०) १३५
विरूपाक्षम् (बहु०) २०८
विरूपाक्षः (बहु०) २०८
विशालनेत्रः (बहु०) १९२
विशालपथम् (बहु०) २४९
विशालोरस्कः (बहु०) २१९
विशेषविद्वान् (द्वि. त.) ९५
विष्णुपुरम् (ष. त.) २४७

विश्रामस्थली (ष. त.) ७३
विस्पष्टकटुकम् (सुप्सुपा) १४
विहस्तः (बहु०) १९५
वीणादुन्दुभिशङ्खाः (द्वन्द्व) २३८
वीणामण्डितकरा (बहु०) १९३
वीणाशङ्खदुन्दुभयः (द्वन्द्व) २३८
वीरपुरुषकः (बहु०) १९२
वृकभीतः (प. त.) ७७
वृकभीतिः (प. त.) ७७
वृकभीः (प. त.) ७७
वृकहतः (तृ. त.) ६८
वृत्तिसमवायः (च. त.) ९६
वृद्धजानिः (बहु०) १९९, २००
वृद्धव्याघ्रः (कर्म०) ११४
वृद्धिगुणौ (द्वन्द्व) २३४
वृषस्कन्धः (बहु०) २०६
वेदविद्वान् (द्वि. त.) ९५
वेधोरचना (ष. त.) ८२
वैदेहीभर्त्ता (ष.त.) ८४
व्यर्थम् (प्रादि०) १४०
व्यवहारश्लक्ष्णः (तृ. त.) ७१
व्याघ्रपात् (बहु०) २१२
व्याघ्री (उपपद०) १५१
व्यापारपटुः (स. त.) ९१
व्यूढोरस्कः (बहु०) २१८

[श]

शङ्कुलाखण्डः (तृ. त.) ६५
शङ्खपाण्डरः (उप. त.) ११८
शङ्खवीणादुन्दुभयः (द्वन्द्व) २३८
शङ्खदुन्दुभिवीणाः (द्वन्द्व) २३८
शतांशः (त०) ११६
शनैर्गङ्गम् (अव्ययी०) ४६
शब्दसंज्ञा (स. त.) ९७
शब्दार्थौ (द्वन्द्व) २३४
शमीदृषदम् (द्वन्द्व) २४३
शयनपर्यङ्कः (ष. त.) ७३
शरचापम् (द्वन्द्व) २३८
शरजन्मा (बहु०) १८७
शलाकाकाणः (तृ. त.) ६५
शस्त्रीश्यामा (उप. त.) ११९
शाकपार्थिवः (शाक. त.) ११९
शाकप्रति (अव्ययी०) ४५
शाखामृगः (शाक. त.) १२१
शास्त्रपण्डितः (ष. त.) ९१
शिरीषमृद्वी (उप. त.) ११९
शिरोग्रीवम् (द्वन्द्व) २४१
शिवकेशवौ (द्वन्द्व) २३७
शिंशपावृक्षः (कर्म०) ११६
शीतापम् (बहु०) २४७
शुक्लीकृताः (गति. स.) १३१
शुक्लीकृत्य (गति. स.) १३१
शुक्लीभूय (गति. स.) १३१
शुद्धापम् (बहु०) २४७
शूद्रराजः (ष. त.) २५३
श्रीपुरम् (ष. त.) २४७
श्लक्ष्णचूडः (बहु०) १९९
श्वशुरौ (एकशेष०) २४०
श्वेतकूर्चकः (बहु०) १९३

[ष]

षड्भागः (त०) ११६
षाण्मातुरः (द्विगु) १०५

[स]

सकर्मकः (बहु०) २०४
सकलकलाः (कर्म०) ११४
सक्षत्त्रम् (अव्ययी०) ४०
सखिपथः (ष.त.) २४८
सखिसुतौ (द्वन्द्व) २३६
सचक्रम् (अव्ययी०) ३७
सजूःकृत्य (गति. स.) १३०
सतद्धितम् (अव्ययी०) ४२

सतृणम् (अव्ययी०) ४०
सत्पुरुषाः (कर्म०) ११४
सत्यगुः (बहु०) २५३
सत्यप्रति (अव्ययी०) ४५
सन्तप्तायः (कर्म०) ११४
सपक्षकः (बहु०) २०४
सपुत्रः (बहु०) २०३
सप्तगङ्गम् (अव्ययी०) ४४
सप्तगोदावरम् (अव्ययी०) ४४
सप्तर्चम् (बहु०) २४७
सबुसम् (अव्ययी०) ४०
सब्रह्म (अव्ययी०) ४०
समक्षम् (अव्ययी०) ५१
समक्षम् (प्रादि०) १४०
समर्थम् (प्रादि०) १४०
समिद्दृषदम् (द्वन्द्व) २४४
सम्पन्नशालिकः (बहु०) २१९
सरसिजम् (उपपद०) १४९
सराजम् (अव्ययी०) ५३
सर्वरात्रः (कर्म०) १५९
सर्वशैलाः (कर्म) ११४
सर्वादयः (बहु०) १९३
सलेशम् (अव्ययी०) ४०
सलोमकः (बहु०) २०६
सविधादागतः (प. त.) ८०
सवृत्तम् (अव्ययी०) ४०
ससखि (अव्ययी०) ३९
सहपुत्रः (बहु०) २०३
सहरि (अव्ययी०) ३५
सहस्रार्जुनः (शाक. त.) १२०
संख्यातरात्रः (कर्म०) १६०
संगीतप्रवीणः (स. त.) ९१
संज्ञापरिभाषम् (द्वन्द्व) २३३
संज्ञाप्रमाणत्वात् (प. त.) ८४
संवत्सरदेयम् (स. त.) ९३
संवर्मा (प्रादि०) १४०
संस्कृताध्यापकः (ष. त.) ८४
साग्नि (अव्ययी०) ४१
सिताम्भोजम् (कर्म०) ११४
सिंहपात् (बहु०) २१२
सिंहासनम् (शाक. त.) १२१
सुखप्रति (अव्ययी०) ४५
सुखप्राप्तः (द्वि. त.) ६३
सुखेच्छुः (द्वि. त.) ६३
सुखेप्सुः (द्वि. त.) ६३
सुखापेतः (प. त.) ८०
सुगौः (प्रादि०) २५२
सुतसखायौ (द्वन्द्व) २३६
सुधाकरमनोहरम् (उप. त.) ११८
सुधाधवलम् (तृ. त.) ६५
सुन्दरभार्यः (बहु०) १९९
सुन्दरीपञ्चमाः (बहु०) २०१
सुपथा (प्रादि०) २५४
सुपदी (बहु०) २१४
सुपात् (बहु०) २१४
सुपुरुषः (प्रादि०) १३२
सुभाषितम् (प्रादि०) १३३
सुभिक्षम् (अव्ययी०) ३९
सुमद्रम् (अव्ययी०) ३८
सुमद्राः (प्रादि०) ३९
सुराजा (प्रादि०) १३३
सुहृत् (बहु०) २१७
सुहृदयः (बहु०) २१७
सूक्तिः (प्रादि०) १३३
सूत्रकारः (उपपद०) १४८
सूपप्रति (अव्ययी०) ४५
सोमयाजी (उपपद०) १४८
स्तोकान्मुक्तः (प. त.) ७९
स्त्रीधूर्तः (स. त.) ९१

स्त्रीप्रमाणः (बहु०) २०१
स्थलपथः (ष. त.) २४६
स्थालीपक्वः (स. त.) ६२
स्थिरभक्तिः (बहु०) २०३
स्थूलाक्षा (बहु०) २०८
स्वक्षः (बहु०) २५२
स्वभ्यासम् (अव्ययी०) २६
स्वर्गपतितः (प. त.) ८१
स्वामिसेवा (ष. त.) ८२
स्रुक्त्वचम् (द्वन्द्व) २४४

[ह]

हरिगुरुहराः (द्वन्द्व) २३६
हरिणाक्षी (बहु०) २०६
हरितीकृताः (गति. स.) १३१
हरित्रातः (तृ. त.) ६७
हरिहरगुरवः (द्वन्द्व) २३६
हरिहरौ (द्वन्द्व) २३६
हस्तिपादः (बहु०) २१२
हस्त्यश्वम् (द्वन्द्व) २४२
हस्त्यश्वाः (द्वन्द्व) २४२
हंसगद्गदा (उप. त.) ११६
हंसगमना (उप. त.) २०६
हंसौ (एकशेष०) २४०
हारधवला (उप. त.) ११६
हिताशंसुः (द्वि. त.) ६३
हिरण्यार्थः (तृ. त.) ६६
हेमन्तशिशिरवसन्ताः (द्वन्द्व) २३८
हेमरुचिरा (उप. त.) ११६
होतापोतारौ (द्वन्द्व) २३६

——:०:——

[५] परिशिष्टे—विशेष-द्रष्टव्य-स्थलतालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कुछ द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

समास का अर्थ तथा महत्त्व १, २
समास के भेद तथा प्रधानांश ३-५
केवलसमास का नामकरण ३
प्राचीन नाम सुप्सुपासमास ३
पदविधि का समर्थाश्रितत्व ६
सामर्थ्य का द्विविधत्व ७
व्यपेक्षा और एकार्थीभाव ७
नित्यसापेक्ष सम्बन्धिशब्द ७
प्राक्कडारात्० में प्राग्ग्रहण ८
वृत्ति और उस के भेद १०-११
विग्रह का द्विविधत्व ११
'सह सुँपा' का योगविभाग १२-१३
सुँप्सुँपा० में पूर्वनिपात १४
इवेन समासो० का अनित्यत्व १५
समास में ध्यातव्य कुछ बातें १५
अव्ययीभाव का नामकरण १७
नित्यसमासों का विग्रह १६
विभक्त्यर्थ में प्राचीन विग्रह १६
उक्त होने पर भी पुनः सप्तमी २२
विभक्त्यर्थ में अन्य उदाहरण २२
'उपकृष्ण' की रूपमाला २७
अव्ययी० में ध्यातव्य तीन बातें २७
ग्रामं समया—समास नहीं २७
व्यृद्धि और अर्थाभाव में अन्तर २८
अतीतं हिमम्—विग्रह अयुक्त ३०
अर्थाभाव और अत्यय में भेद ३१
'पश्चात्' का समास नहीं ३३
'ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण' में तृतीया क्यों? ३७

'अनतिक्रम्य' में क्त्वा पर विचार ३५
सम्पत्ति और समृद्धि में भेद ३६
सादृश्य का पुनरुल्लेख ३८
अव्ययी० पर नागेशमत ३८
सतृणमत्ति—विशेष टिप्पण ४१
'साकल्य' और 'अन्त' में भेद ४२
द्विगुद्वारा 'पञ्चगङ्गम्' में दोष ४४
अव्ययीभाव के सात अन्य सूत्र ४४, ४७
'तद्धिताः' में बहुवचननिर्देश ४७
तद्धितसंज्ञा अन्वर्थ है ४८
समासान्त मानने के प्रयोजन ४६
शरत्प्रभृति के दो गणसूत्र ५०, ५१
अव्ययीभावसमासान्तों का सार ५६
अव्ययीभाव में अशुद्धि-शोधन ५८
'तत्पुरुष' की अन्वर्थता ६०
द्विगु को तत्पुरुष मानने का फल ६०
बहुव्रीहि से 'कष्टश्रितः' न बनेगा ६२
द्वि. त. के अनेक उदाहरण ६३
'गुणवचन' से अभिप्रेत ६४
'कर्तृकरणे' में प्रथमाद्विवचन ६७
समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ६६
तृ. त. का विधायक अन्यसूत्र ७०
'तदर्थे' से अभिप्राय ७२
'अश्वघासः' आदि का समास ७३
'स्तोकान्मुक्तः' समास का फल ८०
परःशताः, परःसहस्राः—अशुद्ध ८१
ष. त. के पच्चीस उदाहरण ८३
ष. त. से सम्बद्ध सात सूत्र ८३, ८५
'अर्थगौरवम्' में समास कैसे ? ८४
पूर्वं कायस्य—में षष्ठी क्यों ? ८६
पूर्वं कायस्य—में क्लीबत्व क्यों ? ८६
अर्धं नपुंसकम्—प्रत्याख्यान ९०
स. त. के तेरह उदाहरण ९१, ९२
स. त. के विधायक छः सूत्र ९२, ९४
योगविभागों के २६ उदाहरण ९५, ९७
योगविभाग के कार्य सुँप्सुँपा से ९७
व्यधिकरणतत्पुरुष ९९
समानाधिकरणतत्पुरुष ९९
नहि वाक्येन संज्ञावगम्यते १००
पूर्वसूत्रम् आदि में समास १०१
'त्रिलोकनाथः' की उपपत्ति १०१
तद्धितार्थ० पर कोष्ठक १११
द्विगु पर विशेष वक्तव्य १११
कर्मधारयविग्रह के प्रकार ११३
कर्मधारय के २० उदाहरण ११४
शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी ११५
पूरणार्थकों की प्रतीति ११६
उपमानपूर्व के १५ उदाहरण ११९
शाकपा० के १८ उदाहरण १२०
अनाहूय आदि में ल्यप् १२४
अर्थाभाव में दोनों समास १२४
'न' का सुँप्सुँपासमास १२५
नञ्त. की उत्तरपदप्रधानता १२६
नञ् के छः अर्थ १२६
कुतत्पुरुष के २० उदाहरण १२८
प्रादित. के विग्रह में मतभेद १३४
प्रादित. के चौदह उदाहरण १३४
अत्यादि० में आदि पर टिप्पण १३५
अत्यादि० के १६ उदाहरण १४०
अवादि के १० उदाहरण १४०
निरादि० के ११ उदाहरण १४२
उपपदसंज्ञा की अन्वर्थता १४६
तत्रोप० में 'तत्र' का प्रयोजन १४७
उपपद० के १५ उदाहरण १४८
'मा भवान् भूत्' का विवेचन १४९
अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्—समीक्षा १५६
शाकपार्थिवादिद्वारा भी 'द्वादश' १६६
प्राप्तापन्ने० में अन्तादेश का फल १७४
'अलंकुमारिः' में समासविधि १७५
'सामान्ये नपुंसकम्'—विवेचन १७८

क्रियाविशेषणों की व्याख्या	१८०	'च' के चार अर्थ	२३१
दो पदों में ही तत्पुरुष	१८२	इतरेतर और समाहार	२३२
बहुव्रीहि की अन्वर्थता	१८५	समाहारद्वन्द्व के नानाविग्रह	२३३
बहु० का विग्रह, नाना प्रकार	१८५	धर्मादिष्वनियमः—विवेचन	२३४
व्यधिकरणबहुव्रीहि०	१८७	राजदन्तः—अर्थविशेष	२३४
व्यधि० बहु० के नौ उदाहरण	१८७	घि की अनेकता में पूर्वनिपात	२३६
पीताम्बरः—विग्रह पर टिप्पण	१९१	घि-अजाद्यन्त का विप्रतिषेध	२३७
प्रादिभ्यो०—१४ उदाहरण	१९५	अनेक अल्पाचों में व्यवस्था	२३८
नञ्बहु० के सात उदाहरण	१९६	द्वन्द्व के पूर्वनिपात पर वार्त्तिकें	२३८
प्रियादिगण (पद्यबद्ध)	२०३	पूर्वनिपातविधान अनित्य	२३८
बहुव्रीहिविधान के चार सूत्र	२०३	एकशेष के चार सूत्र	२४०
सङ्ख्येयवाचक संज्ञाएं	२०४	अनृच-बह्वृच का अर्थ	२४७
हस्त्यादिगण	२११	गवाक्षः में अवङ् की नित्यता	२४९
'अमित्रः' में परवल्लिङ्गता नहीं	११६	उपसर्गादध्वनः—में उपसर्ग	२५०
उरःप्रभृतिगण (पद्यबद्ध)	२१८	न पूजनात्—बहुव्रीहि में नहीं	२५२
गण में कहीं प्रथमैकवचन क्यों?	२१९	समासान्तों में अशुद्धिशोधन	२५३
कस्कादिगण	२२३	स्मरणीयपद्यतालिका	२५७
'निष्ठा' सूत्र की उपयोगिता	२२५	उदाहरणों की वर्णानुक्रमणी	२६३
बहुव्रीहि में अशुद्धिशोधन	२२८		

——:०:——

[६] परिशिष्टे—अष्टाध्यायीसूत्रपाठे समासप्रकरणम्

[व्युत्पन्नविद्यार्थियों की सुविधा के लिये यहां अष्टाध्यायीसूत्रपाठस्थ समास-विधायक सकल सूत्रों का पाठ दे रहे हैं। इन में जो सूत्र लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के मूल में पढ़े गये हैं उन्हें मोटे टाइप में तथा अन्यों को बारीक टाइप में दिया गया है। विद्यार्थी यदि इन समस्त सूत्रों को अष्टाध्यायी के क्रम से कण्ठस्थ कर लें तो समास-प्रकरण को समझने में उन्हें सदा के लिये सुविधा रहेगी।]

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः। द्वितीयेऽध्याये प्रथमः पादः।

१. **समर्थः पदविधिः**। २. सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे। ३. **प्राक् कडारात् समासः**। ४. **सह सुँपा**। ५. **अव्ययीभावः**। ६. **अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु**। ७. यथाऽसादृश्ये। ८. यावदवधारणे। ९. सुँप् प्रतिना मात्रार्थे। १०. अक्षशलाका-संख्याः परिणा। ११. विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या। १२. आङ् मर्यादाभि-विध्योः। १३. लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये। १४. अनुर्यत्समया। १५. यस्य चायामः। १६. तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। १७. पारे मध्ये षष्ठ्या वा। १८. संख्या वंश्येन। १९.

नदीभिश्च । २०. अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् । २१. **तत्पुरुषः** । २२. **द्विगुश्च** । २३. **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** । २४. स्वयं क्तेन । २५. खट्वा क्षेपे । २६. सामि । २७. कालाः । २८. अत्यन्तसंयोगे च । २९. **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** । ३०. पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः । ३१. **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** । ३२. कृत्यैरधिकार्थवचने । ३३. अन्नेन व्यञ्जनम् । ३४ भक्ष्येण मिश्रीकरणम् । ३५. **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** । ३६. **पञ्चमी भयेन** । ३७. अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः । ३८. **स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन** । ३९. **सप्तमी शौण्डैः** । ४०. सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च । ४१. ध्वाङ्क्षेण क्षेपे । ४२. कृत्यैर्ऋणे । ४३. संज्ञायाम् । ४४. क्तेनाहोरात्रावयवाः । ४५. तत्र । ४६. क्षेपे । ४७. पात्रेसमितादयश्च । ४८. पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन । ४९. **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** । ५०. **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** । ५१. **संख्यापूर्वो द्विगुः** । ५२. कुत्सितानि कुत्सनैः । ५३. पापाणके कुत्सितैः । ५४. **उपमानानि सामान्यवचनैः** । ५५. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । ५६. **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** । ५७. पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च । ५८. श्रेण्यादयः कृतादिभिः । ५९. क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् । ६०. सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः । ६१. वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् । ६२. कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने । ६३. किं क्षेपे । ६४. पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः । ६५. प्रशंसावचनैश्च । ६६. युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः । ६७. कृत्यतुल्याख्या अजात्या । ६८. वर्णो वर्णेन । ६९. कुमारः श्रमणादिभिः । ७०. चतुष्पादो गर्भिण्या । ७१. मयूरव्यंसकादयश्च ।

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः । द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

१. **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** । २. **अर्धं नपुंसकम्** । ३. द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् । ४. **प्राप्तापन्ने च द्वितीयया** । ५. कालाः परिमाणिना । ६. **नञ्** । ७. ईषदकृता । ८. **षष्ठी** । ९. याजकादिभिश्च । १०. न निर्धारणे । ११. पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन । १२. क्तेन च पूजायाम् । १३. अधिकरणवाचिना च । १४. कर्मणि च । १५. तृजकाभ्यां कर्तरि । १६. कर्तरि च । १७. नित्यं क्रीडाजीविकयोः । १८. **कुगतिप्रादयः** । १९. **उपपदमतिङ्** । २०. अमैवाव्ययेन । २१. तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् । २२. क्त्वा च । २३. **शेषो बहुव्रीहिः** । २४. **अनेकमन्यपदार्थे** । २५. संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये । २६. दिङ्नामान्यन्तराले । २७. तत्र तेनेदमिति सरूपे । २८. तेन सहेति तुल्ययोगे । २९. **चार्थे द्वन्द्वः** । ३०. **उपसर्जनं पूर्वम्** । ३१. **राजदन्तादिषु परम्** । ३२. **द्वन्द्वे घि** । ३३. **अजाद्यदन्तम्** । ३४. **अल्पाच्तरम्** । ३५. **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** । ३६. **निष्ठा** । ३७. वाहिताग्न्यादिषु । ३८. कडाराः कर्मधारये ।

[७] परिशिष्टे—समासप्रकरणगतसमासान्ततालिका

[इस ग्रन्थ के मूल तथा व्याख्या में वर्णित **समासान्तप्रत्यय** तथा उन के विधायकसूत्र उदाहरणों सहित यहां संकलित किये गये हैं ।]

प्रत्यय	समास	समासान्तविधायकसूत्र तथा उस के उदाहरण
अ	सब समास	**ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९६३) । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापम् ।
अच्	अव्ययी०	**गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि**(काशिका)। सप्तगोदावरम् ।
	तत्पुरुष	**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** (९५५) । द्व्यङ्गुलम् । निरङ्गुलम् ।
		अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (९५६) । अहोरात्रः । सर्वरात्रः ।
	बहुव्रीहि	**त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते** (वा०) । त्रिचतुराः । उपचतुराः ।।
	सब समास	**अक्ष्णोऽदर्शनात्** (९९४) । गवाक्षः ।
		उपसर्गादध्वनः (९९५) । प्राध्वः । निरध्वः ।
अनँङ्	बहुव्रीहि	**धनुषश्च** (५.४.१३२) । अधिज्यधन्वा । पुष्पधन्वा ।
अप्	बहुव्रीहि	**अप्पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) । कल्याणीपञ्चमाः । स्त्रीप्रमाणः ।
		अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः (९७३) । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः ।
कप्	बहुव्रीहि	**उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) । व्यूढोरस्कः ।
		शेषाद्विभाषा (९८४) । महायशस्कः । महायशाः ।
		नद्यृतश्च (५.४.१५३) । बहुकर्तृकः । युवतिदुहितृकः ।
टच्	अव्ययी०	**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) । उपशरदम् । उपजरसम् ।
		अनश्च (९१८) । उपराजम् । अध्यात्मम् ।
		नपुंसकादन्यतरस्याम् (९२०) । उपचर्मम् । उपचर्म ।
		झयः (९२१) । उपसमिधम् । उपसमित् ।
		नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः (५.४.११०) । उपनदम् । उपनदि ।
		गिरेश्च सेनकस्य (५.४.११२) । अन्तर्गिरम्, अन्तर्गिरि ।
	तत्पुरुष	**गोरतद्धितलुकि** (९३९) । पञ्चगवधनः । परमगवः । उत्तमगवः ।
		राजाहःसखिभ्यष्टच् (९५८) । परमराजः । महाराजः ।
	द्वन्द्व	**द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे** (९९२) । वाक्त्वचम् । शमीदृषदम् ।
डच्	बहुव्रीहि	**बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३) । द्वित्राः । पञ्चषाः ।
ष	बहुव्रीहि	**द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ।
षच्	बहुव्रीहि	**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्** (९७१) । दीर्घसक्थः । जलजाक्षी ।
(लोप)	बहुव्रीहि	**पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) । व्याघ्रपात् ।
		संख्यासुपूर्वस्य (९७५) । द्विपात् । सुपात् ।
		उद्विभ्यां काकुदस्य (९७६) । उत्काकुत् । विकाकुत् ।
		पूर्णाद्विभाषा (९७७) । पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

इति परिशिष्टानि

भैमी प्रकाशन

देश-विदेश के सैंकड़ों विद्वानों द्वारा प्रशंसित, संस्कृत व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् श्रीयुत वैद्य भीमसेन शास्त्री द्वारा लिखित उच्चकोटि के अनमोल संग्रहणीय व्याकरण ग्रन्थों की सूची

2007

१. **लघुसिद्धान्तकौमुदी-भैमीव्याख्या** (*प्रथम भाग,* **पञ्चसन्धि, षड्लिङ्ग, अव्ययप्रकरण**)
२. ,, ,, (*द्वितीय भाग,* **दशगणी एवम् एकादश प्रक्रिया**)
३. ,, ,, (*तृतीय भाग,* **कृदन्त एवं कारकप्रकरण**)
४. ,, ,, (*चतुर्थ भाग,* **समासप्रकरण**)
५. ,, ,, (*पञ्चम भाग,* **तद्धितप्रकरण**)
६. ,, ,, (*षष्ठ भाग,* **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण**)
७. **अव्ययप्रकरणम्** (लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या का **अव्ययप्रकरण**)
८. **वैयाकरणभूषणसार-भैमीभाष्योपेत** (**धात्वर्थनिर्णयान्त**)
९. **न्यास-पर्यालोचन** (काशिका की व्याख्या **न्यास** पर शोधप्रबन्ध)
१०. **बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन**
११. **प्रत्याहार सूत्रों का निर्माता कौन ?**

भैमी प्रकाशन

537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-110006

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2007

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग) 300/-

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था ।** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग) 400/-

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग) 300/-

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग) 300/-

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वत: सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग) 300/-

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग) 150/-

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत: प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुत: इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम्

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पाच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त) 200/-

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्राय: सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अत: छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे--वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुत: व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छ: प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन 300/-

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है। यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है। जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है। यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है। इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है। इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं। चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है। इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है। पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है। व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है। सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन 25/- रु०

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया। यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?   25/-

शोधपूर्ण इस निबंन्ध में 'अइउण्' आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं। ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**—इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है। **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके।